श्री
गी
ता

ज्ञा
ने
श्व
री

।। श्री ज्ञानेश्वरो विजयते ।।

# श्री ज्ञानेश्वरी सुबोधिनी

चतुर्थ अध्याय

# कर्मब्रह्मार्पणयोग

डॉ. गोविंद रामचंद्र उपळाईकर

श्री गीता ज्ञानेश्वरी

# श्री ज्ञानेश्वरी–सुबोधिनी

चतुर्थ अध्याय

## क र्म ब्र ह्मा र्प ण यो ग

अनुवादक :
श्री म. दा. बरसावडे
एम्. ए.
फ ल ट ण

डॉ. गोविंद रामचंद्र उपळाईकर
फलटण.

मुद्रक :

श्री कृपा मुद्रणालय

३-४-३०६ लिंगमपल्ली, हैदराबाद-२७

चैत्र शुद्ध प्रतिपदा

गुढी पाडवा शके १८९५
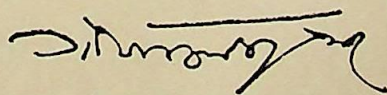
दि. ४ एप्रील १९७३

प्रकाशक :

डॉ. गोविंद रामचंद्र उपळाईकर

फलटण जि. सातारा

श्री जगज्जीवन
ज्ञानेश्वर माऊली के
चरण-कमलों में
सविनय
समर्पित

# कुछ अपनी बात........ ।

**"आमुते कीर प्रसवली । तुझी कृपा ॥"**

श्री ज्ञानेश्वरी–सुबोधिनी के चतुर्थ अध्याय का यह हिन्दी–अनुवाद पाठकों की सेवा में उपस्थित करते हुए मुझे परम संतोष है। 'सुबोधिनी' यों तो बहुतही विस्तृत टीका है। इस अध्याय के अन्तर्गत ज्ञान, भक्ति तथा कर्म के संदर्भ में यत्र तत्र विस्तृत भाष्य किया गया है, और भाव सौंदर्य भी मुखर किया गया है। यहाँ गहराई में पैठकर जो अमूल्य ज्ञानरत्न ढूँढ़ा है वह सचमुच अनोखा और प्रभावकारी है। 'सुबोधिनी' के लेखक पू० गोविन्द महाराज के विचार अनूदित करने का यह प्रयास मेरी दृष्टि में एक प्रकार सेवा है। सन्तों की भाषा ठीक तरह समझाने के लिए संतोकी ही आवश्यकता है। श्री ज्ञानदेवजी के विचारों की तहतक पहुँचकर पू० गोविन्द महाराज ने 'सुबोधिनी' के रूपमें एक महान् संकल्प साकार किया है।

**"गहना कर्मणो गतिः ।"**

कर्म की गति सचमुच विलक्षण तथा गहन है। इस संबंधमें यहाँ स्पष्ट किया गया है कि कोई भी कर्मसे मुक्त नहीं। जब तक आखिरी साँस है तब तक कर्म किये बिना हम

रह नहीं सकते । कर्मत्याग सर्वथा असंभव है किंतु कर्मफल त्याग संभवनीय है । फलाशा कर्मकी असली बंधकता है । जो कर्म फलों को त्याग देता है, कर्मका अभिनिवेश नहीं रखता वह कर्म करने पर भी बद्ध नहीं । निष्काम कर्मयोग स्वरूप-ज्ञान की साधना में विरोधी नहीं, किंतु सहायक है । स्वरूपदर्शन मनुष्य जीवन की चरम सफलता है । निष्काम कर्मयोग में निःसंग जीवन स्थित है, जहाँ स्वरूपज्ञान का आलोक मनुष्य की साधना को सफल बनाता है । यह सम्पूर्ण चराचर मानो ईश्वर की ही उपासना में लगा हुआ है । किंतु स्वरूपज्ञान न होनेकी वजह यहाँ बुद्धिभेद है । ज्ञान का खड्ग सारे बन्धनों से अतीत होकर उस पार लक्ष्यवेध कर सकेगा । अतः ज्ञान की बराबरी किसीसे नहीं होगी ।

**" न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते । "**

ज्ञानकी महत्ता वर्णन करते समय श्री ज्ञानदेवजी सचमुच उत्साहित-से होते हैं । ज्ञान सर्वथा अतुलनीय है । क्या अमृत की माधुरी अन्य किसी के पास हो सकती है ? ज्ञान केवल एक ही है, एकमेवाद्वितीयम् है । जब उसकी अन्तर में अभिव्यक्ति हो जाती है तब शांति अंकुरित होती है, प्रसन्नता प्रसन्न होती है, सौंदर्य साकार हो जाता है । 'सत्यं शिवं सुंदरम् ।' का साक्षात्कार सर्वत्र सदैव अनुभव किया जाता है । जहाँ विचारों को प्रवेश नहीं, किसी भी प्रकार का कार्य-कारण संबंध जहाँ रह नहीं सकता, द्वैत तथा द्वंद्व आदि के दोषोंसे जो सर्वथा अलिप्त है, ऐसे स्वरूप ज्ञान की साधना भी

सर्वविलक्षण है। जहाँ मन अमनीभाव को प्राप्त होता है, प्रवृत्ति पूर्णतया निवृत्त हो जाती है, शब्द सर्वथा मौन हो जाते हैं, विवेक तथा वैराग्य संपूर्ण रूपमें विद्यमान रहते हैं तब वह जो है, वह न देखनेपर भी अपने आप सहजही दिखाई देता है। ज्ञान तथा अज्ञान की पारंपरिक परिधी हट जाती है। यह परमात्मसुखनिधान अपनानेमें ही मनुष्य की चरम सफलता है। यह ज्ञानसूर्य सभी प्रकार के संशयोंके, दोषोंके तमान्ध:कार को नष्ट करने में समर्थ है।

**सत्संगस्तु दुर्लभः अमोघश्च ।**

विवेक तथा वैराग्य के सिवा सर्वविध साधनाअें संपन्न नहीं हो सकती। यथार्थ ज्ञानमें विवेक सहाय्यक है। अयथार्थ के प्रति विराग न हो तो आसक्ति हट नहीं सकती। सत्य में प्रीति होना विराग का परिणाम है। विषय वैतृष्ण्य निर्माण होना आसान नहीं। सारासारविवेक विराग की भूमि निर्माण करता है। भगवान् पतंजलि के योगसूत्र में विवेक तथा वैराग्य की महिमा विशेष रूपसे कही गयी है। एक ओर सत्य का ज्ञान है, विवेक है, दूसरी ओर असत्य के प्रति विराग है, अनासक्ति है। साधनाकाल में ये दोनों एक दूसरे के पोषक हैं। अंततः दोनों एकरूप से हो जाते हैं। जहाँ स्वरूप ज्ञान वहाँ विवेक है, विराग है। इन्हें पाने का अत्यन्त सुलभ तथा अमोघ उपाय है संत-संगति। सत्संग !! सज्जनों की संगति हमें सांसारिक मोहसे दूर रख सकती है। सत्संग विवेक तथा वैराग्य की वृद्धि करनेवाला है अतः वही ज्ञान की उपलब्धि

का प्रधान साधन है। उसके समान दूसरी साधना नहीं। ज्ञान प्राप्ति के लिए संतोंकी ही कृपा आवश्यक है। जो परमात्मज्ञान-चाहते हैं उन्हें तनु मन धनसे संतोंकी सेवा करनी चाहिए। श्री ज्ञानदेवजी कहते हैं -

तें ज्ञान पैं गा बरवें। जन्हि मनिं आथि जाणावें।
तन्हि संतातें भजावें। सर्वस्वेसीं ।। अ. ४ ओ. १६५।।

सत्संग निश्चित परिणामकारी है। वह सचमुच अमोघ है। 'अगर्वता करावें दास्य सकळ'। किसी भी प्रकार का अभिमान खोकर संतोंकी सेवा करनी चाहिए। फिर वह कभी व्यर्थ नहीं होगी।

**'येथें मोक्ष असे आइतां। श्रवणाचि माजि ।।'**

श्री ज्ञानेश्वरी की महिमा गाने की क्षमता मुझमें कदापि नहीं। श्रीगीता का गहन भावार्थ उसमें मुखर हुआ है। उसके तात्विक चिंतन में अनुभूति की गहराई है, कवित्व में रसिकता है, रसानुभूति में परतत्त्व-स्पर्श की क्षमता तथा भाव-विभावों के उत्कट आविष्कार में आनन्दसाम्राज्य की सत्ता निहित है। इस क्रांतिकारी ग्रन्थराज ने गत सात सौ सालोंसे ज्ञानकी परिधी आमजनता के लिए मुक्त की है। जो गहराई में पैठकर इसे अपनायेगा उसके लिए मोक्ष कहीं दूर नहीं। श्री ज्ञानदेवजी ने भी यही प्रतिज्ञा व्यक्त की है -

"श्रवणासवें सुमनां। समाधी जोडी।"

केवल अवधान दीजिए, फिर साधना सहज सफल है। उसके

लिए अन्य प्रयत्नोंकी, अन्य ग्रन्थों की आवश्यकता नहीं ।

इस चतुर्थ अध्याय को अनूदित करते समय मैं ने अननुभूत आनन्द को पाया है । फिर भी यह काम कठिन जरूर था । पू० गोविन्द महाराज की कृपा के कारण ही इसे पार कर सका । आपके लेखन में गहरी व्यंजना है, शब्द अर्थ की भी तहतक पहुँचते हैं । फिर शब्द शब्द नहीं रहते । रहती है केवल अनुभूति । ऐसे सिद्ध वाक्योंको, परतत्त्व से स्पर्श करनेवाले शब्दोंको स्पष्ट करने का प्रयास मैं क्या कर सकता ? जो कुछ कर सका उस संबंध में मौन ही उत्तम !!

## " गुणी गुणरागी च ।"

सर्वश्री डॉ. रामनारायणजी करवा, रामदासजी दाणी, बापूनराव जाधव (फलटण), प्रा. वसन्तराव जोशी (सोलापूर), शिधये बन्धू, प्रा. गोविंदराव जोशी (पुणे) आदि सुहृदों का प्रोत्साहन मेरे लेखन में काफी सहायक हुआ है । सर्वश्री कृ. वि. देशपांडे, वा. मो. कोळेकर, बा. गं. गुर्जर, प्रा० प्र. न. दीक्षित, म. चिं. कान्हेरे, पं. रामसेवकदास आदि अध्यापकों का मार्गदर्शन मैं भूल नहीं सकता ।

गत सात साल मैं पवारवाडी के ज्योतिर्लिंग हायस्कूल में अध्यापन कार्य कर रहा हूँ । प्रशाला के चेअरमन मा० दि. ग. पवार, मुख्याध्यापक श्री. ज. त्र्यं. डोईफोडे, सहकारी अध्यापक तथा मेरे छात्रगण आदि सभीने मेरे इस लेखन के प्रति आस्था प्रकट की है ।

राजा त्र्यंबकराज बहादूर, रायरायान् (हैद्राबाद), जिनकी सक्रिय प्रेरणा से हिंदी अनुवाद प्रसिद्ध होने लगा है, उनकी याद किये बिना रह नहीं सकता। आपके दोहित्र श्रीमान सुरेन्द्र मल्हारराव जिन्सीवाले, यह सराहनीय कार्य कर रहे हैं। आप प्रशंसा के पात्र हैं। श्रीकृपा मुद्रणालय (हैद्राबाद) के श्रीमान यशवन्तराव जोशीजी ने मुद्रण कार्य पूर्ववत् सुचारु रूपसे किया है। इस प्रकाशन में लगाये चित्र फोटू एवं ब्लाक्स भाग्यनगर के श्री राजनबाबू, ए. एफ्. आय. ए. पी., ने सुचारु रूपसे तैयार कर दिए हैं जिसके लिए धन्यवाद।

मेरा परम सौभाग्य है कि श्री ज्ञानेश्वरी तथा पू० गोविंद महाराज की 'सुबोधिनी' की यह सेवा आपकी कृपासे हो रही है। मैं सभी के प्रति कृतज्ञ हूँ।

'**नील–प्रभा**',<br>
कसबा पेठ,<br>
फलटण (सातारा)<br>
२३–२–१९७३

**– म. दा. बरसावडे,**

डॉ. गोविंद रामचंद्र उपळाईकर-फलटण

श्री गणेशायनमः ।

वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम् ।
देवकी परमानंदं कृष्णं वंदे जगद्गुरुम् ।।
प्रपन्न पारिजाताय तोत्रवेत्रैंकपाणये ।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः ।।

।। हरिः ॐ । श्री गुरुभ्योनमः । श्री गोपालकृष्णायनमः ।।

# श्री ज्ञानेश्वरी-सुबोधिनी

## चतुर्थोऽध्यायः

। कर्मब्रह्मार्पणयोग ।

**आजि श्रवणेंद्रियां पिकले । जे येणें गीतानिधान देखिलें ।**
**आतां स्वप्नचि हे तुकलें । सांचासारिखें ।। १ ।।**

अर्थ :- आज श्रवणेंद्रियों का परम भाग्योदय है । उन्होंने श्री गीताका निधान देखा । स्वप्नही मानो सत्यके साथ तुला गया ।।

**व्याख्या :-**

समूचे जगत्का सौंदर्य जिसमें निहित है वह श्रीगीतातत्त्व वस्तुतः जीवनसे भी अधिक प्रिय रहा है। अहो ! महद्भाग्यम् ! स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण गीतारहस्य स्पष्ट कर रहे हैं। श्रीगीता का निधान श्रवणों को सुलभ हुआ। इन्द्रियों का यह परम सौभाग्य है कि वे उसका आस्वाद ग्रहण कर सकते हैं। जीवन सबको प्रिय है किन्तु जीवन में परतत्त्वका साक्षात्कारही श्रेय है। चाहे जीवन न्योछावर हो जाय परन्तु परतत्त्वसे वह जरूर स्पष्ट रहे। जीवनका सार, जीवितका मांगल्य, परमकल्याण का निधान तथा ज्ञानपूर्ण अमृतही यहाँ बाँटा जा रहा है। यह मंगल योग निःसंशय दुर्लभ है। अमृतत्त्व का यह रसपूर्ण अनुभव अन्यत्र कहाँ प्राप्त होगा ? स्वयं भगवान् श्रीकृष्णकी वाक्सुधा रसलीन होकर बह रही है। महामना अर्जुन श्रवणसुख अनुभव कर रहा है। यह नितांत आवश्यक है कि हम भी उस दिव्य प्रसंग का लाभ प्राप्त कर लें। मानो जीवितही यहाँ शब्दरूप हुआ है। अमृत के समान मधुर आम्रफल केवल रसरूप होकर आस्वादके लिये सिद्ध है। यहाँका वक्तव्य न केवल रसपूर्ण है, यहाँ श्रवणसुख भी रसलीन हो गया है। मोक्षश्री का सारा वैभव, शांतरस का महासुख यहाँ साकार होकर खडा है। श्रोताओं के सभी मनोरथ पूर्ण करनेवाली अत्यन्त दुर्लभ चीज यहाँ सबके लिये सिद्ध है। देवता-दर्शन का चरम सौभाग्य तथा सौख्य सुलभ है।

सरल हृदय अर्जुन वस्तुतः ज्ञान का सर्वश्रेष्ठ अधिकारी।

सांख्य योग का सुंदर विश्लेषण सुनकर वह आनंदविभोर हुआ था। उसने जो अनुभव किया, जो पाया, उससे उसकी सुननेकी इच्छा भी निरन्तर बढतीही रही। श्री भगवानका वक्तव्य नितांत रम्य तथा ब्रह्मसुख का प्रत्ययकारी था। प्रगाढ़ तन्मयता तथा निगूढ आत्मीयतासे अर्जुन का मन भी बारबार सांख्यमय होता रहा। भगवान की कृपा बनी रही। तत्त्वचिंतन की अपेक्षा 'तन्मय' होनाही श्रेष्ठ। सांख्य सिद्धान्तों का अध्ययन आवश्यक सही किन्तु उससे भी पार होना चाहिये। अर्जुन संवादसुखमें ही लीन होता रहा। सुनते सुनते संशय का पूरा निरास होना आवश्यक है। अतः श्रवण की महत्ता बढकर है। सांख्ययोग की बात वस्तुतः कर्मयोग के संदर्भमें स्पष्ट की गयी थी। अर्जुनजी ने समझा कि केवल सांख्ययोगही श्रेष्ठ है। वह भूल रहा था कि भगवान् उसे कर्मयोग की ओर–युद्धक्षेत्र की ओर–अग्रसर कर रहे हैं। उसका श्रवण निःसंशय नहीं रहा। वह कुछ का कुछ समझ रहा था।

निःसंशय होकर श्रवण होनेसे साक्षात्कार की महासिद्धि दूर नहीं रह सकती। जहाँ साक्षात्कार है वहाँ समत्वबुद्धि है। समत्वबुद्धिसे किये गये कर्म बंधक नहीं रहते। सांख्ययोग बुद्धिका समत्व निर्माण करता है। यह अनुसंधान महत्त्वका है। श्रवण का भी विशुद्ध रूप है। जहाँ अन्तर में स्थित परतत्त्वही श्रवणरूप होकर श्राव्यकी आत्मीयता पहचानता है वहाँ श्रवण 'श्रवण' नहीं रहता। वहाँ तो परतत्त्वका अद्वय प्रत्ययही है।

अतः श्री भगवान ने अर्जुन की पात्रता वढायी । उसके श्रवणसुख की वृद्धि की । उसका श्रवण, शुद्ध करने का निश्चय किया । उन्होंने कहा–" हे अर्जुन ! तुम समझ रहे हो कि मेरा यह कथन बिलकुल स्वप्नही है । जगत् में स्वप्न के दृश्यों का क्या महत्त्व ? बात यह है कि स्वप्न के दृश्योंकी भी अपनी सत्ता तथा महत्ता है । वह चाहे भ्रामक भी क्यों न हो किन्तु उसके पीछे भी गूढ़ तत्त्व निहित है । स्वप्न की सचाई संशयातीत नहीं हो सकती तो भी उसकी तुलना यहाँ सत्यके साथ की गयी है । स्वप्न की सचाई प्रत्यक्ष ज़ागृतावस्था में भी अनुभव होनी चाहिये । जिन जिन मनःसंकल्प के कारण स्वप्न का विलोभनीय दृश्य दीख पडता है उनका मूलभाव जागृतावस्थामें भी स्पष्ट होना चाहिये । मनके संकल्प, उसके भाव, उसके विचार तथा तरंग आदि सभीका सम्यक् दर्शन तथा सुस्पष्ट संधान जिसे प्राप्त हुआ वह स्वप्न की तथा जागृतावस्था की सचाई पा सका ।

वस्तुतः स्वप्नमें जागृत होनेवाले मनोभाव, विकार, गुण, इच्छा तथा आकांक्षा जीवनकी चाह प्रकट करते हैं । जीवनमें प्रत्यक्षतः उनका अवतरण अभीप्सित रहता है । स्वप्न सुखकी कामना बढ़ाता है । सुखकी ओर संकेत करता है । स्वप्न सुखको ध्येय करके हम आगे बढते हैं । किन्तु स्वप्न स्वप्नही है । वह सुखका आभास है । जीवन की सचाई उसमें निहित नहीं । जीवन में भी प्रत्यक्षतः यही अनुभव किया जाता है । असली सुख कहीं और है । हम जीवनासक्त जरूर हैं क्योंकि स्वप्न के

समान जीवन भी अपनी कुछ सत्ता रखता है। मनुष्य अन्तर्मुख होकर जब विचार करने लगता है कि जीवनकी मधुरता कहाँसे प्राप्त हुई ? क्या यही सच्ची मधुरता है ? वह कब प्राप्त हो सकती है ? कैसे ? सचमुच माधुर्य क्या है ? यह आत्मचिंतन उसे स्पष्ट करता है कि जीवनमें भी विलक्षण चारुता है, माधुर्य है। किन्तु उसकी अपनी वेदना भी है। वह निरंतर परतत्त्व की ओर अग्रसर करने का प्रयत्न करती है। यहाँका सुख, जागृतावस्था का अनुभव एकप्रकार सीमित है, प्यास बढ़ानेवाला है। विकल करनेवाला है। यह जो समझता है उसका मन निःसंशय प्रगल्भ तथा विकसित होता है। इस अवस्था में श्रवण भी विलक्षण प्रत्ययकारी रहता है।

धर्मग्रन्थोंके–गीता, भागवत, रामायण आदि–परिशीलन से मनपर कतिपय अच्छे संस्कार हुआ करते हैं। उसके द्वारा श्रद्धा बढती है, परिपालन सुकर होता है। मनुष्य की स्वप्नसृष्टि जिस प्रकार रचना (संगीत) प्रचुर तथा विलासमय रहती है, उसीप्रकार जीवन भी विविध भावोंसे भरा हुआ, परतत्त्वका स्पर्श करते हुए परिपुष्ट हो जाता है। यह श्रवण सचमुचही तन्मय करता है। जब कि ये शब्द, उनके गीत, उनके अनुकार, स्वर तथा ध्वनि प्रत्यक्षतः प्रत्ययकारी होते हैं तब सचमुचही स्वप्न के समान य सच हो जाते हैं। यहाँ ईशसृष्टिका सारसर्वस्व शब्दरूप द्वारा अक्षर होता है। यह ईश्वर की लीला अपना अमृतत्वही प्राशन करने देती है। आत्मीयता की अमर अनुभूति में जीवन की अशाश्वती नष्ट होती है। अन्यथा जीवन भी स्वप्न !

जब अनुभूति प्रांजल है, जब आचार अनुभूतिनिष्ठ है, जब स्वप्न स्वप्न नहीं रहता, जहाँ केवल वर्तमान ही साक्षी है वहाँ दर्शन वस्तुत: श्रेष्ठ निधान है। वह आत्मस्थिति सदाके लियें आत्मीय रहती है। वह अभंग है, अखंड है। यहाँ मनुष्य का देवताभाव प्रकट होता है। यहाँकी दृष्टि दिव्य है, अनुभूति विश्वात्मक है। देवताभाव अपनासा रहता है। जीवन की स्थिति, गति, उसके कर्तव्य तथा विलास–विराग सबकुछ हस्तामलकवत् होकर उसे कर्तव्य तथा अनुष्ठान का स्पष्ट संदेश प्रतीत होता है। जीवन का सारसर्वस्व प्राप्त होनेसे शेष जीवन के बारेमें विरक्ति रहती है किन्तु अनुष्ठानका भी महत्त्व जानने के कारण ये आत्मनिष्ठ जीवन की विविध भूमिकाओं में अपना कर्तव्य पूरी तरह निभाते रहते हैं। इस अवस्थामें वे चराचरमें अपनाही रूप देखते हैं तथा आत्मभाव से परस्पर एकात्मकता का भाव जगाते हुए जीवन बिताते हैं। स्थिर तथा परिपूर्ण, आत्मलक्षो तथा विश्वाकार भावनासे परिपूर्ण महात्मा आदर्श उपस्थित करते हैं। जीवन को पावन करते हैं।

यह आत्मानुभूति जोवन में सबसे बढ़चढ़कर है। उसके सिवा जो श्रवण वह निरर्थकही है। यह निगूढ भाव श्रवण में निहित होना चाहिये। अन्यथा बुद्धि जडत्वसे युक्त रहती है। मनोमालिन्य नही हटता। वस्तुत: अपने स्वभाव को पहचानकर विषयों की सृष्टिसे उसे अलिप्त रखनाही अत्यन्त आवश्यक है। निर्लेप बुद्धि स्वयंप्रकाशी हो सकती है। उसके प्रकाश-किरण

समुद्र की तरह गभीर तथा सूर्यप्रकाश की तरह व्यापक होते हैं। बुद्धि अपनी सारी शक्ति प्रस्फुटित करती हुई अपनी महत्ता को प्रकट करती है। वहाँ बुद्धियोगका वैभव मुखरित होता है। देहकी सत्ता, उसका सामर्थ्य तथा लक्षण आदि के बारे में निश्चित आदर्श तथा उद्देश्य प्रस्तुत होते हैं। देहके द्वारा उसके इन्द्रियोंके विशुद्ध संवेदन से आत्मभाव का प्रकाशकिरण बुद्धि लक्षित करती है। वह देहातीत, इन्द्रियातीत, परतत्व संकेतित होने के लिये अनंतरूपों द्वारा प्रयत्नशील रहती है। वहां श्रवण प्रतीतिगम्य है। श्रवण अपने निगूढ भावको अपनाते हुए परतत्वका साक्षात्कार कराता है।

जीवन सदाके लिये द्वन्द्वात्मकसा रहता है। बिना निर्द्वंद्व अनुभूति सहजता नहीं रहती। चन्द्र तथा सूर्य का मीलन "दर्श" कहलाता है। उस समय दोनों एक रूप होते हैं। चन्द्र तथा सूर्य की सापेक्ष स्थितिपर प्रकाश तथा अंधेरा है। जब कि दोनों परस्पर देखते हैं तब सापेक्षताकी भावना नहीं रहती। वहाँ चंद्र सूर्यही रहा। वह एकात्मकताका, निरपेक्षता का तथा निर्द्वंद्वका अनुभव करता रहा। वह अपने को खो जाता है। अपनापन या पृथकत्वही नहीं रहता। उसी प्रकार अपने भाव को जागृत करनेवाला 'श्रवण' अनुभूति की एकदेशी वृत्ति नष्ट करता है। परिपूर्ण तथा आत्मभाव से ओतप्रोत होकर श्रवणसे भी साक्षात्कार की सिद्धि अपनायी जाती है। उस समय अपना कर्तव्य मनुष्य के लिये सर्वोपरि रहता है। कर्तव्य के प्रति आत्मभाव निर्माण होता है। वहीं वह रमता

है। उसे और कुछ सूझताही नहीं। वही कर्तव्य उसे सच्चा सुख निरभिलाष आनंद तथा निर्द्वंद्व अनुभूति प्रदान करता है। उसका प्रसाद प्रसन्नता बढाता है। स्वर्गसुख भी उसकी तुलनामें न के बराबर है। जीवन का परमसुख अपनी सीमा लाँघता है। अंधे को मानो परमानन्द का महोत्सव दीख पडा हो।

श्रवणेंद्रिय का विषय है शब्द। शब्द आकाशतत्त्व का गुण है। आकाश की व्याप्ति कहाँ नहीं ? शब्दकी व्याप्ति भी विशाल रहती है। श्रवणेंद्रिय की शक्ति भी असीम हो सकती है। आकाश-तत्त्वकी भांति वह भी सर्वगत हो सकती है। श्रवण की यह महत्ता अनुभूति पर अवलंबित है। इस जगत् के जो कष्ट, दुःख, दैन्य तथा कठिनाइयाँ आदि बातें सहजही नियन्त्रित हो सकती हैं। वहाँ व्यक्तिकी श्रेष्ठता प्रतिष्ठित होती है। शब्दकी असीम शक्ति तथा श्रवणेंद्रिय असीम व्याप्ति व्यक्ति के जीवन में वैभव की विपुलता निर्माण करती है। जीवनकी सत्ता सर्वत्र व्याप्त है। उसका संवेदन सर्वसामान्य से अलक्षित रहता है। उसी सत्ताका स्पन्द आकाशतत्त्व के माध्यम से शब्दद्वारा व्यक्त है। वे यथार्थता के तरंग, वास्तवता के स्फुरण सत्यस्पर्शी व्यक्ति के द्वारा सहजही लक्षित होते है। वह सत् तत्त्व का साक्षात्कार अपने आप ज्ञान को सफल कराता है। यह श्रवणेंद्रिय तथा उसकी शक्ति आकाश-तत्त्वकी है। आकाशही उसकी देवी है। उसका देवताभाव जागृत होनेपर जीवनकी विंशाल तथा असीम अनुभवराशी व्यक्ति के लिये ज्ञात रहेगी। वह देवताभाव मनुष्य को उसकी

हितकी बातही कहता जायेगा। व्यक्ति की अभिव्यक्ति वस्तुतः नामरूपात्मक है। पहले पहल तो शब्द ही है। मनुष्य की देहमें आकाश ओतप्रोत है। श्रवणेंद्रिय का देवताभाव जागृत होनेपर वह व्यक्ति तथा समष्टिका माध्यम बन जायेगा। मनुष्य की देह उस समय सचमुचही ईश्वरीय तत्त्वकी वाहक होगी। वह जीवनयापन धर्मानुज्ञासे युक्त होगा। जीवन के कणकण में तथा व्यक्ति के अणुरेणु में अनायासही परिपोषण मिलता रहता है। वह निरामय तथा आनंदघन जीवनकी उपलब्धि है। वह अवस्था जीवदशा की परमसखी, परमहितकारिणी है। वही केवल सुखदा है, कल्याणी है। इसी कारण श्रवणेंद्रियका तथा श्रवणका भी महत्त्व है। वहाँ मानो कोई मनुष्य हमसे हितकारी सुसंवाद करता रहता है। नामरूपात्मक व्यक्ति देवताभाव को अपनाता है। जीव तथा जगत् के बीच यह सुखसंवाद अपनी नित्य नूतनता के साथ निरन्तर प्रतीत होता है। वह ब्रह्मरूपता देवताओं को अतिप्रिय, अभिमानास्पद है। परम समाधान तथा अविकल प्रसन्नता यहाँ व्यक्ति को परिपुष्ट करते हैं। मानो वह श्रवण व्यक्ति का यज्ञोपवीत, जीवदशाका महत्त्व, मनुष्यका परमसुख तथा धर्मकी धारणा है। मनकी बात अलग है। उसे इस निगूढ श्रवणकी महत्ता कैसी समझे ? निरर्थक संकल्प–विकल्प करते हुए वह मन जीवदशा का मूल लक्षित नहीं करता। मनुष्य के व्यक्तित्व का मूलस्रोत जो शब्द–आकाश उसीको लक्षित करना उचित है। जीवकी नामरूपात्मक व्यक्ति परमसखी है। श्रवण की इस निगूढ़ व्याप्ति में वही सुखदा है। दुःखको सुखमें पलटा देती है।

उपर्युक्त अवस्था के कारण मनुष्य का जीवन आमूलाग्र परिवर्तित होता है। यहाँ जो जिन्दगी बितायी जाती है वह सहज तथा निर्लेप है। उसमें किसी प्रकार की आसक्ति नहीं। उसका जीवनयापन एक प्रकार ब्रह्मचर्य–ब्रह्मका अनुशासनही है। भिन्न अवयव तथा इन्द्रिय उसी परतत्त्व के भिन्न भिन्न अविष्कार से हैं। पिताके मनमें पुत्रके प्रति जो स्नेहार्द्रता है, वही यहाँ परतत्त्व तथा इन्द्रियों के संनिकर्ष में है। इन्द्रियों का विषयोपभोग अब केवल विषयरूप नहीं होता। वहाँ उसके निगूढ अंतःस्तल में परतत्त्वस्पर्शी अनुभूति निहित है। यहाँ देवताभाव जागृत है! जीवनकी असली सत्ता यहाँ ढँकी नहीं रहती। मनकी अत्यन्त सुकोमल तथा स्नेहपूर्ण अवस्था प्रभावितसी रहती है। सुखकी प्राणाधार शक्ति है आत्मीयता जो पुत्रके संबंध में पिता अनुभव करता है। पिता स्वतः निरपेक्ष होकर भी पुत्रके प्रति कर्तव्य की भावना मानता है। उसीके अनुसार संसार के समूचे व्यवहार के संबंध में अनुभूति-संपन्न व्यक्ति केवल कर्तव्यमात्र की भावना से युक्त रहता है। वह सदा के लिये अनासक्त है। जीवन का सच्चा अर्थ तथा उसके योग्य शब्दोंसे संपन्न भाषा सहजही आवश्यकता के अनुसार उससे मुखरित होती है। जो बोलने योग्य है वही बोला जाता है। जो करने योग्य–कर्तव्य है वही केवल किया जाता है। मनुष्यदेहकी महत्ता यहाँ अनायासही खरी उतरती है। इसका कारण है विवेक। विवेक का नित्य अंकुश उस व्यक्ति के जीवन में प्रगाढ़ अनुभूति, सरस रसिकता, प्रसन्न मनोवृत्तियां तथा अनासक्त आस्वाद और उपभोग सदैव

प्रस्तुत है ।

वस्तुतः वह परतत्त्वदर्शन स्वभावसिद्ध है । उसे देखने के लिये किसी प्रयत्न की आवश्यकता हैही नहीं । 'मुहुर्त' आदि के द्वारा उसकी उपलब्धि दुय्यम–गौणही है । एक बार ब्याही गयी स्त्री दूसरी बार ब्याह करनेपर उद्युक्त हो तो वह ब्याह भी गौण समझा जाता है । अमावस्या की अवस्था भी सूर्य तथा चन्द्र के मीलन की स्थिति की ओर संकेत करती है । अतः वह 'दर्श' कहलाता है । वह सहज दर्शनीय अवस्था इसी प्रकार जीवन में प्रस्थापित होनी चाहिये । स्पष्टीकरण या पृथक्करण के द्वारा अपने आप प्रतिप्रसव की स्थिति संभव है । फिर वहाँ गौणत्व नहीं होगा । अन्यथा दर्शन तो दूर रहा किन्तु आडंबरही शेष रहेगा । भगवान की तसवीर गलेमें पहनकर फिर अपनेको ही पूजनीय बमाने की चेष्टा हास्यास्पद है । 'दर्शन' सहज न होनेपर कष्टकारी, तथा कर्मयुक्त रहता है । देवतादर्शन दिनचर्या का प्रधान अंग होना चाहिये । साथही यह स्पष्ट है कि उसमें सहजता रहे । प्रयत्न तथा अभ्यास के द्वारा आरंभ करके तत्पश्चात् वह अपने आप बन जाय । उसमें सच्ची आत्मीयता रहे । देवतासन्निध सदैव सिद्ध रहेगा । आत्मोपम्य भावसे वहाँ मानो प्राणैक्य अनुभव हुआ ।

जो अतीत है वह परमात्मस्वरूपमें लीन है । आत्मज्ञान द्वारा अतीत के बारेमें यही प्रतीति होगी । प्रवृत्तिका स्वरूप बाहरी तथा निवृत्ति आंतरिक है । निवृत्तिही प्रवृत्ति रूपमें आविष्कृत हो सकती है । कहनेका तात्पर्य है कि दोनों

अवस्थाएँ परिणामस्वरूप एक हैं। जीव तथा जगत् की अभि-व्यक्ति की ओर यह संकेत है। स्त्रीका मन अपत्य प्रसव के पहले तथा पश्चात् भी अपत्यकाही स्नेह लिये हुए है। उसके लिये अपत्य स्नेह के सिवा प्रथम तथा पश्चात् कुछ भी नही। वहाँ स्नेह सच्चा है। वैसेही जीवकी निवृत्ति तथा प्रवृत्ति परिणामतः एकरूप है। क्योंकि निवृत्ति तथा प्रवृत्ति दोनों सापेक्ष हैं किन्तु आत्मराज केवल निरपेक्ष है। निवृत्ति के पहले और प्रवृत्ति के पश्चात् भी वह निरपेक्ष है। उसकी निरपेक्षता सच्ची है। इस अनुभूति का प्रशासन जिसप्रकार होगा उसीपर उसकी महत्ता है। विना प्रत्यय केवल आचार अर्थहीन, आडंबरयुक्त रहेगा। केवल गेरुआ वस्त्र पहननेसे क्या होगा ? सगुण या निर्गुण स्वरूप का अनुसंधान न होनेपर गेरुआ वस्त्र पहननेपर भी वे नग्नही हैं। उन्हें किसी प्रकार आधार नहीं। वे निरालंब तथा निराधार हैं। वह अनुभूतिशून्य जीवन अकार्यक्षम तथा भावहीन है। वहाँ केवल संकल्प हैं, अनुष्ठान नहीं। अतः यह निरर्थक तथा निष्फल है। नियमन तथा संयमन न होनेसे वहाँ गुणदर्शन श्रद्धाहीन, आर्जवरहित होता है। जब गुणत्व सगुण तथा संयमसे दूर है तब वह व्यर्थ है। मनके द्वारा की गयी पूजा भी देहभाव को परिपुष्ट करती है।

वहाँ और कुछ निष्पन्न नहीं होता। तीर्थयात्रादि साधन तभी सफल हैं जब कि वहाँ अनुभूति निहित है। सदाके लिये अनुभवही श्रेष्ठ तथा द्रष्टव्य है। सगुण भी देखो, निर्गुण भी अपनाओ। उन दोनों के बीच स्वस्थ रहो। उस समय

यथार्थता–यथातथ्यता–अनुभव होगी। जहाँसे सगुण तथा निर्गुण निष्पन्न है उसकी अनुभूति अपनायी जायेगी। उसी एकांतमें स्थिर रहो। वह एकांत वस्तुतः देवता दर्शनही है। वहाँ सगुणता का पूरा निश्चय तुम कर सकोगे।

जहाँ मनके संकल्प स्वसुख को छोडकर निर्माण होते हैं वहाँ व्यर्थता रहती है। वही वृत्तिशून्यता निर्माण करती है। अतः इस जीवको जीवनकलारूप पानी देना चाहिये, अलंकार रूप अक्षत् चढाना चाहिये। अंतर्बाह्य वह एकही है, वही परिपूर्ण, निरन्तर है। उसी पूर्णका स्वीकार करते रहो।
॥ १ ॥

आधीचि विवेकाची गोष्टि।
वरि प्रतिपादी कृष्ण जगजेंठी।
आणि भक्तराज किरीटी। परिसत असे ॥ २ ॥

अर्थ :– पहलेपहल तो यह विवेककी बात। तिसपर जगदीश भगवान् श्रीकृष्ण सुना रहे हैं और भक्तश्रेष्ठ अर्जुनजी सुन रहे हैं।

व्याख्या :– यह विवेकयुक्त कहानी वस्तुतः श्रेष्ठ है। सरल हृदय अर्जुनजी ने प्रश्न पूछा है। विद्यार्थी की जिज्ञासू बुद्धिमत्ता का आविष्कार प्रश्न है। उसका कुशलता से स्वीकार करनेपर जो सम्यक् समाधान किया जाता है वह भी नितांत रमणीय है। भक्तराज अर्जुनजी सुन रहे हैं। जहाँ संपूर्ण पांडित्य अधिष्ठित है, प्रसन्नता बढानेवाली तथा बुद्धि को लुभानेवाली श्री भगवान्की कल्पनाप्रचुर सुसंगत भाषाशैली

है, वहाँकी महत्ता अवर्णनीय है। स्वयं भगवानने वह प्रश्न स्वीकार किया है। उसका समाधान करनेके लिये उद्युक्त है। वक्ता-श्रोता तथा श्राव्य तीनोंकी योग्यता असाधारण है ॥२॥

जसा पंचम आलाप सुगंध। कि परिमळ आणि सुस्वाद।
भला जाला विनोद। कथेचा इये ॥३॥

अर्थ :- मानो कोयलका पंचम स्वर सुगंधित हुआ है और वह सुगंध भी स्वादयुक्त है। उसी प्रकार यह कथा रम्य (विनोदनयुक्त) हुई है।

व्याख्या :- बुद्धिकी बाधा भी कुछ कम नहीं। उसका निश्चय पलट सकता है। कभी यह ठीक तो कभी वह। इस स्थितिमें सामंजस्य निर्माण होना या उसकी यथार्थता अनुभव करना अत्यन्त आवश्यक है। यह कार्य भी प्रसन्नतासे सहज विनोदन द्वाराही अच्छी तरहसे हो सकेगा। श्री भगवान यही बात रंजकतासे कह रहे हैं। उनका कथन मानो अमृतरसास्वाद। भगवान श्रीकृष्णही मानो श्रीवसंत है। वहाँ विविध देवताओं का सुस्वर संगीत संपन्न है। उसमें सबसे श्रेष्ठ स्वर 'पंचम' इस ढंगसे आलापित हो रहा है कि श्रोताका मन बरबस आकृष्ट हो रहा है। भ्रमर के मनमें परिमल के प्रति आकर्षण है। उसी प्रकार वह आलाप मनको आकृष्ट कर रहा है। मानो उस स्वरमें भी सुगंध आया है। एक अनिर्वचनीय तल्लीनता वहाँ परिपुष्ट हो रही है। पंचप्राण भी उसपर न्योछावर करने योग्य है। पंचप्राण वहाँ तल्लीन-तन्मय होते

हैं। इसी कारण वहाँ अभूतपूर्व रसनिष्पत्ति है। वह कथन सचमुचही अलौकिक तथा आस्वाद्य है। ब्रह्मरस की प्रत्यय-कारिता परोसी जाती है। बुद्धिका स्वरूप विशाल नहीं। बुद्धि उस रसका आस्वाद या निश्चय नहीं कर सकती। कुछ कुछ झुंझलाती है। वह अनन्यसाधारण प्रेम, रस तथा उसकी रंजकता बुद्धिसे कुछ हदतक परे रहती है। इसीसे बुद्धि कभी कभी मुरझाती है, कभी मुसकराती है, कभी हठ करती है तो कभी रूठती है। यह क्रीडा देखते रहनेमें भी विलक्षण माधुरी है, विनोदन ह। उसके द्वारा अंतःकरण में प्रसन्नता प्रविष्ट होती है। उस अनुभूतिका सुख भी अलौकिक है। जब हम वह अनुभव करेंगे, उसकी स्थिति अपनायेंगे तब कहीं उसकी प्रतीति कुछ कुछ स्पष्ट कर सकेंगे। वह अवस्था अपने आप प्रभावकारी होती हैं। यह आस्वाद अमृतरसपान के समान है। यहाँका कथोपकथन, इसकी कथावस्तु तथा अद्वितीय पात्र अपनी अनन्यसाधारण पात्रता के कारण श्रोताओं को आकृष्ट करतेही हैं साथही उनके मनका हठ भी दूर करते हैं। अहंता, अहंकार, अभिमान त्यागकर श्रोता श्रीभगवान के चरणकमलोंमें लीन रहते हैं। यह असाधारण पात्रता अन्यत्र कहीं नही।

मनकी अवस्था अनेक तरंगयुक्त है। उसमें बहिर्मुखता प्रधानसी रहती है। मन बुद्धिकोही महत्त्व देता है। किन्तु जब बुद्धि भी अपनापन त्यागकर उस निर्गुण निराकार का कुछ कुछ प्रत्यय वृत्तिरूप करनेका प्रयास करती है तब वहाँ जो कुछभी रहता है वह मनकी अंतरंग का परिचायक तथा

परिवर्तित जीवनका संकेत है। वहाँ पाप पाप नहीं रहता, पुण्य पुण्य भी नहीं। जो कुछ है वह अत्यन्त पावन तथा प्रसादपूर्ण। निरहंकारी बुद्धि सदैव समर्थ है। उसका बल पाकर मनकी चेष्टाएँ भी आनंदविभोर करती हैं। वह मनका सुसंवाद-सुखसंवाद होता है। बुद्धिका निश्चयात्मक बल मनकी प्रसन्नता बढाता है। मनकी दुर्बलता दूर करके उसे योगारूढ होनेके लिये उद्युक्त करता है। मनकी संपन्नता तथा सामर्थ्य दिन ब दिन बढ़ता है। न बुद्धि परतत्त्वलक्षी रहती है न मन भी। किन्तु वह परतत्त्व उन दोनोंके हाथ अनायास आ जाता है। अन्धेको प्राप्त हुआ दृष्टियोग जिसप्रकार अनिर्वचनीय आनन्द को परिपुष्ट करता है, उसी प्रकार यहाँ भी मानो आनंदार्णव उछलता रहता है। वह आनंदोत्सव कैसा कहा जायेगा? शुद्ध ज्ञानवान व्यक्तिको जो सुख प्राप्त होता है वही अन्धेको भी दृष्टियोग के द्वारा सुलभ होगा। मतलब की बात यह है कि हमभी अपने को दृष्टियुक्त समझते हैं। ऐहिक अर्थमें वह सही है। किन्तु जिस प्रकार अन्धा दृष्टि पाकर अत्यन्त प्रसन्न होता है उसी प्रकार हमभी परमार्थ दृष्टि पाकर होंगे। वह अपनाही स्वरूप हम अपनाते हैं। वहाँ परम सुखके कारण विलक्षण तन्मयतासे हम डोलते रहेंगे। न वहाँ रात है न दिन। उस ज्ञानरूप वृत्तिका परतत्त्वरूप, रसार्द्र सर्वस्व वहाँ स्वयंसिद्ध है। अनुभूति मानो साकार होगयी। उस अरूप का साक्षात्कार हुआ। सादर तथा सानंद स्वीकार करने योग्य वह है।

कैसी आगळीक दैवाची । जे गंगा जोडली अमृताची ।
हो कां जे तपें श्रोतयांचीं । फळा आलीं ।।४।।

अर्थ :– कैसा परमभाग्य है कि अमृतकी स्वर्गंगाही प्राप्त हुई है । श्रोताओं के तप सफल हुए ।

व्याख्या :– जहाँ वह योगदृष्टि नहीं वहाँ अंधेपन के सिवा और क्या है ? जो यह वृत्ति भूल बैठता है वहाँ अज्ञानही अज्ञान है, दैन्य है । वस्तुत: श्री भगवान के रूपमें वैराग्यकी पराकाष्ठा है, सभी प्रकारका ज्ञान उसीमें परिपूर्ण तथा सफल है । उसके पास न दैन्य है न अज्ञान ! वस्तुत: ज्ञान उस भगवान की कृपा है । उसीका अनुग्रह है । जो प्राप्त करता है उसे देवत्व की अपूर्वता भी सहज सुलभ है । मनका 'मनपन' नहीं रहता । चित्तकी प्रसन्नता बढ़ती है । वह उन्मनी होता है । वहीं श्रीभगवान का अधिष्ठान है । परमपवित्र अमृत नदी है । चित्तवृत्तियों को पवित्रता देनेके लिये श्रीभगवान का यह कथन मानो गंगामैया के समान है । जन्मजन्मतक किये गये तप की यह परिणति फलरूप होकर श्रोतागण को पावन कर रही है । यहाँ वृत्तिसाक्षित्व सिद्ध है । परम सुख तथा परम पावित्र्य दोनों का परस्पर समन्वयसा रहा हो । वस्तुत: पावित्र्य भी केवल उसी परमरूपका आविष्कार है । अर्थात् जहाँ भगवान् है वहाँ पावित्र्य अनिवार्य है, साथही उसके सान्निध्यमें कोई वस्तु अपवित्र नहीं रह सकती । वहाँ केवल कृपा–दृष्टि है । वह दर्शन दिव्य, दृष्टि भी दिव्य तथा ज्ञान भी चरमसीमाका । वह प्रेम अंत:करण की कृपा का प्रसाद है ।।४।।

आता इन्द्रियजात आघवे । तिहीं श्रवणाचे घर रिघावे ।
मग संवादसुख भोगावे । गीतारहस्य ।।५।।

अर्थ :- सभी इन्द्रिय श्रवणेंद्रियका आश्रय ले लें और तत्पश्चात् श्रीगीतारहस्य का संवादसुख अनुभव करें ।

व्याख्या :- वस्तुतः अमृत मानो मूर्त अमरत्व है । उसका प्रवाह मूर्तिमंत पावित्र्य है । तपःसामग्री सभी प्रकार प्रायश्चित लेकर अब श्रोताको श्रवण सुखके लिये तैयार करती है । प्रत्यक्ष देवत्व भी साकार हुआ है । मनभी प्रसन्नता के कारण विवादरहित तथा पावन हुआ है । संपूर्ण गुणों के साथ सभी आशंकाओं से रहित होकर देवताभाव यहाँ जागृत है । इन्द्रियों को अपने सभी विकारों के साथ यहाँ बुलाया गया है । शायद वे श्रवण की रुचि अनुभव करेंगे । वह अभिनव रुचि, अभिरुचि लेकर इन्द्रिय अपना विकृत विचार छोड बैठेंगे और वे भी पावन होंगे । अभूतपूर्व तथा अश्रुतपूर्व सुखसंवाद यहाँ अनायास श्रवणसुलभ है । अतः सभी इन्द्रियों को चाहिये कि वे श्रवण में अपने को प्रतिष्ठित करें । जीवनतृष्णा असीम है साथही उसका रहस्य पा जाना भी दुष्कर है । जन्म जन्म तक तपश्चर्या होनेपर भी वह ज्ञानरहस्य हाथ नहीं आता । किन्तु अब श्रीभगवान् श्रीअर्जुन के प्रति अत्यन्त स्नेहशील, कृपालु है । भक्तप्रेम के कारणही वह यह रहस्य सुलझा रहा है । वह सब कुछ साद्यंत स्पष्ट कर रहा है । कल्पद्रुम के समान अभीष्ट सिद्धि दिलानेवाला यह श्रेष्ठतम वक्तव्य सुननेके लिये सभी इन्द्रियों को श्रवण के घरही जाना होगा । सभी

देह केवल कानही हो जाय। श्रवणमेंही सब कुछ तल्लीन हो जाय, तन्मय हो जाय ।।५।।

हा अतिशय अतिप्रसंगे। सांडुनि कथा ते सांगे।
जै श्रीकृष्णार्जुन दोघे। बोलत होते ।।६।।

अर्थ :- श्रीकृष्णार्जुनका यह संवाद और कुछ कहने के अलावा जल्दी कथन कीजिये।

व्याख्या :- श्रोताओं के लिये यह कथन निःसंशय श्रेष्ठ श्रेणीका है। उसमें महान आशय छिपा हुआ है। प्रसंग स्वरूप वर्णन करनेकी अपेक्षा प्रत्यक्ष कथनही शुरु किया जाय। अब आशयमहत्ता कहने के अतिरिक्त प्रत्यक्ष संवादही कहा जाय। भगवान् श्रीकृष्ण तथा धनुर्धर अर्जुन इन दोनोंका संवाद सुनने को हम उत्सुक हैं। वह जल्दी जल्दी सुनाया करो। हम तीव्रतासे उत्कंठित हुए हैं। कृपया वह सुनाइये ।।६।।

ते व्हेळी संजय रायाते म्हणे।
अर्जुन अधिष्ठिला दैवगुणें।
जे अतिप्रीति श्री नारायणें। बोलिजत असे ।।७।।

अर्थ :- उस समय संजय राजा धृतराष्ट्रसे कहता है, " श्रीअर्जुन दैवी गुणोंसे अधिष्ठित है। श्रीभगवान् अत्यन्त प्रेमके साथ उससे कह रहे हैं।

व्याख्या :- संजय भी अचरज में पडा। उसे अर्जुन का पुण्य अलौकिक सा लगा। उसने राजा धृतराष्ट्रसे कहा।

"राजन् ! अर्जुन सचमुचही पुण्यवान है। वह दैवी गुणोंसे अधिष्ठित हुआ है। दैवी इच्छासे उसका जीवन अनुशासित हो रहा है। अतः श्रीभगवान नारायण भी उसपर परम संतुष्ट हैं। उनके मनमें अर्जुन के प्रति नितांत प्रेम है। उनका प्रेमरस-युक्त संवाद श्रवणीय ही है। उसके अंतर में स्नेहसुधा तथा बाहर प्रसन्न वक्तव्य है। उसकी विशालता तथा गहराई कोई कह नहीं सकता। यह प्रेम वस्तुतः ज्ञानरूप है ॥७॥

जे न सांगेचि पित्या वसुदेवासी ।
जे न सांगे माते देवकीसी ।
जे न सांगेचि बंधु बळिभद्रासि ।
– ते गुह्य अर्जुनासी बोलत ॥८॥

अर्थ :– पिता वसुदेवजी, माता देवकीजी तथा बंधु बलरामजी को भी जो बात (भगवान् श्रीकृष्णने) नहीं कही, वह अत्यन्त रहस्यपूर्ण (बात) अर्जुनको सुना रहे हैं।

व्याख्या :– वह परमगुह्य ज्ञान श्रीभगवानने न अपने पिता वसुदेवजीसे कहा न माता देवकीसे भी कहा। यह अनिर्वचनीय प्रेम केवल श्रीअर्जुनकोही प्राप्त हुआ। बलरामजी प्रत्यक्ष भाई। उनका वास्तव्य सदा श्रीभगवान के पास। वह सचमुच श्रीभगवानके ही समान। तिसपर भी श्रीभगवान् उनसे स्नेहार्द्र होकर इस प्रकार वार्तालाप नहीं करते। श्री अर्जुनका परम सौभाग्य है कि वह यह श्रेष्ठ ज्ञान, उसका सौरस्य तथा आस्वाद पा सका ॥८॥

देवी लक्ष्मी येवढी जवळिक ।
परि न देखे या प्रेमाचे सुख ।
आजि श्रीकृष्णप्रेमाचे विक । यातेंचि आथी ॥९॥

अर्थ :- श्रीभगवती लक्ष्मीजी भगवान के अत्यन्त निकट रहती हैं किन्तु इस प्रेमका सुख वह भी नहीं पा सकी ।

व्याख्या :- श्रीभगवती महालक्ष्मीजी श्रीभगवान के अत्यंत निकट हैं । उनके समान कौन अधिक सामीप्यलाभ कर पाया है ? किन्तु बात यह है कि उन्हें भी भगवान् यह निगूढ तत्त्व प्रकट नहीं करते । इतना अलौकिक और असीम प्यार केवल श्री अर्जुनजीको ही उपलब्ध हुआ । प्रेमका यह अगाध सामर्थ्य है । अर्जुन की निष्ठा भी अटल थी । अर्जुनने मानो प्रेमतत्त्व पहचाना, नहीं वह प्रेमरूप हुआ । श्रीचरणों के प्रति उसकी श्रद्धा, भक्ति, स्नेह चरमोत्कर्ष को प्राप्त हुआ । यों कहे कि कि उसकी भक्ति ही मानो अर्जुनरूप हुओ ।।९।।

सनकादिकांचिया आशा । वाढिनलिया कीर बहुवसा ।
परि त्याहि येणे माने यशा । येतीचि ना ॥१०॥

अर्थ :- सनकादिकों की आशाएँ बहुतही आतुर हो उठीं किंतु उन्हें भी इस प्रकारका यश प्राप्त नहीं हुआ ।

व्याख्या :- सनकादि ऋषियों के लिये भी यह यश अप्राप्य रहा । वस्तुतः उनकी निष्ठा, उनका श्रीचरणों के प्रति अपार प्रेम संदेहरहित है । उनका गौरव तथा भक्ति अपार थी ।

किन्तु स्नेहरूप यश केवल श्री अर्जुनकोही प्राप्त हुआ । ऋषियों को आशा थी और वह सही थी । उसमें कुछ अनुचित नहीं था । श्रीभगवान् की लीला अगाध है । उन्होंने केवल अर्जुनको अपनाया और यह गीतामृत पान कराया ॥१० ।

या श्रीजगदीश्वराचे प्रेम । येथ दिसतसे निरूपम ।
कैंसे पार्थे येणें सर्वोत्तम । पुण्य केले ।।११।।

अर्थ :– यहाँ जगदीश्वर का प्रेम अत्यन्त निरुपम होकर ही प्रकट हुआ है । पार्थजी ने सर्वोत्तम पुण्य कहाँसे पाया ?

व्याख्या :– संपूर्ण ब्रह्मांडका अधिष्ठाता, जगत् का नियंता तथा ज्ञानका परम ऐश्वर्य वह श्रीभगवान् यहाँ अर्जुनके बारेमें निरतिशय प्रेमार्द्र हुआ है । यहाँ उपमा देनेमें कोई समर्थ नहीं। स्वयं श्रीभगवान् भी निरूपम होकरहो उससे बर्ताव कर रहे हैं । श्री अर्जुनने यह पुण्य कहाँसे प्राप्त किया ? यह सर्वोत्तम पुण्य या पुण्यका सर्वोत्तम उसे किसप्रकार प्राप्त हुआ ? श्री भगवानकी कृपा है ।।११।।

हो कां जयाचिया प्रीति । अमूर्त हा आला व्यक्ति ।
मग एकमेकाचिये स्थिति । आवडतसे ।।१२।।

अर्थ :– उसके प्रेमही के कारण वह आत्मरूप भगवान् व्यक्त हुआ है और परस्पर की (एक दूसरे की) एकात्मता उन्हें प्रिय हुई है ।

व्याख्या :– श्री अर्जुनके साथ स्नेहशील भगवान सानंद वार्तालाप कर रहे हैं । यह मानो अर्जुनकी ही प्रीति है, जिसके

लिये वह अमूर्त परतत्व साकार होकर खडा हुआ। अर्जुन भी उसी परतत्त्वकी भक्ति की मूर्ति ! यहाँ दोनों एकरूप हुए। न अर्जुन भक्त है न भगवान देवता। अभेद भक्तिकाही यह दृश्य आँखोंको लुभा रहा है। वहाँ द्वैत नहीं। परस्पर प्रीति और उससे निष्पन्न भक्तिके कारण अब विभक्ति-अलगता-पृथक्त्व नहीं। दोनोंको ही परस्पर अपार प्रीति है। जन्म-जन्मतक बाट जोहेनेपर भी जो संभव नहीं वह अनायास सुकर हुआ है। श्री भगवान के पादपद्म मूर्त होकर अर्जुन के सामने हैं ॥१२॥

येऱ्हवी हा योगियां नाडळे। वेदार्थासि नाकळे।
जेथ ध्यानाचेहि डोळे। पावती ना ॥१३॥

अर्थ :- वस्तुतः योगियों को भी वह दीखता नहीं, वेदार्थ में भी वह स्पष्ट नहीं होता, ध्यान करनेवाले नेत्र उसे पा नहीं सके।

व्याख्या :- निःसंशयही विलक्षण योगदृष्टि श्री अर्जुनजी पा सके। जहाँ योगियों को भी यह बात परम दुःसह तथा दुष्कर ज्ञात होती है, वेदोंके लिये भी यह निगूढ रहा है फिर अर्जुनने यह पाया। निःसंशय आश्चर्यकारक बात है। आँखोंको केवल बाह्यसृष्टिज्ञान है। वे इस जगत का अंतरंग किसप्रकार पहचानेंगी ? जगत् का असारत्व तथा भ्रामकत्व भी जिनके ध्यान नहीं आता वे चर्मचक्षू क्या इस स्वरूप को अपनायेंगे ? योगियों की आँखें भी असमर्थ हो जाती हैं।

ते हा निजस्वरूप । अनादि निष्कंप ।
परि कवणे माने सकृप । जाला आहे ।।१४।।

अर्थ :– आत्मरूप, निष्कंप तथा अनादि परमात्मा आज कितना कृपालु हो चुका है ?

व्याख्या :– वस्तुतः श्री भगवान् अनादि–निजस्वरूप हैं। किसी भी प्रकार का विकार उन्हें विकारवश नहीं कर सकता। वे स्वतःसिद्ध निजस्वरूप तथा केवल साक्षी हैं। कर्म की गति उनपर परिणाम नहीं कर सकती। दयार्द्र होना या सहृदय होना ये बातें कर्मप्रभव हैं। श्रीभगवान् तो कर्मसे सर्वथा निर्लेप हैं। भगवान् की वह अमृतस्वरूप कृपा सर्वविलक्षणही माननी चाहिये। उनकी अमूर्त कृपा भक्तराज अर्जुन के कारण सानुकंप मूर्त हुई है ।।१४।।

हे त्रैलोक्यपदाची घडी । आकाराची पैलथडी ।
कैसा याचिये आवडी । अवतरला असे ।।१५।।

अर्थ :– त्रैलोक्य का उगमस्थान तथा सगुणता के उसपार होनेवाला वह परमात्मा श्री अर्जुनजी के स्नेह के कारण ही व्यक्त हुआ है।

व्याख्या :– यह तो सर्वविलक्षण रुचि है। कोई ऐसी बात नहीं कि जो भगवान को अपने अधीन कर सकेगी। यह अर्जुन काही निस्सीम प्रेम है जो भगवान के लिये बडी धरोहर है। अतः निजस्वरूप श्रीभगवान् इस विश्वमें साकार हुए। वह असीम, अपार तत्त्व केवल अर्जुन के लिये सीमित, साकार

हुआ। यह वही कृपा है जो मुनियोंको भी दुर्लभ रही है। त्रैलोक्य में ओतप्रोत वह परमतत्त्व सरूप हुआ। वह 'अनिवार्य' निवारणीय हुआ, 'विभु' स्थूल हुआ तथा आकाशरूप घनीभूत होकर मर्यादाशील बन गया। नादब्रह्म आकलनीय हो सका। वह स्वर न केवल श्रवणसुभग रहा किंतु मधुर तथा आस्वाद्य भी हुआ। उसकी स्नेहसिक्त तान रोम रोम पुलकित करती हुई अपनी असीमता का परिचय दिलाती रही। नादब्रह्म का मूल रूप ॐ कारही मानो वहाँ सर्मपित हुआ है, न्योछावर किया गया है। त्रैलोक्य उस भगवान् का विशाल स्वरूप है। अणुसे भी सूक्ष्म, सबमें व्याप्त तथा सबसे व्यापक परमात्मा स्थिति–गतिशील होकर रहा। समूचा संसार स्थिति–गति, उत्पत्ति–लय, विकास-विनाश आदि विविध द्वंद्वोंसे युक्त है। यह उसकी मर्यादा है। संसार की सर्जन शक्ति तथा परिवर्तन-क्षमता अनादि रूपसे अबाधसी रही है। किन्तु उसमें भी एकही तत्त्व अक्षुण्ण है। दिग् तथा कालके बंधन वस्तुजातके लिये अनिवार्य है। जो इस विशाल विभु मर्यादाशील दिग्काल-युक्त संसारमें उससे भी परे तथा उसमें निहित तत्त्वको पहचानता है, उसका साक्षात्कार करता है, वह सचमुच ही सौ वार धन्य है।

बात साफ है कि इस संसारमें भी वह असीम समा हुआ है। वह सीमित होकर दिग् तथा काल के बंधन स्वीकार करता है। जीवमात्र को वह ऐसा अनुभव कराता है कि जिससे वे उसे लक्षित कर सकें। संसारकी विविधता तथा

द्वंद्वात्मकता, और घातप्रतिघातसे ऐसी प्रत्ययकारी गहरी दृष्टि निर्माण होती है कि आँखें मूंदनेपर भी दर्शनोत्सुक इसे देख लेता है। संसार की तह तक वह जा सकता है। वार्धक्य जराजर्जर नहीं रहता किन्तु केवल प्रकृतिका परिणाममात्र रह जाता है। बच्चा बूढ़ा हो सकता है किन्तु उसके अंतःकरणमें स्थित वह परमतत्त्व केवल देवताभाव है। न वह बच्चा है न बूढा। न बढता है न नष्ट होता है। यह प्रचीति इसी त्रैलोक्य के साक्षात्कार द्वारा, उसके अंतस्तल को अनुभव करनेवाले साधक पा सकते हैं।

देहकी सिकुडन है वार्धक्य। जब हम उसके अंतःस्तल के परमतत्त्व को लक्षित कर सकते हैं उसी समय हमें इस देहके बारेमें सच्चा विराग रहता है। देहबुद्धि हट जाती है। साधक आत्मनिष्ठ होकर प्राकृतिक जराको तुच्छ समझता है। उसे किसी भी प्रकार डर नहीं रहता। वार्धक्य शरीर का परिणाम है। वह आत्मापर असर करनेमें असमर्थ है। इस रहस्यका साक्षात्कार होनेके कारण विश्वरूपमें–देहयुक्त होनेपर भी देवताभाव जागृत रहता है। वह ढँका नहीं रहता।

मिट्टी जांबुनद में गिरनेपर सोना बन जाती है। आकारकी सीमा उस प्रत्ययकारी अवस्थामें बाधक नहीं हो सकती। आकार स्वरूपाकार हो जाता है। जैसे जांबुनदकी मिट्टी भी सोनेकीही रहती है। आकारवान् व्यक्तिमत्व उस विशाल तथा गहरे तथ्यको अपनाकर रहता है, साथही अपनेको खोकर

असीम, अथाह बना लेता है। इसी कारण यह संभव होता है कि वह 'आख्यायिक' रहस्य संवादरूप हो जाता है। अनिर्वाच्य का वर्णन किया जाता है। अमावसकी रात्रिमें केवल अंधेरा है। कुछ भी लक्षित नहीं होता। आगे पन्द्रह दिन हलके चन्द्रमाकी कला बढती है। रात उजली होती है। हरेक चीज स्पष्ट हो जाती है। वह चन्द्रमाका सामर्थ्य रातको 'ज्योत्स्ना ज्योतित' कर देता है। यहाँ आत्मनिष्ठा ही एक ऐसी चीज है जो सबका 'रहस्य' धवल कर सकती है। वही देहको आकार की सीमा पार करने को उद्युक्त करती है। कर्मफल तथा कर्मबंध का अन्योन्य प्रभाव देहधारणा है। जहाँ ज्ञानका प्रवेश नहीं वह बचपनही है। तथापि देह धारणाको भी महत्त्व है। तीनों गुणोंकी साम्यावस्था प्रकृति कहलाती है। जब इन तीनोंमें हलचल है, प्रमाण व्यस्त होता, एकाध ज्यादा या कम हो जाता है तब प्रकृतिकी क्रिया, सर्जनशीलता आरंभ होती है। वहाँ साम्यावस्था न होनेसे देहधारणा भी अस्वाभाविक होकर विषमता तथा विवशता को लेकर बनी रहती है। अतः सदैव यह प्रार्थना रहती है कि यह देहधारणा स्वाभावि-कता अपनाये। देहका पोषण त्रिगुणोंकी विषमता न बढ़ावे। उनमें साम्यावस्था निर्माण हो। साधक इसी ओर अग्रसर होनेको उत्सुक है। वह अपनेको उपकृत समझेगा यदि उसे ऐसी महती बात कोई कहे कि जिससे साम्यावस्था के सोपानों पर कदम चढाता जाये।

वस्तुतः नम्रता तथा नमन जीवभावका आविष्कार होना

चाहिये। उसे यह कदापि स्वीकार नहीं करना चाहिये कि वह सबकुछ है। जीव उपाधियुक्त हैही और चाहता भी है उपाधियाँ, मान, सन्मान। जिससे उपाधियों के आवरण कम नहीं होते, बढ़तेही जाते हैं। कर्मफल तथा कर्मबंध और भी जटिल तथा अनिवार्य होते हैं। साधक के लिये यह अवस्था हानिकर है। ये बंध और उसके अटल परिणाम उसे बाधक रहते हैं, वह जकडा जाता है। उससे मुक्त होनेके लिये उसका हृदय व्याकुल रहता है। तिलमिलाकर, तडप तडपकर वह भगवान से प्रार्थना करता है कि कर्मबंधसे जकडे हुए मेरे व्यक्तित्व मुक्त कीजिये। स्वभावस्थैर्य बनाइये। यह सारा झंझट हट जाय।

संभव है कि कई सैकडों साल बीत गये होंगे। बार बार पुनर्जन्म के फेरमें जीवमात्र पडा हुआ है। मनुष्य का यह शरीर धारण केवल इसीलिये है कि उसके द्वारा वह अश्राव्य, सुना जाय। वह अदृश्य देखा जाय। जगत् के समूचे अनुभव केवल इसी एक की ओर संकेत कर रहे हैं। देह व्याकुल है उस असीमका स्पर्श पानेको। यह तो मनुष्यकीही देह है जो जगत् की अन्तिम सीमा है। वही एक पूरी प्रदक्षिणा है। बार बार खोजनेपर कर्मोंके द्वारा प्रयत्नशील रहनेपर भी वह हाथ नहीं आता। किन्तु एक बात अवश्य होती है कि हमारी श्रद्धा अधिक दृढ तथा अधिक उत्कट बन जाती है। यही श्रद्धा हमारे प्रयत्न, हमारे कर्म बनाये रखती है। किन्तु वह तत्त्व न तो कर्मफल का अधिकारी है न किसी प्रयत्न का परिणाम।

श्रद्धा अभंग है, प्रयत्न छूटते हैं, कर्म निष्काम हो जाते हैं और आत्मराज अपने स्वरूपमें स्थित होते हैं।

देहकी सीमा, कर्मकी गति तथा जगत्का दिग्कालयुक्त आविष्कार उसकी पहचानमें हस्तामलकवत् हो जाता है। वह आंतरिक पुकार जीवमात्र को ब्रह्ममय बना देती है। नादब्रह्म का सर्वव्याप्त तथा सर्वलिप्त वैशिष्टच यही है। हृदय की तंत्री छेडती हुई वह पुकार हरेक के अन्तर को देवताभावसे भर देती है। भगवान् श्रीकृष्ण की वाक्सुधा हर मानव के मनमें अटल विश्वास तथा अगाध श्रद्धा पैदा कर देती है। त्रैलोक्यका विकास या विनाश, संकोच या विस्तार, पोषण या विघटन जिस आधारपर हो रहा है वह जगत्की सिकुडन, घडी-पद स्वयमेव श्रीभगवान् हैं। नित्यनूतन तथा सनातन संसार की लीला पुरुषोत्तम के इंगितपरही अवलंबित है। यहाँ पुराना छोडा जाता है, नया स्वीकार होता है। तिसपर भी वह सनातन है। जिस प्रकार संसार की सनातनता है उसी प्रकार श्री भगवान् भी पुराणपुरुषोत्तम हैं। संसार तो उन्हींकी लीला है। जब आप अर्जुनसे सुख संवाद कर रहे हैं तब वह आश्चर्यसे युक्त होकर हर्षविभोर हो उठता है। उसकी बुद्धि उसमें विनीत तथा प्रीतियुक्त है। श्रद्धा विमल है, विश्वास अटल है तथा अंतःकरण देवताभावसे ओतप्रोत है। श्रीभगवान् की महिमामयी अपार करुणा बह रही है।

श्री भगवान् उवाच् –

**इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।**
**विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ।।१।।**

मैंने यह अव्यक्त योग विवस्वान को समझाया । उसने मनु को तथा मनु ने इक्ष्वाकु को बताया ।।१।।

मग देव म्हणे पंडुसुता । हाचि योग आम्ही विवस्वता ।
कथिला परि ते वार्ता । बहुता दिवसांची ।।१६।।

अर्थ :– श्रीभगवान् अर्जुनजी से कह रहे हैं, "हे पंडुसुत, यही योग हमने विवस्वत को समझाया था । किंतु वह बात तो बहुतही पहले की है ।

व्याख्या :– श्रीभगवान् कहते हैं, "हे अर्जुन ! तेरा तपःसामर्थ्य बहुतही श्रेष्ठ है। तेरी साधना अव्वल है। इसी कारण तुझमें दैवी गुणोंका प्राबल्य है। ईक्ष्वाकू, मनू जैसे राजर्षियों के समान तेरी योग्यता यहां मान्य हो रही है। यह बात निःसंशय उन दैवी गुणोंकी है कि जिससे वह दैव भी तेरी सहायता कर रहा है। इस सुखसंवाद का अधिकारी होना कोई मामुली बात नहीं। यह योग 'कर्मयोग' है। वह हमने पहलेपहल बहुतही पूर्व श्रीभगवान् सूर्यनारायणसे कहा । यह बात बहुतही पुरानी है ।

मग तेणे विवस्वते रवि । हे योगस्थिति आघवी ।
निरूपिली बरवी । मनुप्रती ।।१७।।

अर्थ :– तत्पश्चात् विवस्वत् सूर्यने यह संपूर्ण योगस्थिति

ठीक रूपसे मनुको समझा दी ।

व्याख्या :– उस रवि नामक विवस्वान् के द्वारा यह योग-स्थिति ब्रह्मपुत्र के साथ रहनेवाले मन्वंतर मनुको यथाविधि अत्युत्तम प्रकारसे कही गयी ।

मनुने आपण अनुष्ठिली । मग ईक्ष्वाकुसि उपदेशिली ।
ऐसी परंपरा विस्तारिली । आद्य हे ॥१८॥

अर्थ :– मनु ने स्वयं उसका अनुष्ठान किया और ईक्ष्वाकू को भी इस का उपदेश किया । इसप्रकार इस योग की प्रारंभिक परंपरा फैल गयी ।

व्याख्या :– इस योगस्थिति का यथाशास्त्र अनुष्ठान मनुद्वारा हुआ । बादमें उसने वह योग ईक्ष्वाकुसे कहा । उसको उपदेश दिया । इसी प्रकार आद्यतनसे यह परंपरा विस्तार पाकर ईक्ष्वाकूतक आ पहुँची ।

**एवं परंपराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।**
**स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥२॥**

हे शत्रुतापन अर्जुन ! इस प्रकार परंपरासे प्राप्त हुए इस योग को केवल राजर्षियोंने ही ठीक ठीक जान लिया । संसारमें उसके व्यक्त होनेको दीर्घ कालावधि बीत जानेके कारण अब वह नष्ट हुआ है ॥२॥

मग आणिकही या योगाते । राजऋषी जाले जाणते ।
परि तेथुनि आता सांप्रते । नेणिजे कोण्हि ॥१९॥

अर्थ :– उसके बाद भी और कई राजर्षि इसे–इस कर्मयोग

को–जाननेवाले थे। तथापि उनके पश्चात् अब इस काल कोई जाननेवाला नहीं रहा।

व्याख्या :– यह योगस्थिति सर्वथा आद्य है। वही ज्ञान है जो आदिकारण का भी आद्य है। वही परंपरासे विस्तृत हुआ है और अनेक रार्जषियोंने अनुष्ठानद्वारा इस योगस्थिति का साक्षात्कार कर लिया। अब आजकल वह योग जाननेवाले नहीं रहे। अतः इस संबंधमें भी किसीके मनमें उत्साह भी न रहा। यद्यपि उस योग के बारेमें आदरयुक्त मान्यता दीख पडती है तो भी उत्साह के तथा अभ्यास के अभाव के कारण वह सबकुछ ऊपरी है। योगस्थिति की यथार्थता पहचाननेवाले, अभ्यास तथा अनुष्ठानद्वारा साक्षात्कार करनेवाले और उत्साह के साथ साकार द्वारा दृढ़भूमिको प्राप्त हुए व्यक्ति आजकल नहीं के बराबर हैं।

जहाँ उत्साह नहीं दिखाई देता वहाँ आंतरिक लगन भी नहीं होती। वहाँ केवल उपरी भूलभुलैया है। बुद्धि विकास का प्रधान कारण है। वह विश्वव्याप्त 'महत्' के विकास का क्षमतासंपन्न अंश है। उसकी यथार्थता न नापने के कारण वह भी कार्यदर्शी नहीं होती। बुद्धिकी विविध शक्तियाँ या विशिष्ट कार्यनिदर्शक आविष्कार, मति, प्रज्ञा, धी आदि हैं। बुद्धिद्वारा होनेवाले निश्चय को विशिष्ट सीमातकही अपनाया जाता है। इस व्यवसायमें भी आनन्द है। निश्चयात्मकता में स्थैर्य है। वह स्थैर्य शाश्वतिकी आभा दिखलाता है। वहाँ आनन्द का सर्जन है। तथापि उसे अपनी मर्यादा है।

निश्चयात्मक बुद्धिका कार्य उसकी समस्त शक्तियों द्वारा अनुप्राणित नहीं होता। मति, प्रज्ञा, धी आदि के द्वारा एक साथ उसके निश्चय को नहीं स्वीकृत किया जाता। उनमें संदेह बना रहता है। एकाध अनुगामी होती है किन्तु एकाध पराङ्मुख भी रहती है। यह बुद्धिभेद उस आनन्द को स्थैर्यता नही देता। जहाँ स्थिरता नहीं वहाँ 'स्व' भी "स्वस्थ" नहीं हो सकता। बुद्धिके भिन्न भिन्न आविष्कार 'भेद' के गाते रहते हैं। उनमें न तो समन्वय है, न सुसूत्रता, न स्वाधीनता। बुद्धिकी शुद्ध स्थिति में स्वाधीनता है, एकात्मकता है, अभेद है। निश्चय अपनी समस्त शक्तियोंद्वारा अपनाया जाता है। वहाँ बुद्धिभेद नहीं होता। किसीभी प्रकार का संदेह भी नहीं रहता। ये शुभचिन्ह प्रकट होनेपर बुद्धि अपनी यथार्थता अपनाती है। आत्मीयता बढ जाती है। योगस्थिति का प्रसाद प्राप्त होता है। वहीं उत्सुकता सादर तथा सत्कारयुक्त होकर दृढभूमि अपनाती है।

प्राणिया कामीं भरू। देहाच्विवरी आदरू।
म्हणोनि पडिला विसरू। आतमबोधाचा ॥२०॥

अर्थ :– आजकल जीवमात्र सर्वथा विषयसेवन में ही अतिलीन तथा इन्द्रियों के कायल, देहात्मवादी होनेसे इस आत्मबोध को भूल गया।

व्याख्या :– मनुष्य में सामान्यतः देहबुद्धि का प्राधान्य रहता है। किन्तु वह भी अंतमें फँस जाती है। वस्तुतः यह शरीर आत्माका मन्दिर है। उसका प्रयोजन आत्मदर्शी है।

किन्तु जब देहबुद्धि मोहयुक्त रहती है तब वहाँ नशा के सिवा और कुछ नहीं। मोह बुद्धिको घुमाता है और मनुष्य केवल देहप्रवण, देहपरायण हो जाता है। देहका मूल प्रयोजन ही जहाँ ओझल हो गया है वहाँ देह भी क्योंकर अपनी योग्यता के अनुकूल बनी रहेगी ? बुद्धिका सारा इन्द्रजाल केवल देह के लिये ही होता है। देहका सौंदर्य बढ़ाने के सिवा उसे और कुछ सूझता नहीं। वहाँ ज्ञानवस्था कहाँ रहेगी ? वह तो निगूढ़ तहमें मौन है। जो श्रवण साक्षात्कारप्रद हो सकता है वह अब उस रूपमें कैसे रहेगा ? सर्वव्यापक दृष्टि की गति भी स्तब्धसी बनी रहती है। यह देहधारणा प्रयोजनशून्यही है। चतुर्विध देह से परे होकर उस साक्षीभूत 'तत्त्व' का अनुसरण यहाँ अभावरूप है। जो कुछ है वह व्यर्थ, गतिहीन, मतिमूढ है। वहाँ न प्राणोंकी रक्षा है, वृत्ति निरोधरूप मान है। उन दोनों का आधार जो 'आत्मरूप' वही ओझल होकर रहा। देहधारणा भी उसके सिवा संभव नहीं किन्तु देहमें भी वह विकारवश नहीं। प्रत्यक्ष जीवन में उसका प्रभाव होनेकी अपेक्षा अभाव सा रहेगा तो जीवन भाररूप है। जीवन का कर्म नैष्कर्म्य तब तक संभव नहीं, जबतक वह आत्मसाक्षात्कार रूप नहीं है। हरेक बात उसी आत्माकी अविच्छिन्न धारा है। वही मानो पदमें पद, आत्मामें ही आत्मा जैसा बसा हुआ है। अगर यह ब्रह्मरूपता प्रतीत न होती हो तो देहधारणा अपनी प्रकृति, प्रपंच का बोझ उठाने की क्षमताही पा नहीं सकती। अतः उसका यह अपरप्रत्यय सचमुच बुद्धिवैभवकाही अदृश्य रूप है, वही केवल बुद्धिका सीधासादा आविष्कार। मनुष्य

का व्यवच्छेदक लक्षण बुद्धिकी प्रधानता इसीलिये स्वीकार करता है। तिसपर भी वह परप्रत्यय मुखरित नहीं होता। वह 'अक्षर' मौन है। जीवमात्रको दिया गया संकेत वही नाम है। वह अव्यक्त का अर्थशून्य प्रारब्ध तथा कर्मका विकार-प्रसव परिणाम! यहाँ कर्म न साक्षी है न आत्मलक्षी! किंतु जब हम तपाचरण करेंगे कुछ अनुष्ठान संपन्न होगा तभी संभव है कि इस देहके कणकण में चैतन्य की आभा झलकेगी। उसकी योग्यता सिद्ध होगी और वही देहधारणा–कर्मधारणामें परिणत होगी। अन्यतः जीवित चैतन्य न के बराबर है। लाशकी क्या महत्ता है? वह चैतन्यहीन कलेवर किस दृष्टिसे उपयुक्त? उसी प्रकार साक्षात्कारशून्य जीवन में न अनुभूति की गहराई है, न जीवन की सचाई, न किसी प्रकार सफलता या सार्थकता!। शब्दकी महत्ता उसके अर्थरूप पर निर्भर है। [न अर्थ है तो न शब्द भी।] अर्थ न हो तो शब्द भी नहीं रहा। अर्थगौरव से लदे हुए शब्द सार्थकता पाते हैं अन्यथा नहीं। उसी प्रकार आत्मलक्षी देहधारणा धर्मयुक्त है, वैसी अनात्मलक्षी नहीं हो सकती। वहाँ केवल देहकी महत्ता रहती है। देहमें स्थित जो चैतन्य, अक्षर, बुद्धि, ज्ञान या प्रकाश का प्रभावही ओझलसा रहने के कारण स्वरूप जागृति ही नहीं है। इसीलिये मनुष्यमात्र को वह अव्यक्तपर भाव स्पष्ट नहीं होता, प्रतीत नहीं होता। जन्म जन्म में किये गये पुण्यके प्रभावसे अगर कुछ वैराग्य वैभव उदित हुआ तो यह देवतादर्शन परमात्मदर्शन संभव है। और एक उपाय है। संतोंकी कृपाके कारण मनका मालीन्य दूर होनेपर भी बुद्धि परमात्मदर्शी हो सकती है। संतोकी

कृपा मनकी विकारवशता को नियन्त्रित करने में विशेषरूपसे क्षमतासंपन्न है। बुद्धिका विचार अब विकारवश नहीं हो सकता। उसमें दृढता के साथ आत्मप्रेरणा प्रस्फुरित होती है। अपनापन आ जाता है। उसकी शुद्धता संपन्न होती है। संतोंका दर्शन इस समय उस परतत्त्व के सगुण रूपकी प्रत्यय-कारिता दिलाता है। बुद्धिका व्यवस्थापन धीरे धीरे व्यवसा-यात्मक होता है। उसी विवेक, वैराग्यादि अभ्यास द्वारा जब वह इस प्रकार अपनायी जाती है तभी सगुण की विश्वात्मकता अनुभव होती है। प्रत्यक्ष ज्ञानयोग्यता प्राप्त होनेकी यह उपांत्य अवस्था है। इस अवस्था में यह नितांत आवश्यक है कि कुछ भजनादि भक्तिसाधना का अनुष्ठान होता रहे। वस्तुतः यहाँ निःस्पृहता, कर्तव्यप्रामाण्य, व्यावहारिकता तथा निरामयता की प्रतीति श्री भगवान को कृपासे आगे चलकर संभव होती है। साधकको भी यही आशा रहती है। वैराग्य वृत्तिका प्रमाण संतुलित न रहनेपर साधक को फिर अभ्यास से वह अपनाना आवश्यक होता है। वैराग्य की मात्रा घटने-बढनेकी अवस्था आंदोलित तथा अस्थिर साधना की परिचायक है। अतः अभ्यास द्वारा विराग में उत्कटता स्थिर करना निरतिशय आवश्यक है। अन्यथा साधना का साफल्य फिर दूर रहेगा। धारणा का मूल चैतन्य ही नहीं अपनाया जायेगा। केवल साधक वृत्ति रहेगी। वहाँ 'स्व' का अवलंबन नहीं। एक प्रकार फँस जानाही होगा। देवता के सामर्थ्यसे, दैववशात् अगर हमें अपनाया जायेगा, तो संभव है कि हम उस जाल को

परास्त करेंगे। हम ऊपर उठेंगे। अंतिम अवस्था को पायेंगे। वहाँका दर्शन सचमुच संतों का साही रहेगा। संतकी प्रतिष्ठा, गति, अनुभूति तथा धारणा हम पा सकेंगे। जिसे हम 'बोध' या 'आत्मा' कहकर शब्दावडंबर निर्माण करते हैं, वह अवडंबरमात्र न रहकर अपनी सचाई तथा गहराई के साथ उसकी सार्थकताका प्रत्यय पाया जाता है। क्योंकि अब उन शब्दोंके पीछे अर्थसिद्धता है और जो कुछ है उसका साक्षात्कार बुद्धि अनुभव करती है। ऐसी अवस्था में केवल शब्दरूपता अर्थवान नहीं हो सकती। उन शब्दोंमें उस असीम का वाहन होनेकी क्षमता नहीं होती। अतः शब्द अव्यवस्थित अनुवाद सा रह जाता है। और मनुष्य उन अर्थविहीन वाक्योंद्वारा ही ज्ञान में अवगाहन करना चाहते हैं। शब्द के पीछे अनुष्ठान तथा अनुभूति न होनेके कारण उसकी गहराई अज्ञानी कभी नहीं पा सकते। उनकी आशा निराशा में ही परिणत होती है। परिणामतः वृत्ति अनुवृत्त न होनेसे केवल देहबुद्धिसे ही इसका गौरव बढ़ाया जाता है जो प्रयोजनशून्य होनेके कारण निष्फल है। अंततः देहबुद्धि के अनुकूल जो है उसीका ही विजय सा होकर, वही महत्त्व बढता है और अनात्म में ही अपनापन बोया जाता है।।

अव्हांटलिया आस्थाबुद्धि। विषयसुखाची परमावधि।
जीव तैसा उपाधि। आवडे लोकां।।२१।।

अर्थ :– वहाँ आत्मविषयक न बुद्धि रही न आस्था। टेढ़े मेढे रास्तेपर चलना ही पसंद हुआ। विषय सुखकी

परमावधि होनेके कारण जीवमात्र की यह उपाधि सबको बहुत भाने लगी।

व्याख्या :– अनात्मवादी मनुष्य की यह स्थिति। न उसे परमार्थ बुद्धि न परार्थ में आस्था। वह केवल 'स्वार्थ' के सिवा और कुछ देखता नहीं। उसकी जीवोपाधि केवल भोगमयता का आधार होकर रहती है। वहाँ और कुछ सूझताही नहीं। वहाँका कर्म ज्ञानसे कोसों दूर है। आस्तिक्यबुद्धि मार्गविहीन है। वहाँ व्यक्तित्व केवल बोझ है। जीव के सिर यह निरर्थक बोझ ढ़ोना है। वहाँ 'स्व' का अवलंब नहीं, जीवको गति नहीं, उपाधि से विरक्ति नहीं। वह जीवित खाली दूसरे का बोझ, एक अनावश्यक प्रयोजनसून्य, परावलंबी कर्म है। यह सत्य है कि जो वैराग्य का श्रीगणेश भी नहीं जानते, वे भी जीवन का नित्य व्यवहार अनायास कर सकते हैं। न वे यह जान सकते हैं कि उनका आचार धर्महीन, कर्म फलयुक्त तथा बंधक और जीवन साक्षात् अनुभूतिसे विहीन है। उन्हें इन बातों की तनिक भी कल्पना नहीं हो सकती। वैराग्य की बात तो सर्वथा विलक्षण है। वह 'रंचक घटमें' आये बगैर उसकी कल्पना भी कोई कर नहीं सकता। प्रत्यक्षानुसंधान के सिवा विरक्ति की दीप्ति, रीति, अनुभूति या गति आकलन नहीं हो सकती। स्वप्नमें भी उसका परिचय अन्यान्य लोगों को संभव नहीं। विरक्ति के सिवा अनात्म के प्रति विराग निर्माण होना दुष्कर है। वहाँ हम केवल अनात्मभाव को ही, कुछ दूसरी ही बातको अपनाते हैं। जिसे सचमुच कुछ भी सत्ता

नहीं वही सत्तावान होकर आत्मासे भी बढ़कर अतिव्याप्त रहता है। उस असीम अव्यक्त का प्रथम आविष्कार यद्यपि बुद्धितत्त्व है तो भी वह मूल नहीं। बुद्धितत्त्वकोही 'महत्' नाम है और वह अपनाही महत्त्व मानो बढ़ाता है। उसकी महत्ता यद्यपि विश्वव्याप्त है तो भी वह असीम नहीं, अकुंठित है। उसका विचार रहस्य इसी कारण ससीम, मर्यादायुक्त तथा परतत्त्वसे ऊपर है। उसको ऊपर उठाना या उसीपर निर्भर रहना वस्तुतः आकाश के फूल या काल्पनिक फूल से सिरको सजाना जैसा है। जिस प्रकार बादल को आधार नहीं, यद्यपि उनका आकाश में संचार होनेके कारण अस्तित्व दीखता है, तो भी वे निरालंब है। बादलों जैसी बुद्धिकी अवस्था। वही बुद्धि मनके द्वारा अपने विचार, अनुभव, महत्त्व को प्रकट करती है। मनका अपना ज्ञान काहे का ? जो बुद्धिमें है वही मनमें। मन न तो मौन रहता है, न ज्ञानसाक्षी होता है। चाहे कुछ भी बकता जाता है। विशेषतः यह कि वह बुद्धिका ही मंडन करता रहाता है। परन्तु मन तथा बुद्धिसे परे होनेवाली कुछ महत्त्वपूर्ण चीज है इसकी जिज्ञासाही नहीं रहती। बुद्धि देहधारणाको ही महत्त्व देनेवाली, मन बुद्धिकी महत्ता बढ़ानेवाला और देह जीवके लिये भोग रूप उपाधि, फिर यह कैसे संभव है कि बुद्धि उस परतत्त्व की और संकेत करे ? वहाँ बुद्धिका लक्ष्य वही है। देहधारणाकोही महत्त्व रहता है। मनुष्य जीवित का मंडन केवल बुद्धिही है ऐसी धारणा। ऐसे अनात्मवादी बुद्धिनिष्ठ होते हैं किंतु आत्मनिष्ठ

नहीं। वहाँ सभी बातोंकी कसौटी केवल बुद्धि है। बुद्धिप्रामाण्य ही महत्त्वका माना जाता है। यह नहीं देखा जाता कि उससे भी परे कुछ दिव्यानंद है। वह बुद्धि केवल अहंपोषण में मस्त है। उसके सारे निश्चय, सारा ज्ञान, सारा वैभव केवल अहंपुष्टि के लिये, अहंता बढ़ाने के लिये रहता है। वहाँ परतत्त्व के प्रकाश की आभा नहीं, किंतु बुद्धि के नवनव उन्मेष के अहपुष्ट विचार विलास! मनुष्य कई बार अपना कथनही सत्य मानता है। वह कुछ हदतक सही भी हो सकता है परन्तु सत्यको भी अनुशासन की नितांत आवश्यकता है। वास्तवताविहीन सत्य सचमुच विसंगत बात है। आकाश में फूल होही नहीं सकता वैसेही देहबुद्धिका समूचा विलास केवल अभावात्मक, अनात्मवादी है। न यहाँ किसी प्रकार शांति, न मनको ध्येयवादिता। वह तो भूला भटकता रहता है। ऐसी अवस्था में संभव है कि मनुष्य के जीवनकी अवधि नष्ठ हो। किन्तु मनकी भ्रमन्ति जारी रहे। आयुष्य की सीमा निश्चित है किन्तु मन सापेक्षतासे असीम। एक देहके बाद दूसरी देहमें वह इसी प्रकार ध्येयहीन रहकर सारे आयुष्य को वह निष्फल बना देता है। मनुष्य की देहधारणा सचमुच निरर्थकसी हो जाती है। सिरपर गूंथे हुए फूल की सुगंध ली जाती है किन्तु कोई सिर का विचार नहीं करता। फूल का विचार है, सुगंध भी अपनायी जाती है किन्तु सिरके बारेमें अनास्था है, यही भूल है। किन्तु जब उसके सबंध में भी आस्था निर्माण होगी तब यह स्पष्ट होगा कि फूल और सुगंध दोनों उपरी है। महत्त्व सिर को है, तब वहाँ देवताभाव,

श्रेष्ठत्व जागृत होता है। वहाँ जीवन के बारेमें नये विचार प्रस्फुटित होते हैं। आयुष्यकी सफलता तथा सार्थकता का विचार शुरु होता है। किन्तु यह कठीनसी बात है। लोग इस ओर नहीं देखते। उन्हें यह सब कुछ खपुष्प के समान लगता है। वैराग्य उनकी दृष्टिसे ओझल है। वहाँ जीवित को किसी भी प्रकार आधार नहीं। सिरमें गूंथे हुये फूल की कहानी इसी प्रकार है। सिरका फूल और आकाश फूल दोनों एकही। दोनों में व्याप्ति है किन्तु पूर्ति नहीं। अतः उनको नक्षत्र का फूल भी कहा जाता है। मनुष्य की देहमें यही बुद्धि-तत्व है। आकाश फूल आकाश की ओर देखता है। सिरपर रखे हुए फूलकी दृष्टि भी ऊपर है। वह सिर को नहीं देख सकता। अतः उसका व्यवहार आपाततः उल्टा रहता है। मूलभूत पोषणकी दृष्टि यहाँ अनुस्यूत नहीं रहती। जो कुछ होता है वह ऊपरी। अहंपोषण के सिवा और कुछ नहीं रहता। यहां वैराग्य का उदय कैसे संभव है ? किंतु जब यही बुद्धि—सिरका फूल—नक्षत्रफूल जब अहंपोषण की एवजमें अपने सच्चे पोषण की ओर ध्यान देगा तो सम्भव है कि मनुष्य का पोषण यथाधर्म होता रहेगा। वहाँ मनुष्यत्वकी दीप्ति उदित होगी। अन्यथा उस पोषण में मनुष्य की स्थिति नष्ट भ्रष्ट होती है, वह केवल सर्जनशीलता के सिवा और कुछ दे नहीं सकती। मनुष्य की पचनक्रिया बिगड जानेपर देहकी सारी स्थिति दुःसह हो जाती है। प्रकृति का अन्न है साम्यावस्था। तीनों गुणोंकी साम्यावस्था जब और जहाँ संभव है तब वैराग्यसूर्यका प्रकाश फैला जाता है। अन्यथा हीनबल नक्षत्रकी भाँति मनुष्य-

जीवित कृपण, सामर्थ्यरहित, पराङ्मुख, मनदुर्बल, ममता से व्याप्त तथा शोकाकुल हो जाता है। ऐसी अवस्था में ये अन्य बातें ही महत्त्व की होती है। वृत्ति अंतर्मुख नहीं होती फलस्वरूप सबकुछ व्यर्थ हो जाता है। व्यर्थताही जब बनी रहती है तब जीवित की सार्थकता सदाके लिये असंभव है। वह खपुष्प के समान निरर्थक होता है। देहधारणा की ध्येयहीन अवस्था जीवित को बोझ बनाती है। क्योंकि मनकी संपन्नता वहाँ नहीं। दुर्बल मन तथा दरिद्री धारणा कर्मगति को रोकने में सर्वथा असमर्थ है। मनुष्य जिन्दा रहता है इतनाही। जीवनयापन चलानाही उसकी मुक्ति !!

येऱ्हवी तऱ्हि खवुणियांच्या गांवीं।
पाटाउवें काय करावीं।
सांगे जात्यांधा रवि। काय आथी ॥२२॥

अर्थ :- दिगंबर दीक्षा प्राप्त योगी को (क्षपणक या जैन) श्रेष्ठ वस्त्र की आवश्यकता ही क्या ? जो जन्मतः अन्ध है उसे सूर्य की क्या महत्ता ?

व्याख्या :- सिर बुद्धिका द्योतक माना जाता है। उसका सचमुच रत्न है आत्मनिष्ठा। वह निगूढ रत्न छोडकर जब खाली उपरी रत्नोंकी ओर लक्ष केंद्रित करेंगे तो क्या पायेंगे ? सिरपर गूंथा हुआ अन्य रत्न या कलंगी जीवितहीन है। ऐसे बाह्य रत्नोंको या कलंगी को क्या जीवित है ? वह तो असंभव है। इस प्रकार का कथन सचमुच नंगा असत्य है। जीवन की

वृत्तियां भी अपने आपमें नंगी हैं। हमारा व्यवहार भी आच्छादित सा कहाँ है ? वह भी निरालंब, छत्रहीन है। आत्मनिष्ठा का सच्चा छत्र जब तक बुद्धि के पास नहीं है तब तक यह संपूर्ण जीवन ही छत्रहीन, निराधार है। ऐसे खुली बात को आच्छादन की क्या जरूरी ? और वहाँ उँचे वस्त्रोंकी क्या कीमत ? वाणीका विलास विदग्ध होना चाहिये, जीवन की स्पृहा विशुद्ध रूपमें निर्माण होनी चाहिये, यह जो प्रपंच वाणी, अक्षर तथा वृत्तियों से ओतप्रोत है वहाँ यथोचित आचार तथा अनुशासन और विचारों का परतत्त्वस्पर्शी उन्मेष होना आवश्यक है। यही वस्तुतः सच्चा आलंबन, आच्छादन या ऊँचा वस्त्र है। केवल उपर्युक्त अवस्थामें ही ऊँचे वस्त्रोंसे वृत्तियों को ढँका देना शोभा देगा। वहीं अलंकारों के लिये उपयुक्त जगह है। वहाँ वस्तुतः उँचा वस्त्र क्या है ? वह सचमुच मनोबल है। बुद्धिको प्राप्त हुई तारतम्य दृष्टि है। उसकी वह सर्वथा, सर्वंकश रूपमें चारों ओरसे पूर्णरूपेण विकसित अवस्था है। यहाँ वस्त्रादि की शोभा सौगुना बढ जाती है। वही मानो मनुष्य की देह का दैवी ऐश्वर्य ही प्रकट हुआ है। वस्तुतः यह महत्त्व की बात विकारों के सपने में भी नहीं आती। अतः उनकी ओरसे हेतुतः दुर्लक्ष, अनवधान हुआ करता है। यही समाज में सर्वत्र पाया जाता है। यह अन्यथा स्थिति बुद्धिके लिये अपना रंजनमात्र रहती है। वहाँ वैराग्यकी भाषा है ही नहीं। जहाँ वैराग्य नहीं, वहाँ आलंबन नहीं, जहाँ सच्चा आलंबन नहीं वहाँ आत्मनिष्ठा काहेकी ?

वहाँ सबकुछ आच्छादनरहित, खुला है। मनुष्य जीवन के पोषण की कल्पना भी ऐसी बिलकुल सीधी। विषय और रंजन दोनों एक दूसरे के पर्यायवाची। खाना, पीना, सोना आदि क्रियाओं में जीवन का इतिकर्तव्य ! इन्हीं बातों की निरतिशय आस्था। वहाँ वैराग्य की बात कोसों दूर है। स्वभाव में अहंता और उसके अनुकूल विषयोपभोग का बडा भारी बोझ हरदम सिर पर लिये आदमी घूमता रहता है। ज्ञानदर्शन की न चाह है, न लगन। उससे ऊपर उठना बहुतही कठीन है। सभी कर्म यद्यपि ज्ञानमें परिसमाप्त होते हैं तो भी उसके लिये ज्ञानाग्नि की जरूरी है। जहाँ यह अग्निदर्शन नहीं वहाँ परिसमाप्ति, तृप्ति, सफलता काहेकी ? केवल दैववशात् वह ब्रह्मांड का सारसर्वस्व प्रत्येक को अनायास प्राप्त होगा यह कहना सरासर भूल है। किसी बडे महत्त्वपूर्ण कार्यारंभ के लिये शुभ तिथि देखी जाती है। उस तिथी को चंद्रबल की आवश्यकता रहती है। जहाँ चंद्रबल नहीं वहाँ संपन्नता, स्थिरता तथा सफलता भी नहीं होती। वैसे 'पिंड' तथा 'ब्रह्मांड' के सामरस्य की अनुभूति केवल दैववशात् असंभव है। काल्पनिक चंद्र या चंद्रबल किसी भी प्रकार व्यक्ति को समुन्नत करनेमें असमर्थ है। भ्रामक आशा गंधर्वनगर में मनुष्य को अपना ऐहिक प्रपंच कैसे दीख पडेगा ? वस्तुतः जिसके पास न आस्था है, न लगन है, न प्रेम है, न सच्ची उत्कंठा, उसको यह आत्मनिष्ठा का भार निःसंशय दुःसह है। जिस तिथिको चंद्रबल ही नहीं, उसे क्या हम पौर्णिमा की

महत्ता देंगे ? अगर वह अमावस्या हो तो फिर क्या सर्वत्र अंधेर ही अंधेर !! अतः आवश्यक है कि वह ज्ञानसाधना–चंद्रबल–आत्मनिष्ठा अपनी देहमें प्रोत्साहित होनी चाहिये। उसकी गतिमानता खुद प्रयत्नशील रहना चाहिए। यह खाली खेल नहीं। देहबुद्धि से एकरूपता पानेपर क्या यह हाथ आयेगा ? बारीश की रिमझिम क्या उपयोगी हो सकती है ? न वहाँ बाढ है न खेतीको पूरा पानी। केवल रिमझिम चल रही है। या इसके खिलाफ जोरोंकी वर्षा। अमर्याद बाढ़, खेतोंकी पूरी नुकसानी !! उससे क्या लाभ ? कष्ट तथा तकल्फि के सिवा वहाँ और कुछ नहीं। वह न वृष्टि है न अनुस्थिति कि जो सचमुच जनकल्याण का मार्ग खुला करे। उजली रात है, चाँदनी चारों ओर फैली हुई है तोभी घरमें दियेकी आवश्यकता हैही। दिये बिना घरके व्यवहार कैसे संभव है ? दियेकी ही आवश्यकता है। यह तो बिलकुल स्पष्ट है कि यह संपूर्ण कथनही मार्गदीप है। उसके प्रकाश में वह वस्तु अपने आप प्रतीयमान होगी। किन्तु एक बात और है कि उसके लिये दृढ़ लगन होनी चाहिए। चातक चन्द्रमा की राह देखता है। वह चाँदनी में संतुष्ट है। चातक के लिए चाँदनी की आवश्यकता है किन्तु हमारे लिये केवल चाँदनीही नहीं और कुछ आवश्यक है। हम घरमें रहते हैं। ज्योत्स्ना होनेपर भी घरमें दिया आवश्यक है। चातक की संतोषवृत्ति हमें असंभव है। आकाश में चन्द्रमा है और वह बहुत उँचाई पर। उसकी ज्योति स्वयंपूर्ण कहाँ है ? भगवान् सूर्यनारायण की वह दीप्ति चन्द्रमा की विशिष्ट अवस्था होनेपरही उसे

प्राप्त हो सकती है। उसे हम अमावस्या कहते हैं। रवि चन्द्र की वह एकरूपता जैसे होती है वैसेही धीरे धीरे प्रकाश का पर्वकाल शुरु होता है। चन्द्रकला नित बढ़ती जाती है। वही सच्चा दिया जलता जाता है। इसी ज्ञानज्योति के कारण साधकको आगे बढ़नेको प्रोत्साहन, मार्गदर्शन तथा अनुसंधान प्राप्त हो सकेगा। जनसाधारण की दृष्टि गृहस्थी, प्रपंच, ऐहिक ऐश्वर्य, लौकिक प्रतिष्ठा और सर्वसाधारण आचार–विचार इन्हींकी परिधिमें घिरी हुई रहती है। क्या यहाँ यह कैसे संभव है कि कुछ अधिक व्यापकता तथा गहन गहराई अपनायी जाय ? जीव तथा जीवन, उच्चार तथा आचार, धर्म की धारणा तथा देहमें छिपा हुआ देवताभाव आदिके बारेमें कुछ निश्चित धारणा हैही नहीं। जहाँ न स्वार्थ है, न परार्थ है किन्तु सच्चे अर्थमें परमार्थ है, जहाँ देहपृथक्करण-रूप ज्ञानाविर्भाव है, जहाँ केवल वैराग्यही है, जहाँ अंत:करणही अलंकरण है, वहाँ केवल देहबुद्धि में परमात्मतत्त्व का सन्निवेश करना सरासर भूल है। किसी भी पर्यायमें देहबुद्धि या देहात्मवाद उस आत्मवादी से नि:संशय कनिष्ठ है।

वहाँ वैराग्य तो यहाँ आशापान, वहाँ नि:स्पृहता तो यहाँ देहकी चिरंजीवताही मानो स्वीकार। यह देहधारणाही महत्त्वपूर्ण तथा अजरामर स्वीकार करनेमें कैसी बडी भारी भूल है ! क्या ज्ञानकी एक बूंद भी ऐसी अवस्था में प्राप्य है ? जो कदापि संभव नहीं, क्या उसे संभाव्यता की पात्रता हम ला सकेंगे ? वहाँ केवल ज्ञानत्व है। यहाँ हम देहमें पांचभौतिक

तत्त्वोंका ही आविष्कार पायेंगे। तिसपर भी यह देह सुप्रतिष्ठित करनेकी चाह सर्वविलक्षण होकर सर्वसामान्यसी दीखती है। देहमें स्थित बुद्धि अनात्मवादी रहती है, देहकाही आलंबन स्वीकार करती है। न केवल देहमें बुद्धितत्त्वका अंश है, किन्तु समूचे शरीरमें, उसके कण-कणमें वह व्याप्त है। देहमें बुद्धितत्त्व प्रधान है किन्तु बुद्धितत्त्व भी उस अव्यक्त का एक 'महत्' आविष्कार मात्र है। अतः जहाँ महत् है, उसके अन्तर्गत वह सर्वसाक्षी निगूढ परमतत्त्व भी निहित है। यह देखा जाता है कि महत् अपनीही महत्ता बढ़ाता, किन्तु वह स्वयं जिसका स्फुल्लिग है, उसकी महत्ता अपनाने में असमर्थ रहता है। यही कारण है कि जिससे बुद्धि अनात्मवादी, देहात्मवादी हो जाती है। जहाँ नामोच्चार सामर्थ्य है, जहाँ मानो वह साकार–निराकार के अतीत वह आकारही मनुष्य-रूपमें ऐश्वर्ययुक्त हो आया है, उसकी तुलना में मनुष्य के चेहरेपर, या माथेपरही तेजकी पराकाष्ठा है, मनुष्य की बुद्धिमें ही ज्ञानसर्वस्व है वगैरह कहना नितांत व्यर्थ है। वस्तुतः जीवन में यही मुख्य है, मुख है। किन्तु लोग इसका विचार नहीं करते और जीवनयापन करते हैं। उन्हें मुख रहता है किन्तु दंतहीन मुखके समान निरर्थक। उनका वार्धक्य वस्तुतः इस सच्चे तथ्यसे पराङ्मुख रहने में है। अतः उनसे सगुण की सत्ता, महत्ता तथा परतत्त्वस्पर्शी क्षमता दूर रहती है। उसे वे देख नहीं सकते। वहाँ जो ज्ञानदृष्टि का असीम वैभव भरा पडा है, उसे देखते नहीं। वहाँ बुद्धि मानो अन्धी

हुई हो। चंद्रबलही नष्ट हुआ। केवल घर गृहस्थी में और देहपोषण में वह मग्न रहती है। वस्तुतः उसके पार्श्वमें जो दीपन है, जो दीप प्रकाश देता है उसकी यहाँ न पहचान है न उसका ज्ञान। वह दूरस्थ है जिससे उसे जाननेवाला विरला। वह सर्वविलक्षण नित्यसाक्षी आकाशरूप होनेके कारण, मनुष्य की देहमें होनेपर भी मनुष्य उसे नहीं जानता। वैराग्य के शब्द उन्हें अपरिचितसे रहते हैं, ज्ञानसे परावृत्त रहते हैं। अतः वह जीवन सचमुचही असफल रहता है ।।२२।।

> किं बहिरेयांचे आस्थानीं। कवणि गीतातें मानी।
> किं कोल्ह्या चांदणिं। आवडी उपज ।।२३।।

अर्थ :- बहरों की सभामें कौन संगीत का आदर करेगा? क्या सियार को कभी चाँदनीसे प्यार होगा?

व्याख्या :- गान विद्यामें जिसने प्रावीण्य प्राप्त किया है, ऐसा गायक यद्यपि पूरे कौशल के साथ गा रहा है, तो भी बहरे को उसकी कलामें किसी भी प्रकार रुचि नहीं हो सकेगी। ऊपरी अविर्भावोंसे न वह तुष्ट हो सकता है न उसके गायनसे कलानंद! सियार उजली रातसे घृणाही करेगा। वह स्वयं धूर्त होता है, उसका कार्य सिद्ध होनेके लिये अंधेरकी ही आवश्यकता। उसका जीवभाव देहपुष्टि के लिये लालायित है। क्या वह कभी चाँदनीसे प्रेम करेगा? मनुष्यके लिये तो यह सरासर मूर्खता है, उसपर अज्ञान का गहरा प्रभाव। फलस्वरूप यह जीवधारणा केवल 'ताप' के सिवा और कुछ

नहीं। इन्हीं त्रिविध तापोंका उपशम करने का सच्चा मार्ग छोडकर केवल उनका उल्लेख करके घूमते फिरते रहने में जिनकी जिन्दगी बीतती है, उन्हें ज्ञानके बारेमें आस्था कदापि नहीं हो सकती ॥२३॥

पैं चंद्रोदया आरुतें। जयांचे डोळे फुटती असते।
ते कावळे केंवि चंद्रातें। वोळखती ॥२४॥

अर्थ :– चन्द्रोदय के पहले कौओंकी आँखें मूंदी जाती हैं, क्या वे कभी चन्द्र को पहचानेंगे ?

व्याख्या :– ज्ञानचंद्र का उदय होनेपर जो आँखें मूंद लेते हैं, ऐसे कौओंको उसके प्रकाश की तनिक भी कल्पना नहीं आ सकती। वे चन्द्रमा के प्रकाश को पा नहीं सकते। उनकी आँखें मूंदीही रहेंगी। उनका स्वार्थ, उनका ममताभाव या उनका अपनापन इतना व्यापक रहता है, कि जिससे यह अनायास प्राप्त चन्द्रमा भी उनके सामने ढँकासा रहता है। यह उनका अपनापा उनकी राहमें रुकावट है। दूसरी ओर यह सामर्थ्य है कि यह संपूर्ण ममत्व दूर हटानेकी क्षमता रखनेवाले व्यक्ति इसी धरतीपर विहार करते हैं। परमात्मतत्त्वसे पुलकित हुए ये महात्मा वस्तुतः ज्ञानचंद्रही हैं। ज्ञानरवि का मानो इन्हें आदेश है कि ये ज्ञानप्राप्ति की स्थिति को पूर्णता लायें। उन स्वार्थी लोगोंको इनकी क्या कीमत ? आत्मदर्शनही सचमुच आप्तदर्शन है। ऐसे आप्तको जिन्होंने पाया है, जो दिग्कालातीत ब्रह्मभाव को अपनाये हुए हैं,

जिन्होंने इस ब्रह्मांड का भेदही मुखर किया है, ऐसे पूर्ण चंद्रमा-रूप श्रीगुरु वस्तुतः अनन्त प्रेमधाराओं का वर्षाव करते हुए हमारे स्वाभाविक आप्त हैं। उनसे आप्तसंबंध समृद्ध करनेमें निरतिशय प्रेमकी प्राप्ति है। संपूर्ण जगत्‌ही उनका आप्त है। वे पूर्णानन्दसे ओतप्रोत ईश्वरही हैं। अतः यहाँ विवेक तथा वैराग्य की आवश्यकता है। ये दोनों सहोदर साधक को सच्चे साथी हैं ॥२४॥

तैसी वैराग्याची शींव न देखती।
जे विवेकाची भाष नेणती।
ते मूर्ख केंवि पावती। मज ईश्वरातें ॥२५॥

अर्थ :– जिनके पास न वैराग्य की सीमा है, न विवेक की कल्पना, वे, मूर्ख मुझ परमात्मा को कैसे पायेंगे ?

व्याख्या :– यहाँ विवेक की बात बिलकुल अलग है। विवेक में भी कभी कभी अस्थान में लगन है, एक प्रकार जाड्य है। इससे आदमी प्रयत्नहीन रहता है या प्रयत्नशैथिल्य आ जाता है। फलस्वरूप आत्मीयता का विकास नहीं होता। यहाँ सच्चा आश्रय है वैराग्य। वह आश्चर्यजनक उपाय है। विवेक को वैराग्य की साथ न होनेपर उसकी क्षमता निःसंशय घटती है। वैराग्य में उपरति है, अनासक्ति है। अनासक्ति में असीम सौंदर्य निहीत है। वैराग्य बुद्धि की जडता हटाता है, कर्मकौशल को विकसित करता है, मनुष्य को ईश्वरत्व प्रदान करता है, बुद्धिको ऐश्वर्य प्राप्त कराता है और सच्ची

योगधारणा–योग्य धारणा–निर्माण होती है, प्रसन्नता खिल उठती है। ऐसे वैराग्य की बाततक जिन्हें नहीं भाती, विवेक का श्रीगणेश भी जो नहीं अपनाते ऐसे मूर्खोंको मेरा धाम पाना कैसे संभव है? मुझ ईश्वर की प्राप्ति में वे सर्वथा अपात्र हैं ॥२५॥

कैसा नेणों मोह वाढीनला। तेणे बहुत काळ व्यर्थ गेला।
म्हणोनि योग हा लोपला। लोकिं ईये ॥२६॥

अर्थ :– यह मोह कितना फैल गया है! (वस्तुतः वह षड्विकारों में एक किन्तु वह मानो छः गुना बढ गया है) इसी कारण दीर्घकाल योंही निरर्थक सा बीत गया। अतः यह योग कुछ ढ़का सा, लुप्त सा हुआ है।

व्याख्या :– मानो समय को मोह ने अपनाया है। वह मोहित हो चुका है। इसी कारण उसे अपनी विद्यमानता का भी भान नहीं। समय बीतता है किन्तु उससे जीवन भी क्षीण होता है। बहुतसा काल जानेपर भी वह परमार्थ नहीं अपनाया जाता। उसकी आत्मीयता जीवन में दीख नहीं पडती। परमार्थ की उपलब्धि सच्चे अर्थमें पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ इसीमें है कि वहाँ प्रकृतिसे भी, देहात्मवादसे, बुद्धिनिष्ठासे छुटकारा पाया जाता है। पुरुष सर्वथा निःसंग होकर अत्मवान, सत्तावान तथा सर्वसाक्षीमात्र रह जाता है। वस्तुतः यह होनेकी बात नहीं, वह स्वयंसिद्ध है किन्तु उसका साक्षात्कार नहीं होता। उसके लिये उपाय है वैराग्य! वैराग्यके ही कारण यह पात्रता,

धारणा तथा योगदान संभव है। यह स्पष्ट ही है कि इसी कारण वैराग्य की प्रतिष्ठा है। जब वैराग्य द्वारा आँखोंमें वह ज्ञानांजन डाला जायेगा तभी यह आत्मीयता जीवनमें प्रतीयमान होगी ॥२६॥

**स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।**
**भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥३॥**

अब वही यह पुरातन योग–यह श्रेष्ठतम ज्ञान–मैंने तुझे कहा है, क्योंकि तू मेरा भक्त है और सखा भी ॥

तोचि हा आजि आता। तुजप्रति कुंती सुता।
सांगितला आम्ही तत्त्वतां। भ्रांति न करी ॥२७॥

अर्थ :– हे कुंतिसुत, आज मैंने तुझे वही योग तत्त्वतः स्पष्ट किया है। इसमें किसीभी प्रकार संदेह मत कर !

व्याख्या :– अतः हे अर्जुन ! तू किसी प्रकार संदेह मत कर ! तेरी बुद्धिको संभ्रमित मत होने दे। उसे स्थिर रख। किसी भी प्रकार की भ्रांति नष्ट होनेके लिये यही योग एकमात्र उपाय है। उसे तत्त्वदृष्टिसे ही जाना जाता है। जिसे यहाँ जानना है वह भी 'तू' है। तुझमें भी वही आत्मरूप है जो विश्वव्याप्त है। अतः अकारण अपनी बुद्धिको–महत् को–महत्ता मत दो। अन्यथा भ्रांति रहेगीही। वह भ्रांति का लक्षण त्याग दे। देहबुद्धिके कारण भ्रांति है, उससे निराश बनानेवाली झूठी आशा पैदा होती है। उसे तू क्यों अपनाता है ? एतदर्थ

इस देहको देहात्मवाद के वैभव की लालसा में मत अटका। उसे योगभाव के द्वारा अपनाता जा। तब संभव है कि बुद्धि अपने को मुक्त करायेगी। तभी तुझे योगभाव का रहस्य भी समझेगा। तू भी योगयुक्त रहेगा ॥२७॥

हें जीवींचे निज गुज। परि केंवि राखों तुज।
जे पढ़ियसि तूं मज। म्हणौनियां ॥२८॥

अर्थ :— यह मेरे मनकी निगूढ़ तथा निजी बात है। तू तो मुझे बहुतही प्रिय है अतः वह बात तुझसे गोपनीय नहीं रख सकता।

व्याख्या :— यही सचमुच मेरा अपना रहस्य है। यही मेरी आत्मीय बात है। यह एक ऐसा सर्वविलक्षण ज्ञान है कि जो तेरी रक्षा करने में सर्वथा समर्थ है। तेरा अज्ञान मुझे एकप्रकार आवाहन कर रहा है। वही मुझे पढाने को प्रेरित कर रहा है। तू यह कैसा समझ पायेगा? तुझे इस ज्ञानरहस्य का आधार किस प्रकार प्राप्त हो सकेगा? इस ज्ञानरहस्य द्वारा तेरी कैसी रक्षा की जाय? इन्हीं प्रश्नों के कारण मैं सब सुस्पष्ट कर रहा हूँ। मनुष्य की देह जरा मरणसे कभी अलिप्त नहीं। वह तो एक सुनिश्चित विधान है। वह होताही रहेगा। परन्तु यह भी निश्चित है कि मेरा आत्मीय ज्ञान इस देहमें भी पूर्णता का प्रत्यय दिलायेगा। मनुष्य की देहकी यही महत्ता है। इसमें वह ज्ञान महत्ता ला देता है। पंचप्राणों को भी जिसकेद्वारा प्रतिष्ठा है, जो सर्वथा

स्वयंभू तथा सर्वस्पर्शी है वह नित्य स्वाभाविक ज्ञानही मनुष्य को सच्ची प्रतिष्ठा प्राप्त कराता है। उसका अखंड तथा यथोचित संवेदन जीवनमें बडा आधार है।

तू प्रेमाचा पुतळा । भक्तीचा जिव्हाळा ।
मैत्रियेची चित्कळा । धनुर्धरा ॥२९॥

अर्थ :– हे धनुर्धर ! तू प्रेमकी मूर्ति, भक्ति की आत्मीयता, तथा स्नेहकी आत्मा है।

व्याख्या :– उस प्राणाधार शक्तिके कारण वह चिरंतन आत्मीय संवेदन सर्वत्र साम्यता लाता है। जहाँ देखें वहाँ एकात्मकता का आविष्कार प्रतीत होता है। वहाँ सच्चे प्रेम के सिवा और कुछ नहीं। मूर्तिमंत प्रेमही अनुभव किया जाता है। उसी अनुपात में तुझमें वह उदित हुआ है। तीव्र आस्थासे जो जिज्ञासा प्रकट होती है, जिससे जान लेनेकी उत्कटता तथा उत्कंठा उमड आती है और अंतःकरण के साथ एक आत्मीय लगन सिद्ध होनेके कारण वहाँ सचमुच भक्तिका भावोत्कट आविष्कार अपनापन बढ़ाता है। जीवन में मान-हानिके भी प्रसंग आते हैं, देहबुद्धि के कारण स्वार्थ, लोभ, मान, अपमान आदि के बारेमें एक विशिष्ट धारणा रहती है। किन्तु जब यह सगुण आत्मीयता का उदय होता है तब इन्हीं विचारों में परिवर्तन होता है। ये सभी बातें अनासक्त भावमें परिणत होती है और केवल मित्रता का, आत्मीयता का परिपोष होता रहता है। तब हमारा आचार निर्हेतुक

तथा निरपेक्ष रहता है। किसीभी प्रसंग के कारण मान तथा अपमान का प्रश्नही नहीं रहता। मनकी अस्थिर वृत्ति नष्ट हो जानेके कारण सभी प्रसंग सहज, स्वाभाविक तथा मित्र भावनासे ओतप्रोत रहते है। एकता तथा एकात्मता का यह आत्मीय साक्षात्कार अनुभव करनेवालों में मित्रता के सिवा और क्या रहेगा? वहीं पर जो चैतन्य की कला है वह भी मूर्तिमान एकता है। इन सभीका प्रत्यय हे धनुर्धर! मैं तुझमें पा रहा हूँ। तू मूर्तिमान प्रेम, भक्ति की आत्मीयता तथा मित्रता की चित्कला है ॥२९॥

तू अनुसंगाचा ठावो। आतां तुज काय वचूं जावो।
जन्हि संग्रामारूढ़ आहों। जालों आम्ही ॥३०॥

अर्थ :– तू अनुराग का आलंबन होनेसे तुझे इससे (इस योगसे) किस प्रकार वंचित रखूंगा? यद्यपि युद्धके लिये हम प्रस्तुत हैं तो भी इससे (ज्ञान से) वंचित नहीं करूँगा।

व्याख्या :– वहाँ मन, चित्त तथा बुद्धि आदिका जो विलक्षण सामरस्य अनुभव किया जाता है उसके द्वारा इस जगत की अचेतन वस्तुको भी अपनाया जाता है। वहीं पर भी चैतन्य की क्षमता आत्मदर्शन के अनुरूप है। आत्मविद् जो ज्ञान अन्तर में अनुभव करते हैं वही चित्कला इस विश्वमें भी व्याप्त देखते हैं। वहाँ सर्वत्र एकही अपनापा प्रतीत होता है। अनुसंग की बात भी यह है। जहाँ जहाँ विचार है, आविष्कार है वहाँ वहाँ उसी सगुणता का साक्षात्कारही है। इस देहबुद्धि

के साथ पृथक् व्यक्तित्व वहाँ विसर्जितसा होता है। वहाँ 'संग' ही बाधित रहा। वह उस परमतत्त्व का अनुसंगी बनकर सर्वत्र एकात्मकताका ही प्रत्यय दिलाता रहता है। वह न अपने को देखता है, न अहं को पुष्ट करता है। ममत्व छोडकर "सर्व खल्विदं ब्रह्मम्" की अनुभूति से ओतप्रोत होकर अनुसंगी स्थिरता पा लेता है। मन प्राण तथा कर्म का जो आविष्करण होता है उसमें केवल आत्मीयता ही प्रतीत होती है। यही कारण है कि तू मूर्तिमंत स्नेह मित्रता है। गुणातीत का सगुणरूप, नामातीत का नाम और अरूप का रूप तूही बन गया है। मेरा मन भी इसी कारण आतुर है कि क्या कहूँ ? आत्मैक्य भाव की पराकाष्ठा जहाँ प्रतीत होती है वहाँ वक्तव्य है कहाँ ? मौन ही संवाद है। मौन को मुखर करने जैसा यह कठीन काम है। यह प्रयास होनेपर क्या हाथ आयेगा ? इसका उत्तर है कि कुछ भी नहीं। वह निष्फळ प्रयास रहेगा। उस अनुभूतिका यथातथ्य प्रकटीकरण केवल अशक्य है। प्रकटीकरण को भी एक मर्यादा है। उस मर्यादा को लाँघ कर अधिक कुछ प्रकट नहीं हो सकता है। उसकी कुछ व्याख्या करने में आत्मेक्यभंग है। उस स्थिति में आत्मीयता का अनुसंधान देहमें स्थिर नहीं रहेगा। जो कुछ भी आचार होगा; हिलना, चलना और हलचल आदि सब कुछ अपने स्वरूप में स्थिर होनेमें कठिनाई है। उन्हें सत्स्वरूप में सामरस्य पाने के लिये जो प्रयास होंगे जो क्रियाएँ–खिचना, पाडना, पाना, आक्रोश करना, सुनना, देखना, उडना आदि–होंगी

उनके द्वारा केवल असफलताकाही प्रत्यय प्राप्त होगा । उन क्रियाओं का आधार जो देह, उसकी बुद्धि, मन आदि सबको आकलन कर लेना और उसमें निहित ज्ञानको अपनाना यह कुछ ऐरे गैरे का काम नहीं । यहाँका संपूर्ण रामरस तथा रसात्मकता अपनाना निःसंशय युद्धके जैसा दुर्लङ्घ्य है । युद्ध-भूमि का यश योद्धाके तेजपर अवलंबित रहता है। वह अनिर्वाच्य बात है । बुद्धिकी विशालता तथा उसकी तेजस्विता कही नहीं जा सकती । कहनेपर भी कुछ उपाय नहीं हो सकता । उसे केवल सुननेका हठ करनेसे कुछ भी हाथ नहीं आयेगा । केवल कष्टही रहेंगे । अतः वह अनावश्यक है । निःसंशय तेरी भक्ति सर्वविलक्षण तथा असीम है । मित्रता का आधार भी तू है । क्या तुझसे कुछ गोपनीय रखा जायेगा ? इस युद्ध क्षेत्रमें भी मैं यह नितांत आवश्यक मानता हूँ कि तू इन्हीं बातोंको अपनाता जा ।।३०।।

तन्हि नावेक हें साहावें । गाज्य वज्य ही न धरावें ।
परि तुझे अज्ञानत्व हरावें । लागे आधि ।।३१।।

अर्थ :– किंचित्काल यह सह लें, गजबजाहट को भूल जा । पहले पहल तेरा अज्ञान किसी भी प्रकार हटानाही होगा ।

व्याख्या :– अतः यह स्पष्ट है कि यहाँ मौन ही सर्वथा सिद्धिप्रद है । अन्यथा यहाँ का बडी आवाज में बोलना, अधिकारयुक्त कथन, सावेश साग्रह वक्तव्य या अभिमानयुक्त होकर ऐंठकर कुछ कहना आदि सबकुछ सत्त्वहीन, अवास्तव,

दोषग्रस्तही रहता है। उससे यथातथ्य का कुछ भी बोध नहीं हो सकता। उसके द्वारा प्राणशक्ति पर दबावसा आकर कुछ का कुछ कह दिया जाता है। उसके अनुरूप होनेवाला बर्ताव भी सर्वथा अस्वीकार्य है। हम जो अन्न खाते हैं उसका भी कुछ परिणाम होही जाता है। अन्नके द्वाराही यह देहधारणा है। अनात्मवादी देहबुद्धि का जाड्य ऐसी अवस्थामें कुछ हद तक जरूर रह जाता है। सगुणता की मर्यादा पार करना इसी कारण कुछ कुछ असंभव हो सकता है। इससे जो अन्तराय पैदा होता है, उसे हटाकर हमें सहना चाहिये। प्रकृतिजन्य धाक जमी सी रहेगी। किन्तु उसकी ओर अवधान न देकर हमें अपनी राहपर अविचल श्रद्धा बढानी चाहिये। ऐसी अवस्थामें कतिपय नये नये अनुभव आते रहेंगे। उन सबोंको सहते जाना चाहिए, तथा किसी भी अन्तराय में अटके नहीं रहना चाहिय। साथही अपनी दिनचर्या दृढ़ होनी चाहिये। जो कुछ है वह किस प्रकार यथार्थता पा सकेगा ? उसकी सार्थकता कैसे अनुभव होगी ? उसकी महत्ता किस प्रकार स्वभावगत होकर रहेगी ? इन बातोंको पूरी तरह तुझे समझाने को मन अतीव उत्कट है। इसलिये पहले पहल तेरा अज्ञान नष्ट करना नितांत आवश्यक है। तेरी देहके कण-कण में ज्ञानका आवाहन होता रहे। वहाँ जो कुछ अन्तराय होता हो उसे दूर हटाया जाय। जिससे तुझमें ज्ञानकी कला संपूर्ण रूपमें विकसित होकर रहेगी। उसकी दीप्ति तेरे जीवनमें, देहकी अणुअणु में उजियाला फैलायेगी। उससे तेरी बुद्धि

स्वाभाविक स्थिरता को अपनायेगी। वह फिर कदापि उच्छ्रंखल नहीं होगी। उसकी सर्वांग स्थिरता नितनूतन रूप दिखलायेगी। अतः आवश्यक है कि वह स्थैर्य प्राप्त करा लेना ।।३१।।

अर्जुन उवाच :–

**अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।**
**कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ।।४।।**

अर्जुनजी ने कहा :–

आपका जन्म अभी अभीका है, विवस्वात् का जन्म तो बहुतही प्राचीन है फिर यह योग आपने उसको स्पष्ट किया (समझाया) यह कैसे ?

तंव अर्जुन म्हणे श्रीहरि। माय आपुलियाचा स्नेह करी।
तेथ विस्मय काय अवधारी। कृपानिधि ।।३२।।

अर्थ :– तब अर्जुनजी ने कहा, "हे श्रीहरि, कृपानिधि, माँ का प्यार अपने अपत्यपर होताही है। उसमें आश्चर्य की क्या बात ?

व्याख्या :– उस समय श्री अर्जुनजी ने विनय की, हे भगवन् श्रीहरि! माँ अपने बच्चे के बारेमें बच्चेके साथसाथही पेटमें प्यार बढ़ाती है। वह प्रेमका बोझ उसे कष्टकारी नहीं होता। वह अनिर्वचनीय मातृप्रेम! समूचे जगत् की स्नेहशील आँखें ही!! उसका दर्शन तथा दृष्टि दोनों भी परममंगल, परमप्रेमरूप !

प्रेममें रसलीन हुई वह माँकी मूर्ति मानो अत्यद्भुत आनन्द की प्रतिमा है। मातृत्व तथा मातृप्रेम पर ब्रह्मानन्द भी न्योछावर किया जाय। न उसे उपमा है, न दी जा सकेगी। उसका पुत्रप्रेम उसके लिये मूर्तिमान आनन्द है। वह अनेकों में उसी एकसे असीम प्यार करती है। उसकी स्नेहगंगा अनंत धाराओं से अपने बच्चेको सुस्नात करती रहती है। उसमें नवल ही क्या? ॥३२॥

तु संसार श्रांताचि साउली। अनाथा जीवांची माउली।
आमतें कीर प्रसवली। तुझी कृपा ॥३३॥

अर्थ :– घर–गृहस्थी में थके हुए लोगों के लिये तू हि छाया है, अनाथ जीवों की माँ है। सचमुच तेरीही कृपाने हमें जन्म दिया है। (हम तो अनाथ जीव हैं, हमारा जीवन, हे कृपानिधि, तुम्हारी कृपापर सर्वथा निर्भर है, उसीपर परिपालित है और वही संरक्षक है।)

व्याख्या :– हे भगवन्! तुम्हारा यह कथन अमृत रूप है। तुम्हारी वह परम सुखकारी कृपा है। तुम्हारी कृपाका मूर्त आधार है तुम्हारा परम मंगल नाम! अनाथ जीवोंको तुम्हीं एक आश्रय हो। तुम्हारे कारण वे सनाथ हैं। तुम्हारी सुशीतल तथा परम आल्हादक छायामें सभी शांत, तृप्त आनंदमयी हो जाते हैं। संसार के झंझट में डूबे हुए इन अनंत श्रांत जीवोंको तुम्हारे सिवा और क्या आधार है? तुम्हीं उनकी छाया, आधार, सुख, तृप्ति, शांति हो। तुम्हारे

कल्याणकारी नामके कारण तुम्हारी कृपा जीवोंपर बनी रहती है। तुम्हीं नामके द्वारा अपनी कृपाका महामेघ बरसाते रहते हो ।।३३।।

देवा पांगुळ यखादे विजे।
तऱ्हि जन्मोनि जोजार साहिजे।
हें बोलों काई तुझें। तुजचि पुढें ।।३४।।

अर्थ :– हे भगवन् पंगू पुत्र को जन्म देकर उसकी माँ उसके सारे कष्ट को सदाके लिए क्या नहीं सहती ? यह आपका कथन है, मैं और क्या कहूँ ?

व्याख्या :– कभी कभी यह भी होता है कि माँ अपाहिज को जन्म देती है। क्या वह आगे चलकर उसे छोड देती है ? अपाहिजका जीवन निःसंशय कष्टकारी है। जन्मभर उसके लिये दूसरों को कष्ट उठाने पडते हैं। माँ उससे कभी नहीं ऊब जाती। हे भगवन् ! वैसेही तुम्हीं पंगूके पैर हो। सभी के सच्चे आधार !! यह तो तुम्हारा नित्यक्रम है। न तो यह बात कोई नयी है, न तुम्हारे सामने कहने योग्य ! ।।३४।।

आतां पुसेन जे मी कांही। तेथे निकें चित्त देईं।
तेंबिचि देवा कोपावें नाहीं। बोला एका ।।३५।।

अर्थ :– मैं जो कुछ पूछूंगा वह ठीक ठीक ध्यान देकर सुनें। मेरे पूछने का किसी भी प्रकार कोप न करें।

व्याख्या :– हे भगवन्, मेरा जी चाहता है कि तुम्हें और कुछ पूंछ लूं। कदाचित् तुम गुस्सा करोगे। अतः मेरे मनमें दुविधा है कि पूंछूं या न पूंछूं। अगर तुम अनुमति दोगे, सम्मति दोगे और तुम गुस्सा न करोगे, तो मैं वह बात तुमसे जरूर पूंछूंगा। कृपा करके मेरी बातकी ओर ध्यान दो। उसका रहस्य मुझे स्पष्ट करा दो। अतः प्रार्थना है कि अपना मन उसीपर केंद्रित करो ।।३५।।

तरि मागील जे वार्ता ।
तुवां सांगितली होती श्रीअनंता ।
ते नावेक मज चित्ता । मानेचिना ।।३६।।

अर्थ :– हे श्रीअनंत, तुमने जो पीछली बात कही उसे मेरा अपना मन क्षणभर स्वीकारही नहीं करता।

व्याख्या :– तुमने तो बहुतही पुरानी कहानी कही। हे श्री अनंत, उसके बारेमें मेरे मनमें संदेह सा पैदा हो गया। उसकी सचाई मुझे नहीं जँचती। मेरा मन उसे स्वीकार करने में हिचकिचाता है। उसमें तुम्हारे कथन के बारेमें दुविधा है। क्योंकि बात तो बहुतही पुरानी है। और तुम अब कह रहे हो ।।३६।।

जे तो विवस्वत म्हणिजे काईं ।
ऐंसे हे वडिलां ठाउके नाहीं ।
तरि तुवांचि केंवि कहीं । उपदेशिला ।।३७।।
तो आइकिजे बहुता काळाचा ।
आणि तुं तंव श्रीकृष्ण सांपैचा ।
म्हणौनि गा यें मातुचा । विसंवाद ।।३८।।

अर्थ :– क्योंकि वह विवस्वत पिता या पितामह आदि पूर्वजों को भी किसी प्रकार ज्ञात नहीं, उसे तुमने कब कैसे उपदेश किया ?

विवस्वत बहुत प्राचीन, पुरातन और तुम हे श्रीकृष्ण, अभी अभीके हो। अतः तुम्हारे कथन में बिलकुल विसंगति है।

व्याख्या :– हे श्री अनंत ! तुम कहते हो कि विवस्वान को तुमने उपदेश किया। वस्तुतः वह कौन है, कब जन्मा ? वह बात बहुतही पुरानी होगी। उसके बारेमें न हम कुछ जानते हैं न हमारे पितामह या पूर्वज। कितना समय बीता होगा। तुम तो कलकी जैसी बात कहते हो। तुम्हारा जन्म भी अभी अभी का है। क्या यह संभव है कि तुमने विवस्वान् को उपदेश किया हो। मुझे तो यह बात विसंगतसी दीख पडती है ॥३७, ३८॥

तेंवीचि देवा चिरित्र तुझें। आपण कांहींच नेणिजे।
हें लटिकें केविं म्हणिजे। येकि हेळा ॥३९॥

अर्थ :– हे देवाधिदेव ! आपका जीवन मेरी कुछ भी समझमें नहीं आता। आपका कथन सरासर असत्य भी कैसे कहूँ ?

व्याख्या :– इस प्रकार तुम्हारा यह कथन बिलकुल विसंगत है। हे भगवन् तुम्हारी महिमा सचमुच विचित्र है। उसे जानने में मैं असमर्थ हूँ। उसमें विरोधाभास ठूंसकर भरा हुआ

है। क्या वह सचमुच झूठ कहा जाय ? वह भी कठीन है। गौरसे विचार किये बगैर किसी बातका निर्णय कर लेना अनुचित होगा ।।३९।।

परि हीचि मात आघवी । मी परियसे ऐसी सांगावी ।
जे तुवांचि तया रवि केंवि । उपदेश केला ।।४०।।

अर्थ :– अतः मेरी ग्रहण शक्ति को ध्यान में लेते हुए आप कृपया धीरे धीरे कहें कि आपने विवस्वान को किस प्रकार और कब उपदेश किया ?

व्याख्या :– अतः हे भगवत्! तुमसे सविनय प्रार्थना है कि तुम इस बात को मुझे ठीक ठीक समझाओ कि जिससे मुझे उसका भलीभाँति ज्ञान प्राप्त हो। यह स्पष्ट है कि उसमें विसंगति जरूर दीखती है किन्तु उसका स्पष्टीकरण किया नहीं जा सकता। तुम्हारा जन्म अभीका है, फिर भी तुमने श्री सूर्यनारायणको कि जो बहुतही प्राचीन है, किस प्रकार और कब उपदेश किया ?

श्री भगवानुवाच :–

**बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।**
**तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ।।५।।**

हे अर्जुन ! तुम्हारे व मेरे कतिपय जन्म हो चुके हैं। मुझे उन सबका ज्ञान है। हे परंतप ! तुम्हें उनका स्मरण नहीं हो सकता।

तंव श्रीकृष्ण म्हणे पंडुसुता । तो विवस्वत जैं होता ।
तैं आम्ही नसो ऐसि चित्ता । भ्रांति जरी तुज ।।४१।।

अर्थ :- तब श्रीकृष्णजी अर्जुनजी से कहते हैं "जब वह विवस्वत था उस समय हम नहीं थे यह तुम्हारे मनकी भ्रांतिही है ।

व्याख्या :- इसपर भगवान् श्रीकृष्णजी ने कहा, "हे अर्जुन, कदाचित् तुम समझते हो कि जब विवस्वान था तब मैं नहीं था । इस प्रकार तुझे भ्रांति पैदा हुई होगी । किन्तु यह इस प्रकार समझना तेरी भूलही है । अतः ऐसा भ्रांतिमान मत बन ! ।।४१।।

जरी तुं गा हें नेणसि । पैं जन्में आम्हां तुम्हांसी ।
बहुतें गेलि परि न स्मरसि । आपुलि तुं ।।४२।।

अर्थ :- यदि तू यह नहीं जानता तो भी, मेरे और तुम्हारे भी बहुत से जन्म हुए हैं । किन्तु तुम्हें उनका स्मरण नहीं ।।४२।।

मी जेणें अवसरें । जें जें होऊनि अवतरें ।
ते समस्तहि स्मरे । धनुर्धरा ।।४३।।

अर्थ :- हे धनुर्धर, जब जब और जिस अवसर पर मैंने अवतार लिये थे, उन सभीका मुझे पूरा स्मरण है ।

व्याख्या :- हे धनुर्धर ! यह तो स्पष्टरूप में है कि मैं

अपने पूर्वजन्म जानता हूँ । बुद्धिका अधिष्ठान लेकर मैं जब जब अवतीर्ण हुआ हूँ, तब तब मुझे बुद्धिप्राधान्य के कारण सभी पूर्व बातोंका स्मरण रहता है। मेरे अवतार के साथ स्मरण भी मानो अवतीर्ण होता है। मेरे अवतारकार्य में ज्ञानका पूर्णरूपेण बोध निहित है। जो कुछ ज्ञानगम्य है वह मुझे ज्ञात रहता है। वस्तुतः ज्ञान जिस प्रकार अनादि है वैसेही मेरी ज्ञानक्षमता भी असीम है। सर्वस्पर्शी ज्ञान का अणुरेणु मुझसे अज्ञात नहीं रह सकता। उसकी अगाधता मुझमें ही व्याप्त तथा सीमित है। बुद्धिकी विशाल धारणा चिरंतनता का परिपाक है। उसे अपने अधीन करने के कारण उसकी विशिष्टता, पृथकत्व मैं अपने में विलीन कर लेता हूँ। उससे एक अखंड, चिरंतन, दिव्य जीवनही चित्रपट के समान, प्रसंगों की उत्कंटता के साथ स्मरणरूप होकर मेरे सम्मुख है। अनंत जन्मों का ही वह एक चिरन्तन, शाश्वत, अखंड जीवन वहाँ अनुस्यूत रहता है। अनेक जन्म होनेपर भी वे सभी एकही हो जाते हैं। अखंड नित्यानन्दरूप अक्षर ब्रह्मके समान मेरे जन्म वस्तुतः होनेपर भी नहीं के बराबर हैं। साथही उन सभीमें मेरा ज्ञानाधिकरण तथा ब्रह्मभाव कहीं लिप्त नहीं रहा। वहाँ अवतार केवल ब्रह्मगम्य, ब्रह्मरूप तथा ब्रह्मलीन ही है ॥४३॥

**अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।**
**प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥६॥**

अव्यय, अज, आत्मा तथा प्राणीमात्र का ईश्वर होनेपर

भी मैं त्रिगुणात्मक ईश्वरी अनुष्ठान के (प्रकृति के अधिष्ठान के) द्वारा जन्म लेता हूँ ।।६।।

म्हणोनि आघवें । मागील मज आठवें ।
मी अजहि परि संभवे । प्रकृति योगे ।।४४।।

अर्थ :– अतः मुझे पीछली सभी बातें याद हैं । यदि मैं जन्मरहित हूँ, तथापि प्रकृति के योगसे मैं जन्म लेता हूँ ।

व्याख्या :– इस जगत में यही प्रतिष्ठा है कि उस मूलभूत संवेदन की अनुभूति अणुरेणु में प्रत्यय दिलाती रहे । वस्तुतः आदिमाया भगवती ईश्वरी का आविष्कार ही जगत् के आरंभ में मूल है । उससेही जगत् को प्राधान्य है । बुद्धिका प्रथमाविष्कार भी 'प्रधान' कहलाता है । भगवती ईश्वरी के द्वारा यही प्रधान आविष्करण मूलतः होता है । अतः यह स्पष्ट है कि वही इस जगत् की प्रतिष्ठा है । श्री भगवती का यह कार्य वस्तुतः अत्यन्त सहज, स्वभावज ऐसाही है । उसमें केवल द्रष्टत्व की, साक्षीत्व की भावनामात्र है । उसका यह सर्वविलक्षण कार्य केवल अनादिसिद्ध है । उसके द्वारा उस असीम तत्त्वका विज्ञान होता है । सत्व रज तमादि गुणोंका यह विस्तृत विलास श्रीभगवती के अधिष्ठान में संपन्न होता है । जब उनकी साम्यावस्था परिलक्षित होती है तब यह संपूर्ण त्रिगुणात्मक संसार मानो ओझल हो जाता है, और जो कुछ दोष रहता है वह निरामय, त्रिगुणातीत, सर्वसाक्षी परमतत्त्व है । उसी

ईश्वरी के द्वारा, उसकी महती कृपासे यह निरन्तर का वैभव गुणात्मकता से अलिप्त होकर सत्तामात्र सात्मभाव से ओतप्रोत होकर स्थिर हो जाता है। ऐसी हालत में जो कुछ होता है वह केवल ईश्वरी के अनुज्ञा मात्रसे। जिस प्रकार सारे संसार में एक ईश्वरी सत्ताका ही विलास है, उसी प्रकार मनुष्य की देहमें उसके जीवनमें, उसके प्रत्येक कार्यमें वही सत्ता कार्यकारी हो जाती है। अहंता नष्ट होती है तथा व्यक्तित्व विश्वात्मक हो जाता है। यह केवल साधक के लिए पर मैं स्वयं उसे-उस ईश्वरी को-अपने अधीन कर जन्म पाता हूँ। अनन्तकालका ज्ञान, कर्तृत्व तथा दर्शन मुझे अनायास प्राप्त है ।।४४।।

माझें अव्यय तत्त्व तरि न नासें ।
परि होणें जाणें येक दिसें ।
तें प्रतिबिंबें मायावसें । माझाचि ठाईं ।।४५।।

अर्थ :- किसी भी अवस्था में मेरा अविनाशी परतत्त्व नष्ट नहीं होता। जो कुछ जन्म-मरण, आगमन निर्गमन दीख पडता है वह वस्तुतः प्रकृति के कारण मेरेही अधिष्ठान पर (आत्मभाव पर) प्रतिबिंबित होता है।

व्याख्या :- मूलतः एकही चित् तत्त्व है। उसके अनन्त प्रतिबिंब जीवमात्र में स्थित हैं। उन चिदंश के कारण उनका जीवन है। यद्यपि वह जीवरूपमें, जन्म लेकर, परिणाम पाता है तो भी मूलतः उस चिदंशसे अलिप्त तथा परिणामशून्य है। अनेकविध क्रियाओं के परिणाम उस चिदंश पर किसी भी

प्रकार असर नहीं कर सकते हैं। उसमें समा हुआ ज्ञान सदैव स्थिर, शाश्वत, साक्षीभूत है। जीवोंकी देहबुद्धि ज्ञानमें बाधक रहती है। मुझमें यद्यपि मैं कार्याकार्यरूप होकर जन्मता हूँ, तथापि प्रकृति मेरी अधीन है। सभी चिदंशों का प्रतिबिंब जो जीवोंमें विद्यमान है उन्हें मेरीही प्रतिष्ठा है। मैं इसी कारण ज्ञानरूप हूँ। स्वतन्त्र हूँ।

माझी स्वतन्त्रता तरि न मोडे।
परि कर्माधीन ऐसा आवडे।
तें हि भ्रांतिबुद्धि तरि घडे। येऱ्हवीं नाही ॥४६॥

अर्थ :- वस्तुत: मैं अपनी स्वतन्त्रता नहीं गँवाता तथापि कर्म के अनुसार मेरा बर्ताव दीख पडता है। (मानो मुझे भी कर्माधीनता भाती है।) अगर बुद्धि में भ्रम पैदा हो तो मेरी कर्माधीनता दीख पडेगी, अन्यथा नहीं।

व्याख्या :- इस विश्वमें हरेक चीज त्रिगुणात्मक है। इन तीन गुणोंकी साम्यावस्था प्रकृति कहलाती है। प्रकृति की यह समत्वभावना सर्वप्रकार से महत्त्व की है। त्रिगुणात्मकता से त्रिगुणातीत होनेके लिये हमें समत्व की भावना परिपुष्ट करनी चाहिये। कर्मयोग के द्वारा यह सहज संभव होता है। किंबहुना यह उसका लक्ष्य भी है। जहाँ समभावना है वहाँ विश्वात्मकता अनुभव की जाती है। समत्व का अनुष्ठान जहाँ सत्कारपूर्वक हो रहा है वहाँ कर्मयोग अपनी परिणामक्षमता जरूर दिखलायेगा। किन्तु जहाँ यह अनुष्ठान नहीं है, केवल

भ्रांति हो रही है वहाँ न कर्मयोग है न समत्व भावना भी। वहाँ बुद्धि भ्रांत हो जाती है। सत्य झूठ बन जाता है। हे अर्जुन ! यह नितांत आवश्यक है कि भ्रांत बुद्धिसे पिंड छुडाने के लिये समत्वभाव का अनुष्ठान होता रहे। भ्रांति कुछ ऐसी ऐरीगैरी बात नहीं जो अपने आप नष्ट होगी। भ्रांतिशून्य बुद्धि समत्व भावके द्वारा ही स्थिर हो सकती है ॥४६॥

कि येकचि दिसें दुसरें। तें दर्पणाचेनि आधारें।
ये-हवी काय वस्तुविचारें। दुजें आहे ॥४७॥

अर्थ :– आयने में जिस प्रकार एकही वस्तु अनेक होकर दीखती है, वैसेही वस्तुतत्त्व एक होनेपर अन्यथा दीख पडता है, नहीं तो उसमें द्वैत कहाँ ?

व्याख्या :– समत्व की भावना जहाँ स्थिर नहीं, जहाँ कर्मयोग का सहजसिद्ध अनुष्ठान नहीं होता, जहाँ केवल त्रिगुणों का तिगुना विलास बढ़ताही रहता है वहाँ त्रिगुणातीत आत्मस्थिति की ओर संकेत होना भी एक कठीन बात बन जाती है। आत्मस्थिति का संवेदन न होनेसे केवल वस्तुस्थिति का विपर्यास ही प्रतीत होता रहता है। वस्तुस्थिति यहाँ छिपायी जाती है। 'वस्तु' स्थिति आत्मभाव से युक्त है। वह सचाई हमसे कोसों दूर रहती है। और जो सर्वथा नहीं है वही सत्य बनकर विपर्यय दिलाता है। आत्मभाव वस्तुतः प्रकाशयुक्त तथा ज्ञानरूप है। अनात्म के झंझट के कारण वह प्रकाश ढँकासा रहता है। आयने में भी हम अपने को देखते

हैं किन्तु हम आयने के प्रतिबिंबसे कुछ दूसरे हैं। आयना ही ऐसी चीज है जो सचमुच पृथकत्व निर्माण करती है। यहाँ अकारण पृथकत्व तथा विभिन्नता परिपुष्ट होती है। यह तो सुस्पष्ट है कि वह 'वस्तु' सर्वत्र एकमात्र है। उसकी प्रगल्भता, स्थिति, कालातीतता अक्षुण्ण है। उसकी प्रकाशमानता तथा ज्ञानरूपता सहज स्वाभाविक है। बात यह है कि हम उसे उसी रूपमें, यथार्थतासे देख नहीं पाते, देखना भी नहीं चाहते। यह हमारी बुद्धि है जो हमें चकाचौंध में डालती है। बुद्धिकी परेशानी हम जानते हैं फिर भी उसीको ही अपनाते हैं। बुद्धि की यह विलक्षण भ्रांति हटाने का यह उपाय है। समत्व भावन–कर्मयोग की साधना इसी लिये नितांत आवश्यक रहती है। उसी द्वारा विश्वात्मकता तथा आत्मभाव की दीप्ति आ जायेगी। इसीलिये यहीं दुर्लक्ष न हो। वह शुद्ध ब्रह्म चैतन्य को, अपनी स्थिति को हम पहचान लेंगे तो बुद्धि सचमुच प्रकाश का दान होगी, चित्र का निरन्तर रंजन होगी, प्रसन्नता तथा आनंद, सुस्थिति तथा स्वास्थ्य अपनायेगी। उस परमात्म भावका अमूर्त स्वरूप इसी प्रकार प्रकट हो सकता है, प्रकट हो भी नहीं सकता। वह अमूर्तस्वरूप इन आविष्कारों के पीछे छिपा हुआ है। उसकी पहचान कर लेना, कर्मयोग का रहस्य है, जो स्पष्ट भी है और निगूढ भी ।।४७।।

तैसा अमूर्तचि मी किरीटी। प्रकृति जैं अधिष्ठि।
जैसा का नट नटें नटी। कार्यालागी ।।४८।।

अर्थ :- हे किरीटी ! अमूर्त (अव्यक्त, आत्मस्वरूप) होकर

भी मैं प्रकृति को अधिष्ठित करके कार्यकारण वश जन्म लेता हूँ। जैसे अभिनेता कार्यवश अभिनेत्री बनता है।

व्याख्या :– ठीक ठीक अवधान देनेपर ये बातें बिल्कुल स्पष्ट दिखाई देती हैं। वस्तुका अमूर्त रूप मायाका–भगवती ईश्वरीका–अधिष्ठान लेकर प्राकृतिक-सा बन जाता है, साकार सगुण हो जाता है। उसमें अपना पृथक् व्यक्तित्व निर्माण हो जाता है। उस पृथक्त्व का मूलाधार जो 'अहंकार' वह शब्द को प्रस्फुटित करता है। अपने पृथकत्व का डिंडिम बजाया करता है। साथही यह स्पष्ट है कि यह एक प्रकार स्वाँग ही है। अमूर्तका मूर्त स्वरूप प्रकृति के अधिष्ठान में किसी कार्यवश होता है। जबतक वह कार्य होता रहेगा तब तक उसकी यथार्थता है। मतलब यह है कि अपने उद्देशपूर्ति की ओर अगर हम बढ़ते रहेंगे तो इस जीवन की सफलता तथा यथार्थता पा सकते हैं। ऐसी स्थिति में भावनाओं का रूप, उनका भेष विशिष्ट होनेपर भी समत्वकी सिद्धि की ओर बढ़ता जाता है। उन्हें समत्वकी गति, नीति और प्रीति भाती है। सभी भावनाएं प्रेम की अमृतगीतें गाती जाती हैं। चारों ओर अपनापा का अधिराज्य दीख पडता है। भावनाओं पर प्रेम का रंग देना आवश्यक होता है। वाणी भी वहाँ उसी रंगमें रँगी जाती है। ऐसा आभास निर्माण होता है कि किसी नट ने वाणी का रूप लेकर ही वहाँ अपना कार्य परिपूर्ण किया है। वही मानो उस कार्यको रंगीन बना देता है। आनंद निर्माण करता है। कार्यको विश्वात्मक बना देता है। प्रसन्नता

को परिपुष्ट कराता है। कर्मयोग के द्वारा त्रिगुणातीत का लक्ष्य अभीप्सित है। समत्वभाव तथा निरभिलाष कार्यकर्तृत्व के द्वारा साधक उस परमोच्च स्तरपर अधिष्ठित होता है। त्रिगुणों की साम्यावस्था मनुष्य को विश्वात्मक रहस्य परिचित कराती है। साथही जिस प्रकृति के कारण वह अमूर्त परतत्त्व मूर्तसा होकर विश्वात्मक तथा व्यक्तिगत भाव की एकता तथा सामरस्य अनुभव कराता है, उस प्रकृतिका– भगवती ईश्वरी का मायारूप विश्वविलास हर किसीका मन लुभाता है। उन दोनों जगह एकही योगभूमिका है। इसी कारण यह योगात्मक प्रसन्नता रससिक्त करती हुई आनन्द को बढ़ाती है। उसकी रुचि, स्थिति या अनुभूति सचमुच अनिर्वाच्य है। इसी योग भूमिका के कारण प्रत्यक्ष परमेश्वर, परतत्त्व–अपनेमें अधिष्ठित हो चुका है। जो इसे ज्ञान कर लेगा, अपने अंतर्याम में उसे देखेगा, उसके अधिष्ठान को जीवनभर में सुप्रतिष्ठित करता रहेगा उस पर सारा विश्व न्योछावर करने योग्य हैं। जो अन्दर स्थित है, जिसके आलाप हम सुन सकते हैं, जिसका सुदर्शन हमें दीख पडता है, जिसकी स्थिति के कारण जीवन परिपुष्ट, प्रसन्न, नित्यतृप्त, आत्मरत होता है उसके संबंध में केवल शाब्दिक विवेचन अर्थशून्य है। बुद्धिका उपरी संकेत उसे छू नहीं सकता। बुद्धिका अनात्मवाद यहाँ सर्वथा निष्फल है। त्रिगुणों का प्रसव करनेवाली महामाया प्रकृति विश्वनायिका होकर सम्मुख है। बुद्धिकी अन्तर्मुखता, उसकी समत्व भावना, कार्यमें निःस्पृहता तथा आत्मलीन स्वभाव के होनेपर ही वह

उस विश्वनटी की पहचान कर लेती है। ऐसी स्थिति में उसकी अनात्मवादिता नहीं रहती। जीवन में स्थिरता, शांतता तथा प्रसन्नता आ जाती है। मनुष्य की देहमें प्रकृति–पुरुष का सामंजस्य तथा सामरस्य अपने आप अनुभव किया जाता है। उसी द्वारा देहधारणा का महात्म्य भी मुखरित होता है। वह दिव्य जीवन, वह देवताभाव, वह प्रकृतिमाता का विश्वात्मक विलास क्या केवल अनुभव योग्य नहीं? उसके बारेमें कहा भी क्या जा सकता है? हे अर्जुन यह तो बिलकुल साफ बात है। जो इस ईश्वरी मायाको ही अधिष्ठित कर लेते हैं, जो उसे अपने अधीन बनाते हैं और जहाँ देवताभाव ही जीवन का नियोजन कर रहा है, वह सचमुचही दिव्य जीवन है। इसमें किसी भी प्रकार संदेह नहीं। निःसंदेह होकर तुम इसे अपना लो। उसीमें समा जा। उसीमें रसलीन हो। इसी द्वारा केवल उस परतत्त्व की प्रसन्नता तुम पा सकोगे। देवाधिदेव का यह वचन सम्मानित होगा। परतत्त्व के स्पर्शसे पुलकित होकर तुम आनंद विभोर हो जाओगे। प्रत्यक्ष परमेश्वर तुम्हारी ओर खुशीकी बरसात करता रहेगा। उसकी प्रसन्नता, उसकी मुसकराहट तुम्हें विश्वास दिलायेगी। उसके हो जानेमें ही उसका सम्मान करना है। हमारा पृथक् अस्तित्व खोकर हमें उसमें संपूर्ण विलीन करना आवश्यक है। यही सच्चा जीवन है। अतः हमारा कथन हे अर्जुन, किसी नायक के समान हुआ करता है। कार्यका महत्त्व हम तो जानतेही हैं। वह संपूर्णतया अपनाया जाता है। उसका अंतरंग, उसकी निहित प्रेरणा तथा उसकी

मूलाधार ईश्वरी शक्ति निःसंशय द्रष्टव्य, श्रोतव्य तथा निदिध्यासितव्य है। अन्यथा मनुष्य की वाचा निरर्थक, प्रेरणाहीन तथा अनात्मवादी रहती है। अंतरंग का यह विलास, उसकी रचना, उसका क्रम तथा जीवन का निगूढ़ भावही अपनाने योग्य है। उसीलिये प्रयत्न करते रहो। विश्वकी प्राणाधार शक्ति तथा विश्वकी नियंती ईश्वरी को अपनाये बिना जीवन की भ्रांति उन्मूल नहीं हो सकती। यह प्राकृतिक रहस्य सुलझानाही होगा ॥४८॥

**यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।**
**अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥**

अर्थ :– हे भारत ! धर्म को जब जब शैथिल्य आ जाता है, जब अधर्म का उत्कर्ष होता है तब मैं अपने को अवतीर्ण कराता हूँ।

हे धर्मजात आघवें। युगायुगिं म्यां रक्षावें।
ऐसा बोल हा स्वभावें। आद्य असे ॥४९॥

अर्थ :– युगयुग में इन सभी धर्मोंकी रक्षा मुझसे होनी चाहिये। यह सृष्टिका परंपरा प्राप्त स्वाभाविक तथा प्रारंभसे ही नियम है।

व्याख्या :– परमात्मा के अधिष्ठान में प्रकृति के द्वारा इस त्रिगुणात्मक विश्वकी रचना हुई है। यहाँकी हरेक चीज त्रिगुणात्मक है और वहाँ उनका अपना स्वभाव, स्वस्थिति भी

है जो परमात्मा के द्वारा ही सुनिश्चित की गयी है। वह स्वभाव ही स्वधर्म है। उसकी धारणा में परमतत्त्व का प्रकाश अनावृत रहता है। स्वभाव में परमात्मभाव ही निहित है। स्वधर्मानुष्ठान में उसके आविष्कार में बाधा नहीं आ जाती किन्तु जब यह स्वभाव, स्वधर्म विचलित होता है, त्रिगुणात्मकता का बोझही बढ़ता रहता है और उस शुद्ध, बुद्ध आनन्दघन परमात्मरूप के सगुण साकार आविष्कार में मर्यादा तथा बाधा निर्माण होती है। उसका आविष्कार अधर्म तथा अस्वाभाविकता के कारण रोका जाता है, स्वाभाविकता नष्ट होकर यथाधर्म साकारता होनेमें विघ्न पैदा होते हैं। प्रकाश, दिव्यता, आत्मदर्शन, धारणा, तेज, सद्धर्म आदिका लोप हो जाता है। ऐसी स्थिति में बुद्धिमें विकारवशता, त्रिगुणाधीनता आ जाती है। गुणोंमें रागद्वेष निर्माण होते हैं। विषय तथा गुणोंके बीच रागद्वेषात्मक संबंध पैदा होता है। वहाँ प्रेम है किन्तु वह प्रमाद रूप है। प्रेम की निर्मल स्फटिकवत् विशुद्ध स्थितिमें बुद्धि विकारवश नहीं हो सकती। विकारवशता गुणातीत होनेमें बाधक है। विश्वका समूचा तत्त्व एक विशिष्ट नियोजन द्वारा आत्मोपलब्धि के लिये हुआ है। यह सूत्र विकारवशता में निहित नहीं। मनुष्य के स्वाभाविक गुण, उसकी स्वाभाविक सहज सिद्धता देवताभाव को नहीं आती। वह एक प्रकार दबीसी रह जाती है। देवताभाव से वंचित रह जाती है। यह कदापि स्पृहणीय नहीं हो सकता। त्रिगुणों के द्वारा उसकी साम्यावस्था अपनाने का महान कार्य उपरी

स्थिति में हो नहीं सकता। गुणोंकी दीप्ती विश्वनियंता की प्रेरणा स्पष्ट करने के लिये है। वह कार्य यथानिर्देश न होनेसे गुण गुणहीन बन जाते हैं। उनसे कुछ किया नहीं ज़ाता। वे स्तब्ध, निराश, उदास बनते हैं। उनकी स्वाभाविक गति रोकी जाती है। मनुष्य की देह, उसकी रचना, उसका उद्देश्य आदि की सुस्थिति त्रिगुणों की अस्वाभाविक रुकावट के कारण रह नहीं सकती। मनुष्य का स्वभावज कर्म, यथाधर्म आचरण, उसका स्वाभाविक प्रामाण्य आदि बातें विकारवश स्थिति में आत्मविन्मुख, परिणामशून्य, बहिर्गामी होती है। वहाँ योग नहीं होता, केवल भोग रहता है। यज्ञकी निष्काम प्रवृत्ति न रहनेसे देहकी सकाम अभिलाषा परिपुष्ट होती है। वहाँ कर्म बंधकही होता है। कर्मयोग द्वारा हुआ निष्काम यज्ञ जीवनमें नित्यनूतन आकर्षण, नया नया लुभावना विश्वसौंदर्य तथा प्रगाढ चिरंतन चिरतरुण अनुभूति ला देता है। वहाँ मनुष्य के अंतर में देवताभाव जागृत रहता है। जीवभाव आत्मभाव में परिणत होता है। किन्तु क्या विकारवश बुद्धि यह होने देगी? कदापि नहीं। वह तो सचमुच अज्ञानही मात्र है। असत्यही सामने आजाता है। मनुष्य जीवन के सत्यसे कोसों दूर रहता है। मनुष्य जन्म का जो स्थायीभाव–ईश्वरत्व–उसका नाम तक सुनाई नहीं देता। न यहाँ प्रेम है न किसी प्रकार परिपालन। ऐसी स्थिति न स्पृहणीय है, न स्वीकार्य है। अतः यह आवश्यक है कि भावनाओं का स्थायीभाव अपनाना चाहिये। इसी द्वारा निसर्गसिद्ध सहजता–स्वभाव–अपनी योग्यता पायेगा। योग्यता

के अनुसार उसके द्वारा जीवन में निरतिशय स्वतंत्रता, तथा विमुक्त सहजता रहेगी। वहीं देवताभाव संभव है। आत्मीयता के कारण देवता तथा कार्यकी प्रयोजकता अब रहस्यात्मक नहीं रहेगी। वहाँ जीवन का मौलिक दर्शन अनुभवजन्य तथा प्रत्यक्ष है। इसीलिये प्रयत्नशील रहना सर्वथा उचित है। आत्मभाव का आंतरिक संवेदन सभी भूतों की प्रतिष्ठा वृद्धिगत करता है। उनकी अपनी योग्यता वे जानते हैं। वह महाकारण परब्रह्म यहाँ मानो संबोधन योग्य हुआ। प्रकृति के निर्मल कार्यकलाप में उसकी प्रसन्नता तथा प्रकाश सगुण रूपमें विलसता रहता है। ईश्वर का महान ऐश्वर्य सगुण साकार रूपमें अपनी संपूर्ण दीप्तिके साथ अनुभव किया जाता है। मनुष्य वह पहचानता है, अपनाता है और आनन्द विभोर हो उठता है। वह जीवन का प्रमाण अनुभव करता है, जीवन की सफलता का प्रमाण उसे प्राप्त होता है। उसका जीना सफल हो जाता है ॥४९॥

म्हणोनि अजत्व परतें ठेवि। मी अव्यक्तपणहि नाठवि।
जे वेळी धर्मा तें अभिभवि। अधर्म हा ॥५०॥

अर्थ :– अतः अजत्व को दूर रखता हूँ। अव्यक्त को भूलता हूँ। अधर्म जब धर्मकी पराजय करता है तब यही होता है।

व्याख्या :– अतः मैं सभी बातें छोडकर पहलेपहल अपना 'अज', 'अव्यक्त', 'निर्गुण' रूप सगुण, व्यक्त करता हूँ। वस्तुतः मेरा रूप स्वीकार्य नहीं किन्तु वह स्वीकार्य, बोधगम्य बनाने के

लिये 'अव्यक्त' व्यक्त करता हूँ। उसे धारणा योग्य बना लेता हूँ। धर्ममें मैं प्रविष्टसा होता हूँ। जीवन की धारणा की परिधि में समा लेता हूँ। सगुणता का कारण यही है कि विश्वकी स्वाभाविकता तथा धर्मधारणा में मेरी संपूर्ण व्याप्ति है। असीम होकर भी ससीम बन जाता हूँ। मेरा प्रकटन, मेरा व्यक्त स्वरूप नामरूप आदेश से संबद्ध हो सकता है। उसी द्वारा उसकी यथार्थता भी जाननी चाहिये। सगुण, व्यक्त तथा नामरूपात्मक नहीं हूँ। फिर भी सगुण, व्यक्त, नामरूपात्मक हो जाता हूँ। इस कथन में संदेह की मात्रा जरूर हो सकती है। अतः नामरूपात्मक व्यक्त के पीछे त्रिगुणातीत अव्यक्त है, उसीका अनुसंधान सगुण में भी होना चाहिये। मैं कौन हूँ, क्या हूँ, कैसा हूँ आदिका निःसंशय विचार किया जाथ। अव्यक्त तथा व्यक्त, सगुण–निर्गुण, अरूप–सरूप आदिमें किसी भी प्रकार से फँस जाना उचित नहीं। उसकी यथार्थता ज्ञात कर लेनी चाहिये। मनुष्य जीवन में ही यह संभव है। उसकी ज्ञानक्षमता सर्वोत्तम होनेके कारण यह संभव होता है। जीवनकी यथार्थता, उसका अथाह रूप, रूपके पीछे छिपा हुआ रूपातीत अमूर्त भाव तथा वह गुणातीत सर्वसाक्षी सत्ता जानने की क्षमता केवल मनुष्य में ही है। सर्वविलक्षण तथा अत्यन्त प्रभावकारी ज्ञान उसके जीवन की चरम सफलता है। जीवन की स्वाभाविकता, सगुण की मर्यादा समझकर उसकी व्यवस्थिति अपनाने में सुस्थिति है। त्रिगुणों का गुणात्मक व्यापार तथा जीवन का निष्काम व्यवहार उस

व्यवस्थिति को बाधित नहीं कर सकता। ऐसी चरम स्थिति में जीवन में योग्यता आ जाती है। कर्म निष्काम तथा बंधनरहित हो जाते है। आनन्द आनन्द को ही बढ़ावा देता है। वहाँ सचमुचही आंतरिक स्वस्थता निर्माण होती है। हृदय रसात्मक हो जाता है। उसकी रसलीन अवस्था में जीवन रंग जाता है। प्रसंन्नता उमड आती है। किन्तु सर्वसामान्यतः जो कुछ अनुभव किया जाता है कि मनुष्य के जीवन में योग प्रधान नहीं रहता। भोग प्रधान हो जाता है। जहाँ योग नहीं वहाँ आत्मसंवेदन भी संभव नहीं। उस परतत्त्व स्पर्शसे जो पुलकित नहीं हुआ उसका जीवन जीवन की सच्ची वास्तवतासे, आत्मीयतासे तथा रसोत्कट आत्मानन्द से वंचित ही रहेगा। वहाँ केवल बन्धकत्व है। आसक्ति है, भोग है। आशा–निराशा, सुख–दुःख, शोकमोह, रागद्वेषादि द्वंद्वोंमें वह जरूर फँस जायेगा। यद्यपि इस समूचे जगत् में सबकुछ नामरूपात्मक है, सगुण साकार विलास है तोभी उसका अव्यक्त भाव अज्ञातसा रह जाता है। जो देखता नहीं, सो कैसा पायेगा ? उसे बिश्वात्मक परमात्मा की अनुभूति नामरूपात्मक विश्वके द्वारा कैसी संभव है ? उसकी रक्षा कोन करेगा ? जहाँ ग्रहणक्षमता ही नहीं वहाँ देनेसे भी क्या स्वीकार होगा ? वहाँ योग नहीं होता। केवल वियोगमें, पिपासामें, तृष्णा–मोहमें, वह ढूंढ़ता रहेगा। उसका अयोगात्मक भाव योगभूमिका से दूर रखता है। उसकी बहिर्मुख वृत्ति विश्वकी बहिर्मुखता में श्रद्धा रखती हैं। पांचभौतिक स्थूल विश्वके मूलमें तन्मात्र की सत्ता है। वहाँका 'तत्त्व' सूक्ष्मरूप और मूलतः ध्वन्यात्मक है। उसका नाद स्वर

योगी अनुभव कर सकता है। किन्तु जिसकी यह ज्ञात कर लेनेकी इच्छा नहीं, वह इससे निश्चित वंचित रहेगा। अपने आपमें वह 'तन्मात्र' अनुभव किया जाता है। किन्तु भोगी यह समझ नहीं सकते। अतः वह तन्मात्र जब सन्मात्र हो जायेगा, जब उसकी असली चेतना का संवेदन अनुभव किया जायेगा, जब तन्मात्र सत्स्वरूप की साधना में सहज सिद्ध होगी तभी जीवन निःसंशय परतत्त्वस्पर्शी होगा। वह आत्म-संवेदन, 'तन्मान्त्र' के द्वारा हमें सुरक्षित रखेगा। वहाँ निर्भयता भरी हुई है। अतः यह प्रधान कर्तव्य है कि हरेक को चाहिये कि वह जीवन की सूक्ष्म गतिविधी अनुभव करे। स्थूलता से सूक्ष्मकी ओर बढ़े। सगुणता में निर्गुण अपनाये। सगुण, निर्गुण के बखेडे में तो कुछ है ही नहीं। जो जानता है वह बोलेगा नहीं। सगुण–निर्गुण, अज–जन्मयुक्त आदिके मोह को पराभूत करना चाहिये। यह भ्रांति सचमुच अधर्म है। निर्गुण में सगुण है, सगुण में निर्गुण भी और वह सगुण निर्गुण होकर भी गुणातीत है। अतः वह अनिर्वाच्य है। यह हमारी विकार-वशता है कि हम उसे परिधि में बाँधते हैं। अतः सुविचार-पूर्वक उसकी वास्तवता अनुभव करते हुए, उस विश्वात्मक, अनादि, गुणातीत परतत्त्व का सगुण साकार स्वतःसिद्ध स्वाभाविकता ही अपनाने योग्य है। अन्य कुछ नहीं।

मनुष्य का जीवन सचमुच एक प्रश्नचिन्ह है। अनेक संकटों में डूबनेपर, वासनाओं में रत रहनेपर भी उसकी आंतरिक पिपासा कुछ और रहती है। उसका प्राप्तव्य कुछ

अलग है जो बिना प्राप्त हुए मनुष्य संतुष्ट, प्रसन्न नहीं रह सकता। उसका सुख, मोह, वासनानन्द बिलकुल उपरी है। उसका जन्म, उसका विलास तथा वैभव, उसका मदनसदृश रूप आदि सभी बातें विश्वके विशाल प्रयास का एक अंश मात्र है। निसर्गत: जो धारणा है, जो धर्म, जो स्वभाव–स्थायीभाव है, जो आत्मरूपता है उसे पहचाने बगैर मानव का सुख नि:संशय मृगजल है। अत: उसके सभी प्रयास में धर्मधारणा की ही प्रेरणा है। यद्यपि वह धारणा नहीं है, न हुई हो तो भी प्रसंगवशात् वह जरूर होकर रहेगी। यह नियतिचक्र है, यह शाश्वत सिद्धान्त है, वह स्वयं सिद्धान्त है। इसे न जानने से आदमी एक प्रकार बोझही ढोते हैं। उनका जीवन विफल रहता है। संकटों में डूबते हुए, बोझसे लदे हुए यें प्रापंचिक दु:ख, दुराशा, दुर्मोह के सिवा और कुछ नहीं पाते। उनकी पुरानी पीठिका, उनका पुराना जीवनयापन उन्हें नित्यनूतन रूप देनेमें सर्वथा असमर्थ रहता है। अत: मैं यह जोर देकर स्पष्ट करना चाहता हूँ कि चाहे वह अव्यक्त हो, चाहे अज हो, उन सबको अपनाकर मैं सबोंका बन जाता हूँ, सर्वात्मक होता हूँ, सबको आत्मीयता से ओतप्रोत कर देता हूँ। मेरा पुराना ऐश्वर्य, मेरा नित्यनूतन वैभव तथा सर्वात्मक स्नेह आदिकी रक्षा करता हूँ। उसमें सच्ची कसौटी है। वहाँ केवल आस्था, आत्मीयता, निरतिशय प्रेम होनेही के कारण वह सब कुछ एक प्रकार आदरयुक्त बन जाता है। जीवन का संपूर्ण स्थायीभाव, जो आत्मनिष्ठा है, मेरा अपना होकर,

परमादायुक्त तथा कल्याणप्रद्र रहता है। उसके द्वारा केवल आशिषही प्राप्त है। निष्काम कर्म की चेतना तथा प्रेरणा है ॥५०॥

**परित्राणाय साधूनां विनाशायच दुष्कृताम् ।**
**धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥८॥**

सज्जनों की रक्षा के लिये, दुष्ट कर्मोंका नाश करने के लिये तथा धर्मकी संस्थापना करने के लिये मैं युग युगमें जन्मता हूँ।

ते वेळि आपुल्याचेनि कैवारें ।
मी साहाकार होऊनि अवतरे ।
मग अज्ञानाचे आंधारें । गिळूनि घालि ॥५१॥

अर्थ :– उस समय सज्जनों को अंगीकृत करके मैं साकार रूपमें अवतीर्ण होता हूँ। जन्म लेता हूँ। अज्ञान तिमिर को नष्ट करता हूँ।

व्याख्या :– यह नया मोड देखो तो सही। सत्कर्म का अनुष्ठान देवताभाव का योगात्मक संबंध है। अपने देवताभाव को मानो अपनाना है। इस अनुष्ठान में संसार का बोझ, श्रम अपने आप हल्का हो जाता है। जीवन की सहज स्वाभाविकता तथा आत्मीयता यहाँ प्रस्फुटित होती है। इसके विपरित है देहमंदिर ! वहाँ न पूजा है न श्रद्धा तथा ज्ञान। देह बुद्धिका अनुचर अवगुणों के कारण सदैव बंधन में पडा

रहता है। उसे कष्टके सिवा अन्य कुछ प्राप्त नही हो सकता। ऐसी स्थितिमें वह निरुपाधिक आविष्कार यहाँ असंभव है। परतत्त्व के विलास का यहाँ संकोच मात्र है। अतः वह मानो ऊब जाता है। क्योंकि वहाँ एकरसता अनुभव नहीं की जाती। अर्थात ऐसी स्थिति में किसी भी प्रकार का मत्सर तो है ही नहीं। ब्रह्मका स्वरूपही निर्विकार, निरामय है। वह केवल साक्षीभूत होकर रहता है। जीवोंका अधिनायक भगवान श्री नारायण के रूपमें वह साक्षीत्व तथा त्यागकाही प्रतिपादन करता है। अतः देहबुद्धि के प्रति भी किसी प्रकार का मत्सर नहीं रह जाता। अर्थात यह प्रश्न जरूर निर्माण होता है कि वहाँ ऊब जाना क्यों होता है? यह केवल स्वभाव के कारण होता है। जिस प्रकार रसोई पक जानेपर अच्छा असर करती है, किन्तु वह पकी न रहनेपर दिलपर कुछ परिणाम नहीं करती। वैसेही यहाँ होता है। अवगुणों के साथ मित्रता होनेसे प्रसन्नता घटती है, प्रकाशमानता रह नहीं सकती। यथास्थित रूपमें पकायी गयी रसोई प्रसन्नता जरूर बढ़ायेगी। जहाँ वह नहीं हो सका वहाँ मनकी उत्तेजना तीव्र नहीं हो सकती। दोनोंमें विवेक होता है। वह साक्षीरूप सगुणात्मक नाम तथा रूप अपनी परिपक्वता अनुभव नहीं कर सकता। वहाँ कुछ भी संवेदन नहीं रहता साथही संपादन भी नहीं होता। अवगुणों के साथ जीवन का स्वरूप दंडात्मक, बोझरूप बन जाता है। अन्यत्र जहाँ गुणोंका यथायोग्य विकास है वहाँ देवताभाव की पूजाही है। वहाँ दीप्ति है, प्रकाश है, ज्ञान है। वहाँ त्रिगुणातीतका, उस

अरूपका, स्वाभाविकता का सच्चा प्रकटीकरण है, स्पष्टीकरण है। इसके विपरित स्थिति अवगुणों के कारण अनुभत हो सकती है। वहाँ सब कुछ अधूरा, अपरिपक्व तथा खट्टा सा रहता है। उसका संकेत केवल भौतिक है। आध्यात्मिक जीवनकी आभा वहाँ नही हो सकती, यही दुर्जनता है। जीवन की सुदूर तथा निगूढ़ गति वे नहीं जान सकते। वहाँ अपनापा नहीं आ सकता। यथावकाश तथा यथासंभव जब स्वाभाविकता निर्माण होगी तभी कहीं वह परमात्म स्वरूप के साक्षात्कार का अधिकारी बन सकता है। किन्तु इसलिये बहुतही काल व्यतीत करना होगा। अतः यह नितांत आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्तिको ही अपने खुदको प्रयत्नशील रहना आवश्यक तथा उचित है। इस प्रकार प्रयत्न करनेपर ही स्वाभाविक शुद्धता संभव होगी। वहाँ स्वावलंबन, अभ्यास, प्रयत्न आदिको अतीव आस्थासे जीवनमें लानेका प्रयास करना अत्यन्त आवश्यक है। इसी द्वारा अनुष्ठान होनेके पश्चात् उन्हीं शब्दों को देवताभावकी वरद भूमिका प्राप्त होती है। जिस लिये जो आवश्यक है, उसका परिपालन उसीके ही द्वारा होना जरूर है। किसीके लिये दूसरा कोई भी उपयोगी नहीं हो सकता। यह स्वावलंबन हरेक को उपयुक्त है। उसके द्वारा अपने व्यक्तित्व के अनुकूल योगसाधना हो जाती है। व्यक्तित्व उस अनुभूति के लिये विनाशक नहीं होता, सहाय्यक बन जाता है। उसकी महिमा बढ़ जाती है। वह साधक को अपने आप अग्रसर करता है। यह स्वधर्मका, स्वतःसिद्ध

सहजता का अनुपमेय मार्ग सदाके लिये कल्याणकारी है। उसमें मनकी विमुक्त तथा अनिर्बंध वृत्ति जीवन की सच्ची भूमिका अपनाने में सहाय्यक हो जाती है। बुद्धि की यह आत्मरति, आत्मामें शरण जानेकी धारणा पृथक्त्व त्यागकर एकात्मकता लानेमें उपयुक्त है। वहाँ बुद्धिके द्वारा आत्मदेव का यह पूजनही हुआ करता है। इसीसे बुद्धि आत्मप्रत्यय के साथ अपनापा बढ़ाया करती है। उसके अभिमान में किसी भी प्रकार बुराई का अंशतक नहीं। जब बुद्धि प्रसन्न हो जाती है तब ज्ञान की क्या कमी ? वह अपना विस्तृत ज्ञानभंडार खुला करती है। श्री भगवान की कृपासे, उसका अंतस्थ सामर्थ्य और रूप परतत्त्व से ओतप्रोत है। वहाँ तो एकमात्र रसोत्कट दर्शन है। देवताभाव का वह अनुपमेय दिव्य दर्शन साधक का अंतिम कल्याण करता है।

यह स्पष्ट है कि वह परमतत्त्व केवल अंगुष्ठमात्र माना गया है। देहधारणा के कारण वही आवृत्तसा रहता है। मन, बुद्धि, आदि इन्द्रियों के कारण उसपर एक नया विचित्र सा ढँग बन जाता है। वह एक विलक्षण, मजाकिया रंग दीख पडता है। स्वभाव की विविध प्रकार की इच्छाएँ, आशाएँ आदिका उत्थानही सर्वत्र दीख पडता है। मूलतः उसमें एक निरीह मृगजल, एक अविकल प्यास है। जो वास्तविक है उसके प्रति विन्मुखता है। इसी कारण यह बात बिलकुल मजाक सी बन जाती है। हरक्षण यही चल रहा है। कर्तव्य की महत्ता उसका बोझ हलका होनेमें है। वहाँका अस्थानी

गांभिर्य नष्ट होनेमें है। वस्तुतः जीवन में हरप्रकार के उचित, अनुचित, भले बुरे अनुभव किये जानेपर भी यह मजाक, यह विनोदन छूटता नहीं। उससे हम दूर नहीं रहते। यह देहधारणा तथा देहात्म बुद्धिकी बात इसी प्रकार की है। वहाँ आनन्द है किन्तु वह अनूठा नहीं, अधूरा है, उसमें अपरिपक्वता है। क्या उसे हम आनन्द कह सकेंगे? इसके विपरित इस जीवन की गति आनन्दमयी होनेके लिये आवश्यक है उस देहधारणा का बोझ हलका होना। अपना स्वत्व, अपना स्वभाव, अपनी अनुभूति में एक प्रकार मानो मुसकराहट होनी चाहिये। उसमें बोझ न हो, हास्य हो। हास्यका भेंस ही पहनाया हो। वह परतत्त्व कुछ केवल देहमें छिपी हुई बात नहीं। वह तो सर्वत्र ओतप्रोत है, सर्वत्र व्याप्त है। संपूर्ण आकाश कोही उसने व्याप्त किया है। हृदयस्थ चिदाकाश में जब रोशनी बरसती रहती है, जब नादब्रह्म के अनन्त सूर स्वैर गूंजन करते रहते हैं, तब वह असीम आकाश भी उनके लिये ससीम बन जाता है। वह न तो देहमें स्थित रहता है, न देहबुद्धि का अंकित। उस समय वह समूचे ब्रह्मांड की एकात्मता, एकरसता, आत्मीयता अनुभव करने में जूट जाता है। वहाँ किसी भी प्रकार का दूसरा तत्त्व नहीं जो उसकी सानी रखेगा। अन्य सभी तत्त्वोंको आत्मसात करते हुए, अपनेमें ही विलीन करते हुए वह सर्वव्याप्त परमात्मतत्त्व जीवन में अपनी ही विजयपताका फहराता रहता है। क्या उसके बारेमें कुछ कहा जा सकता है? वह परमात्मतत्त्व

सदाके लिये अनिर्वाच्य रहा। वाणी तो उसे अपने में कर लेनेका प्रयास करती रही। किन्तु वह असीम सदाही उस पार रहा है। ऐसी हालत में उसका सच्चा आविष्कार सभी दुष्कृतों को तोड मरोड डालता है। जीवन के विविध आचार, विविध गति, रीति आदि अपने स्वभाव की कल्पना देते हुए वह उनसे परिचित कराता है। विश्वकी यह धारणा तथा देहधारणा दोनोंमें समायी गई यह प्रधान आत्मप्रेरणा यहाँ खुल जाती है। वह रहस्य सुस्पष्टसा होता है। विश्वपट का संकोच तथा विस्तार जहाँसे होता है, वह उगमस्थान है श्रीभगवान का त्रैलोक्य में समा हुआ ईश्वरीय साकार रूप। उसका परिचय होनेमें विश्वका रहस्य साधक को निष्कंप, आंदोलनरहित तथा दुविधाशून्य बना देता है। यह उसीकी कृपा है, श्री भगवान की ही शरण हैं!!

यह एक विलक्षण द्वंद्व सा प्रतीत होता है। ब्रह्मभाव तथा प्राकृतिक ऊपरी रूप का मानो संघर्ष सा चल रहा हो। यह गुरुत्व, बोझ ऊपर से इतना तीव्र तथा प्रभावी रहता है कि उसका निवारण करने के लिये श्रीगुरु कोही सामर्थ्य है, अन्य किसीको नहीं। जब यह 'गुरुत्वा' कर्षण निर्माण होगा, जब श्रीगुरु के प्रति अनन्य श्रद्धा, असीम प्रेम तथा उनके विचारों का तथा आदेशों का यथातथ्य परिपालन होता जायगा, तब संभव है कि देहधारणा का मूल आधार जो अस्वाभाविक गुरुत्व, बोझ हट गया है। वह देहधारण अब केवल स्वाभाविक अधिष्ठान पर स्थिर होगा। उसमें मौलिक

परिवर्तन हुआ है। ईश्वरीय सगुणता का साक्षात्कार व्यक्ति को नये दिव्यानुभव की ओर उठाता है। वहाँ आत्मदर्शन है। उसकी आत्मीयता तथा परम वात्सल्य मातृत्व के रूपमें सामरस्य अनुभव कराता है। नामरूपात्मक अधिष्ठानही नष्ट हो जाता है। जो अमूर्त, अव्यक्त या अंगुष्टमात्र है वही अब दर्शनयोग्य तथा कथनीय बन गया है। यह कैसे होगया कहा नहीं जाता। श्रीगुरुका ही एक वेध बंद है जो कर्मच्छेद करने में समर्थ है। श्रीगुरु वहाँ कुछ भी अधूरा नहीं रख देते। वह मूलतः अभावात्मक सा होकर भी सत्तारूपमें प्रतीत होता है। साथही उसका अस्तित्व सचमुच बडा महत्वपूर्ण है ॥५१॥

अधर्माची अवधि तोडी। दोषाचि लिहि फेडि।
सज्जनाकरविं गुढ़ि। सुखाचि उभवि ॥५२॥

अर्थ :- अधर्म के आचार की सीमा तोड डालता हूँ, धर्मविरुद्ध लेखन नष्ट करता हूँ और सज्जनों की ओरसे सुखकी विजय ध्वजा फहराता हूँ।

व्याख्या :- कभी कभी यह भी संभव होता है अधर्म की स्थिति उग्र रूप धारण करती है। अधर्म की ज्वाला धधकती रहती है। स्वाभाविक जीवन में दुष्करता आ जाती है। आवश्यक है कि उस समय सज्जनों को कष्ट न हो, उनपर जुल्म न हो। वे वस्तुतः आचारशील तथा प्रेमादरयुक्त रहा करते हैं। उनके जीवन में अतीव शुचि, श्रद्धा, भक्ति तथा प्रेम है। अतः यह मेरा परमकर्तव्यसा बन जाता है कि उनकी

श्रद्धा भक्ति के कारण मुझे अवतार धारण करना पडता है। मेरी विभूति अपनी व्यापकता तथा सामर्थ्य के आधार पर अज्ञान तथा अविद्याजन्य तमांध नष्ट कर देता है। समूचा तमोजाल नष्ट कर देता हूँ। जिनके मनमें मेरे प्रति अतीव आस्था तथा श्रद्धा है, जो मेरे सदाके सज्जन है उन्हीं की ओर मेरा मन भी आकृष्ट सा रहता है। उनका पक्ष लेकर मैं उनकी रक्षा का प्रयत्न करता हूँ। उनके स्वाभाविक धर्मका अनुष्ठान अबाध गतिमें होनेके लिये तत्पर रहता हूँ। जो अधर्म है वह सद्धर्म में परिणत होना कठीन होता है। ऐसी स्थिति में उनका अनुनय करने की अपेक्षा उन्हें नष्ट करने के लिये प्रयत्न करना उचित है। उनकी सामयिक अनुकूलता नष्ट कर देता हूँ। अधर्म के कारण सबसे अधिक प्रभाव पडता है मनपर। प्राकृतिक चांचल्य बढता है, मनकी स्थिरता नहीं रहती। प्रापंचिकों के लिये यह अतीव कष्टकारी होता है। वे अधर्म फैलाव के कारण अनाथ बन जाते हैं। उनके पीछे सद्धर्म की शक्ति खडी कर देना मेरा परम कर्तव्यही है। उनका चित्त अत्यन्त चंचल सा होकर उसकी कीमत तिनके से बढ़कर नहीं होती। वासनाओं के व्यामोह में वह कहीं का कहीं जाता है। उसके लिये किसी भी प्रकार का स्थायी आधार नितांत आवश्यक है। स्थैर्य निर्माण करनाही उचित है। वहाँके दोष, आधिभौतिक कष्ट और वासनाओं द्वारा निर्माण हुआ विपरित जीवन आदि सब कुछ दूर करना अत्यन्त आवश्यक ही है। सन्देह तथा सन्देहजन्य अज्ञान, बाधा, अस्थिरता आदि का जंगल तोड कर साफ करता हूँ। हर डगर भर देता हूँ।

एक ऐसी सहज स्वाभाविक समतल निर्माण करता हूँ कि जिससे सज्जनों के लिये सुखसंपन्न निवास अनायास प्राप्त होगा। सज्जनों के हितके लिये यह किये बगैर रहा नहीं जाता। उन्हींके द्वारा धर्म की ध्वजा फहरा देता हूँ ॥५२॥

दैत्यांची कुळें नाशी। साधूंचा मान गिंवसी।
धर्मासी नीतीसी। शेस भरी ॥५३॥

अर्थ :- धर्मको अपाय करनेवाले दुष्टोंको–उनके वंशको–निर्मूल करता हूँ। सज्जनों को पुनः सम्मानित करता हूँ। धर्म तथा नीति का मीलन कराता हूँ।

व्याख्या :- दैत्यका वंशही नष्ट करने का प्रयास मेरे द्वारा होता है। दैत्यके समान जीवन में भी जो स्वभाव वैचित्र्य है, जो अस्वाभाविकता है, जो द्वंद्वात्मकता है, उन्हें नष्ट करनाही होगा। अशुभ, अनिष्ट, अस्वाभाविक तथा अधार्मिक तत्त्वोंका विकास उन्मूल कर देता हूँ। जो सदैव शुभद, इष्टप्रद, स्वाभाविक तथा धर्मप्रवण है उन्हीं तत्त्वोंके अनुशासन में मेरा मन प्रसन्न रहता है। उन बातों का अनुष्ठान करनेवाले सदा सम्मानित रहे इसलिये मेरा अवतार है। धर्म की ध्वजा लहरा देता हूँ तथा नीति का समुचित विकास कर देता हूँ। मंगल विवाह का योग हम हमेशा सौभाग्य का मानते हैं। घरपर पधारनेवाली बहू परमसौभाग्य निदर्शक मंगल सिंदूर लगाती है। उसी प्रकार मनुष्यसंघात में धर्मनीति अपनाने से परमसौभाग्यही उनके घर आ जाता

है। वही बात लक्ष्मी को स्थिर कर देती है। उसके माथे पर नीतिका मंगल कुंकुमतिलक लगा रहता है। इसीसे हमारा चित्त जीवन का समूचा बोझ उठाने में समर्थ हो जाता है। जीवन अब बोझ नहीं रहता। वह एक सुखानुभवसा बन जाता है। वर्ष प्रतिपदा के दिन जिस प्रकार हम 'गुढी' को सजाते हैं, शृंगार कर देते हैं। वहाँ देहधारणा अपनीही प्रसन्नता को पाती है। सन्देह मिट जाता है। वैखरी मानो जागृत हो जाती है। वाणीमें मधुरिमा आजाता है। उसीके आधारपर मध्यमा, पश्यन्ती तथा परावाणी का संयोग अनुभव किया जाता है। जीवन का सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप तथा लिंग देह की सत्ता भी समझमें आती है। जीवन के निगूढ़ भाव, संकेत, प्रेरणाएँ सुस्पष्टरूपसे ज्ञात होनेसे वे सभी शुभप्रद हो जाते हैं। साथही स्वभाव की सहजता स्थिर होती है। सहजसिद्धता अपनायी जाती है। आत्मीयता का निजसौंदर्य तथा दिव्यप्रेम साधक को परिपुष्ट करता जाता है। वहाँ हरेक कृति निरतिशय सुन्दर हो जाती है। चलना, बोलना आदि सभी क्रियाएँ आत्मसौंदर्यसे परितृप्त तथा सुहावनी हुआ करती हैं। सभी प्रकार के सौंदर्य की परिपुष्टि इस अवस्थामें अनुभव की जाती है। जीवन में सौंदर्यका आविष्कार यौवन में है। मदमाता यौवन सौंदर्य को अनुभव करता है, सबको लुभाता भी है। किन्तु उससे बढ चढकर यह स्थिति है कि जहाँ अतीव मनमोहकता के साथ जीवन की संपूर्ण आभा साजसिंगार कर देती है। कोटचावधि देहोंको न्योछावर करनेपर भी यह स्वप्नसुंदर, अतीव परिणाम-

-क्षम आत्मसौदर्य चित्त को हर्षविभोर बना देता है। जीवन में नित्यनूतन आनन्दमहोत्सव होता है। सर्वत्र चाहे तो साज-शृंगार होता रहे या न रहे किन्तु उससे कुछ कमी नहीं निर्माण होती। ईशस्वरूप का यह अतीय सौंदर्ययुक्त वैभव इतना वढ़चढ़कर रहता है कि और सभी वातें उसके सामने तुच्छ हैं। आवश्यक है कि उसके अनुरूप अच्छे अच्छे उँची वस्त्र परिधान किये जाय। ईशस्वरूप का किसी भी प्रकार अवमान न हो। मानो उत्साहही इन मांगल्य तथा सौंदर्य को बढ़ावा देता हुआ उनकी शोभा बढ़ाया करता है। उसे देखना नितांत प्रेरक तथा प्रोत्साहक है ।।५३।।

मी अविवेकाची काजळि। फेडूनि विवेकदीप उजळि।
तैं योगिया पाहे दिवाळि। निरंतर ।।५४।।

अर्थ :– अविवेक का कज्जल झाडकर–हटाकर–मैं विवेक दीप का प्रकाश फैलाता हूँ। इससे योगियों के लिये नित्य दीपावली प्राप्त होती है।

व्याख्या :– उस स्थिति में कहीं अविवेक दिखाई नहीं देगा। उसका नाम तक सुन नहीं पडेगा। दवाके लिये भी उसका अस्तित्व नहीं होगा। प्रकाश का सहजभाव है विवेक। वहाँ दिव्यता है, प्रकाश है, विवेक है। विद्वत्ता तथा विवेक दोनोंका सामंजस्य वहीं पर अपना प्रभाव निर्माण करता है। वही वैराग्यदीप बन जाता है। विरक्ति का चिरंतन आश्रय स्थान जो विवेक वह वस्तुतः योगी, वीतरागी, यागी, तापसी

तथा सज्जनों के जीवनमें, उनके अंतःकरण में स्थिर है। वह उन्हें सदैव आनंद, आल्हाद, उल्हास तथा उत्साह की देन दे देता है। उनके यहाँ दीपावलि जैसा समारोह दीख पडता है। वह विवेकदीप है जो आनन्द तथा प्रकाश का मूलाधार है। जहाँ वह विद्यमान है वहाँ प्रापंचिकों के समान सभी प्रकार के सुख उपस्थित है। वहाँ किसी की कमी नहीं है। स्नानपान, भोजनादि विविध प्रकार के सुख निःसंशय सत्सुख के होते हैं। ये आचार बन्धक तो नहीं रहते किन्तु सुखोत्पादक जरूर बन जाते हैं। योगयाग के द्वारा जो यह सुख उपलब्ध होनेकी इच्छा रहती है, उसकी उपलब्धि वैराग्यदीप के कारण सहजही निरन्तर हो जाती है। वहाँ स्नेह अद्भुत प्रगाढ़ रूप अनुभव किया जाता है। स्नेह की दृढता अनुस्थिति को प्राप्त होकर निरन्तर बनी रहती है। वहाँ आनन्द का शाश्वत धाम ही है। बुध्दिका प्रकाश विवेकदीप द्वारा है। विवेक की दीप्ति बुद्धिको सतेज बनाती है। वुद्धि इसी द्वारा अतीव उपयुक्त हो जाती है। अविवेक नष्ट करते हुए, विवेकदीप को प्रज्वलित करके सभी प्रकार का अंधियारा हटाता हूँ। योगियों के लिये तो यह निरन्तर दीपावलि है ।।५४।।

मग सत्सुखे विश्व कोंदें। धर्म जगिं नांदे।<br>
भक्तासि निघती दोंदें। सात्विकांची ।।५५।।

तैं पापांचा अंचळ फिटे। पुण्याचि प्हाट फुटे।<br>
जैं मूर्ति माझी प्रगटे। पंडु कुमरा ।।५६।।

अर्थ :– उसी आत्मसुख के द्वारा सारा विश्व ओतप्रोत

हो जाता है। केवल धर्मका ही यहाँ अनुशासन है। भक्त सत्त्व गुणोंसे परिपुष्ट हो जाते हैं।

हे पंडु कुमर !, जब मैं साकार प्रकट होता हूँ तब पापों का पहाड टूट जाता है, पुण्य का प्रभात काल होता है।

व्याख्या :– बुद्धिका विश्वव्याप्त स्फुरण है महत्। महत् का ही प्रकाश समूचे विश्वमें फैला हुआ है। यह विश्व बुद्धि की विशाल व्याप्ति के कारण प्रकाशरूप गृह है। उसमें जीवन बितानेवाली यह देह मानो सत्सुख, सद्धर्म का अनुष्ठान करने वाला सुखानंदही है। विश्वमें देहकी लघुता नहीं। देहमें छिपी हुई बुद्धि की महत्ता मात्र विश्वके महत् की बराबरी कर सकती है। दोनोंमें एकही स्फुरण, प्रकाश तथा आनंद समाया गया है। अतः देहमें सुखानंद का आविष्कार होता रहता है। वहीं प्रेमकी प्रसन्न प्रभा उत्कट हो जाती है। प्रेमके परितोष में भक्तकी देह सुखासीन हो जाती है। वह देह नहीं, किन्तु भक्त के लिये भक्तिका विश्रामधाम है, स्थिरधाम है। वहाँ परम सात्विकता है, वहाँ पूजनीयता साकार है। पुष्टि के द्वारा प्रेमकी पूर्णता प्रत्यय दिलाती है। भक्ति की सीमा अपनी महत्ता को प्राप्त करती है। वहाँ जीवन यथानुष्ठान, यथाधर्म, सहज स्वाभाविक हो जाता है। ब्राह्ममुहूर्त का महत्त्व अनन्य--साधारण है, किन्तु उपर्युक्त अवस्था में हर क्षण, हर घडी ब्राह्ममुहूर्त है। ब्रह्मकी मूर्ति जहाँ हृदयस्थ हुई है, जहाँ उसकी आत्मीयता पगपग पर अनुभव हो रही है, वहाँ ब्राह्ममुहूर्त का

प्रभातकाल, वह पुण्यपावनकाल सर्वदा अधीनसा बना रहता है। जहाँ वह दर्शन सुलभ है वहाँ प्रसादपुण्य सर्वदा उपस्थित है। वह सोज्वल, शामल रूप, श्री भगवान का वरद सुहास्य का लाभ जो पा चुका, उसकी अनन्त पापराशी भस्म हो चुकी। दोषों के ढ़ेर निष्फल हुए। अधर्म को आधार नहीं रहा। अज्ञान का अन्धेरा दूर हटा। उसका पता तक नहीं रहा। हे अर्जुन ! यह अवस्था और कुछ नहीं, किन्तु प्रत्यक्ष श्रीभगवान का ही अवतरण है। विविध मृहुर्तों का समीकरण होकर यह अनन्यसाधारण सर्वोकृष्ट शुभवेला आ जाती है तभी यह संभव है ॥५५-५६॥

ऐसेया काजा लागिं। अवतरें मि युगायुगीं।
परि हेंचि वोळखे जो जगिं। तोचि विवेकिया ॥५७॥

अर्थ :- इसी कारणवश मैं युगयुग में अवतार धारण करता हूँ। जो यह जानता है वही इस जगत् में विवेकी है।

व्याख्या :- इसी प्रकार मेरे अवतार का यह रहस्य है। कुछ कार्यवश जो मैं सर्वत्र विद्यमान हूँ, वही अवताररूप हो जाता हूँ। कार्यसे ही कार्य पूरा कर देता हूँ। फिर भी मेरी अकर्मता नष्ट नहीं होती। कर्म कर्मही के द्वारा पूरा करने के लिये अवतार कर्म हो जाता है। उसी कारण मेरा अत्यन्त प्रिय तथा लुभावना साकार रूप सबको सुस्पष्टसा दिखाई देता है। उसकी बुद्धिगम्य आकृति मनको आल्हाद देती है। इस प्रकार का यह अवतार का रूप जो जानता है, उसका

प्रयोजन–आयोजन समझ लेता है वही सच्चा आदमी है। उसनेही पुरुषार्थ पाया है। वह विवेक का विश्राम तथा सागर है। इसी जगत् में सदैव समा हुआ, चिरस्थायी, परममंगल सत्यस्वरूप नित्यनूतनता के साथ जो अनुभव करता है वही पुरुष है; वही जीवोंमें आदर्श है ।।५७।।

**जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।**
**त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ।।९।।**

हे अर्जुन ! यह मेरा दिव्य जन्म तथा कर्म जो जानता है वह देह त्यागने के बाद फिरसे जन्म नहीं पाता। वह मुझे ही प्राप्त होता है।

माझें अजत्वें जन्मणें। अक्रियताचि कर्म करणें।
हे अविकार जो जाणे। तो परममुक्त ।।५८।।

तो चालिला संगें न चले। देहिंचा देहिं नाकळे।
मग पंचतत्त्वीं तत्त्वतां मिळे। माझाचि रूपीं ।।५९।।

अर्थ :– अजत्वसे जन्म लेना, अकर्मत्व से कार्य करना आदि अविकार जो जानता है वही परममुक्त है।

वह चलनेपर भी नहीं चलता, देही होनेपर भी वह विदेही है (देहमें होकर भी वह देह का नहीं)। अन्तमें सारा शरीर पंचत्व में विलीन होनेपर वह मुझेही पाता है।

व्याख्या :– यह स्वप्नसुन्दर जीवन जब प्रत्यक्ष में अनुभव

किया जाता है, तब परावाणी का सूक्ष्मातिसूक्ष्म आविष्कार मुखर होकर वैखरीप्रत आ जाता हैं। अनिर्वाच्य तत्व भी मानो मुखर होता है। वासनाओं का लेशमात्र भी न होनेके कारण वहाँ शुद्धता अनिवार्य रूपमें विद्यमान है। यह नित्यनूतन सर्वसाक्षी अनुभव जिसे प्राप्त है वह ज्ञान कर लेता है कि वह दिव्यावतार, वह दिव्य जन्म जो है वह होकर भी नहीं, न होकर भी है। विश्वव्याप्त तेज, वह प्रकाश पहलेही जन्मा हुआ है। उसीका ही बुद्धिगम्य विलोभनीय अवतरण, अपनीही स्थिति में अनुभवगम्य हो जाता है। वह जन्म, वह आविष्करण या अवतरण विद्यमान तत्ताकाही विशेष आविर्भाव है, जो विशिष्ट होकर भी सामान्य है। वहाँका कर्म कर्मरूप होकर भी अपनी विशिष्टता के कारण अकरणरूप, अकर्मसा होता है। वह कर्म है, किन्तु वह अक्रिय का–अकर्ता का है। वह क्रियायुक्त है, विकारसा है किन्तु उसके द्वारा विकार का मूलही नष्ट हो जाता है, वह अविकार रहता है। मुक्त की अवस्थामें हो यह विकारशून्य सहजकृति उपलब्ध है। विकारशून्य सहजकर्म ही मुक्तजीवन का व्यवच्छेदक लक्षण है। देहकी वद्धता तथा अनुबन्ध मनादि विकारवान इन्द्रियों के सहित छूट जानेके कारण वहाँ सच्ची मुक्ति है, मुक्त जीवन है। जीव तो मुक्त है ही किन्तु जीवन में वह बद्ध सा रहता है। उसकी सहजता अपनाने में मुक्तावस्था प्रतीत होती है। उसकी यह तो रूपरेखा है। न तो कोई कह सकता न कोई सुन सकता। वह केवल अनुभवगम्य है। अतः हमें स्वयं उसे देखना चाहये। अनुभव करना चाहिये। वह कृति

निःसंदेह श्रेष्ठ अभ्यास हैं, अध्यवसाय है। इस प्रकार का महात्मा देह के संगसे बद्ध नहीं है। वह देही है किन्तु वह देहसे परे हैं। उसकी देह दिव्य देह है। उसकी व्याप्ति केवल देहमें नहीं। उसका आकार केवल देहसदृश भी नहीं। उसकी व्याप्ति देहमें होकर भी विश्वात्मक है। देहविसर्जन के समय भी यही अवस्था है। पांचभौतिक में समायी हुई मेरी विभूति उस दिव्य देहको अपनेमें लीन कर लेती है। वह देहविसर्जन के पश्चात् मुझमें ही समा जाता है। उसकी दिव्यता दिव्य जीवन में सायुज्य पाती है। उस सायुज्यता में उसका अमर अक्षर रूप ब्रह्मांड में विलीन होकर रहता है। चराचरात्मक विभूति के साथ एकात्म होनेके कारण, तथा देहधारणामें भी वही विश्वात्मक अनुभूति व्याप्त होनेके कारण व अक्षर, अजर विभूति चिरन्तन मुझमें ही प्रविष्ट है। वह मेरी आत्मा है, आत्मीयता है। उसीके अनुसंधान में सच्चा अभ्यास है, पवनधारणा है। उसीसे योगाभ्यास हो जाता है और योग--सामर्थ्य के कारण जीवनमुक्तावस्था वहाँ उदित हो जाती है। जब देह पंचत्व को प्राप्त होती है तब उसमें स्थित दिव्यवाणी समूचे विश्वमें गुंज उठती है। तत्त्व तत्त्वमें सामरस्य पाती है। जगह जगह पर उसकी अक्षरता का निनाद सुनाई देता है। उस अनन्यसाधारण विभूति का देहधारण इस भूतल की चरम शोभा है। समस्त मानवजाति के प्रति आत्मिक तथा सहजस्वाभाविक आस्था, पाँचभौतिक तत्त्वोंके अनुशासन के साथ वहाँ उपस्थित है। पांचभौतिक तत्त्व भी उनके लिये अपनापा बढ़ाती है। उनकी अपनी देहभवन की

विभूति विश्वात्मक, त्रिभुवन की विभूति से संबद्ध है। उनके हृदयस्पंद विश्वस्पंद में सामरस्य पाते हैं। अतः सहजही वह ब्रह्मरूप में विलीन हो जाते हैं ॥५८–५९॥

**वीतरागभय क्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।**
**बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥१०॥**

जिनके काम क्रोध भय आदि बिकार नष्ट हुए हैं, जो मेरी उपासनासे मेरेही आश्रित बन चुके हैं, जो ज्ञानादि तपसे पवित्र हुए हैं, ऐंसे कई मेरे स्वरूप को प्राप्त हुए हैं।

येऱ्हविं परापर न शोचिति। जे कामनास्तु होति।
वाटा केवळि न वचति। क्रोधाचिया ॥६०॥

अर्थ :– अन्यथा जो गत–अनागत का विचार नहीं करते, जो कामनाशून्य, किसी भी अवस्था में क्रोध मार्गपर खडे नहीं रहते –

व्याख्या :– जहाँ मैं और मेरा, यह अपनापा नष्ट हुआ, अहं एषां मम एते ऐसी भावना ही नष्ट हो चुकी, आप्त तथा परजन यह द्वंद्वही नही रहा, स्वजन–परजन की परिभाषा तक नहीं रही, वहाँ क्या कामना रह सकती है? कामना नष्ट ही हो जायगी। उसे भी मानो समाधान प्राप्त हुआ हो। कामना के माने है इच्छा। जहाँ इच्छा ही नहीं वहाँ रागद्वेष के विविध विषय क्या करेंगे? क्रोध कहाँसे आयेगा? कुछ प्राप्त होनेपर अभिलाषा, आस्था, राग निर्माण होगा। प्राप्तव्य न मिलनेपर

द्वेष, इर्ष्या, मत्सर तथा क्रोध जरूर रहेगा। जहाँ कामना है ही नही, केवल नाम के लिये ही जो बची हुई है, वहाँ क्रोधको क्या चारा रहा ? उसका मार्गही रोक दिया गया। द्वेष के कारण भय, क्रोध के कारण रास्तेमें ही हानि, कामना के कारण प्रेम, लोभ, राग आदि निर्माण होते हैं। किन्तु जहाँ उसकी जडही छेदी गयी वहाँ वे कैसे संभव है ? उनके लिये अन्य विषय निर्विषय बन गये। उनकी दृष्टि निर्विशेष आत्म-तत्त्व की ओर है। वे अपलक नेत्रोंसे मेरीही ओर देखा करते हैं। उनके लिये मैंही सर्वव्याप्त विषय बन चुका हूँ। उनकी इच्छा मेरी बन गयी, मेरे लिये रह गयी। उनकी भावना मुझमें अटकी गयी। अतः इस अवतारकार्य का, दुबार जन्म का कथन या चरित्ररेखन अत्यन्त कठीन काम हो गया है। यहाँ कलम का भीं ताटस्थ्य दीख पडता है। लिखते समय किसीभी प्रकार की उपमा सूझतीही नहीं। यहाँका वेदन अकथनीय है। वह 'वेधन' है। मानो कोई विध्द सा हुआ है। वहाँ एक ऐसी अविकल वेदना है जो कही नहीं जाती। क्या कहूँ ? वह क्रीडा ही क्रीडा है। वहाँ जीवजीवन, जीवसंजीवन हो रहा है। शब्दोंमें नयी संजीवनी लायी जा रही है। शब्द में ऐसी संजीवनी लायी जाती है कि वे महान् मन्त्र हो जाते हैं। वहाँ एक नामधारण ही है। अनाम को नाम दिया जाता है। धर्म की धारणा के लिये नामधारण !! किन्तु इन सभीसे बढ़कर वहाँ महान् वेध है जो भगवत्स्वरूप केही कारण अपनाया जाता है। जो इससे विद्ध हुआ उसकी अवस्था क्या कहूँ ? उसका निरुपम प्रेम, उसकी लगन, उसकी प्यास क्या वर्णनीय है ? वहाँ

प्रेमही प्रेमको देखता है, प्रेमही प्रेमपर त्यागा जाता है, वहाँ प्रेमकाही समर्पण है और वह भी प्रेममेंही। अमृतस्वरूप प्रेम की महत्ता इसीमें है कि वह मर्त्य को भी अमर कर देता है। यह उसका अनन्यसाधारण गुण सर्वविलक्षण तथा परम परिणामक्षम है। वह अमरत्व प्रेमानन्द का लावण्ययुक्त जीवन आत्मीयतासे प्रफुल्ल बना देता है। लावण्यलतिक के समान परम आल्हादक जीवन हो गया। लावण्यही मानो यहाँ साकार हो गया। मनको मोहित करनेवाली यह अवस्था जीवको जीवभाव के सम्बन्ध में एक भूल सी निर्माण करती है। विषय तथा उनका उपभोग लेनेवाले इन्द्रियों के बीच जो रागद्वेषात्मक संबंध है, उसकोही यहाँ भुलाया जाता है। मात्रास्पर्श की विस्मृति तथा आत्मसंवेदन की प्रतीति दिव्यत्व की देन है। साक्षीरूप जीवन में एक प्रकार अनासक्त क्रीडा जैसी चल रही है। वह क्रीडा यद्यपि द्वैतरूप दीख पडती है तो भी वहाँ द्वैताभास संभव है। द्वैताद्वैतात्मक यह विलक्षण अनुभव जीवन की चरम सफलता ला देता है। मनुष्य जीवन में ईश्वरभावनत्व प्रधान है। वही ज्ञानरूपता का महत्त्वपूर्ण प्रमाण है। बुद्धिसे भी परे होनेवाला वह आत्मभवन है, उससेही परे वह नित्यसाक्षी आत्मराज अव्यक्त रूपमें विलासमान है। उसमें रसलीन होना तथा तादात्म्य प्राप्त करना जीवदशा की महत्त्वपूर्ण योगभूमिका है। उसके लिये निरन्तर प्रयत्नशील रहनेवाली जीवदशा, उसकी श्रद्धा सदैव सोत्कंठ रहा करती है। वहाँ हृदय की तरंगे लहराती हैं। प्रेमसर्वस्व सार अश्रुधाराएँ। वही सचमुच बडी बारिश है

जो जीवन में भी क्रांति ला देती है। जीवन की कठोरता यहाँ कोमलकुसुमित होकर रहती है। उसकी अकथ रससिद्ध कहानी महत्त्वपूर्ण महिमान निर्माण करती है। देहकी तपनमें हे तेजोनिधि! देवाधिदेव श्रीहरि!! हे शामलरूप शामसुंदर! वही भक्तिपिपांसुओं को अपनापा प्राप्त होता है। तुम तो वहीं वैकुण्ठ में रामनाम आनेके समान सामरस्य तथा सामंजस्य की, अद्वय तथा अद्वैत की अनन्यता हो। तुम्हारा शुभागमन यहाँ निरतिशय सामुज्यता है। इन इन्द्रियों को तुम्हारी शरण में लाया गया हो। उन्हें भी तुम्हारे प्रेम के सिवा और कुछ चारा नहीं रह गया। वे अपने विषयों से अलिप्तसी हो गयी। वहाँ प्रेमार्द्रता कीही एकात्मता भुली नहीं जाती। उसका विस्मरण कभी नहीं हो सकता।

जीव का नित्यक्रम भी यों कष्टकारी है। प्रारब्धभोग-वश वह जन्म लेता है। बुद्धिके सत्त्वगुण के कारण यह जन्म प्रेरणा हो जाती है। फिर जीवन में भोगवशात् सुख दुःख आदि द्वंद्वात्मकता का अनुभव करते हुए आये दिन बिताते रहना। फिर मर जाना। जन्म-मरण- भोग-सुखदुःख आदिके चक्रमें फँसा हुआ जीवन अनन्त दुःखोंके बाद संभव होता है कि जीवदशा में भी ज्ञान-बोध-आत्मसंज्ञा-आत्मसंवेदन की भावना निर्माण हो। जब यह हो जायेगा तभी जीवन की दशा सुनिश्चित ही जाती है। प्राणाधारशक्ति जो धर्म उसका अनुष्ठान अपने आप होने लगता है। इसी देहका प्रपंच परतत्त्व के अधिष्ठानमें, उसकी ओर लक्ष्य करकेही होता रहता है।

इसी कारण जीव मानो जीवन की परीक्षामें उत्तीर्ण होता है। साथही वहाँ एक जो अनन्य वृत्ति उदित होती है वह भोग-समाप्तिके फलस्वरूप है। अतः यहीं पर वह श्रीगुरुके चरणों में लीन हो जाती है। मनकी यह कुशल कला है कि ऐसी वृत्ति को श्रीचरणों में वह समर्पित करता है। जीवनका भोग एक प्रकार ऋण है। वह संपूर्णतया चुकानेपर प्राप्त होनेवाला किल्मिषरहित सुनिश्चिय वाग्देवता का संपूज्यमान रूप है। वाणीके द्वारा उसीका साक्षात्कार प्रकट होता है। वह सर्वथैव श्रीगुरुके चरणकमलों में विलीन है। इस समय सत्संगही श्रेष्ठ उपाय है। धैर्यके साथ श्रुतिकथन तथा वाक्यानुभव अनुशासित होता है। देहात्मभाव ही नहीं रहता। देहसंबंध मानो नष्ट होता है। सज्जनसंगति, हरिभजन, नामस्मरण आदि का वहाँ सत्कारही है। वह जीवन की परमसीमा है जहाँसे पार हो जानेमें ईश्वरीय प्रसाद का महापुण्य साधक के जीवन में सोनेमें सुगंध ला देता है। ये बातें निमित्त सही, किन्तु उनकी महत्ता अनसुनी नहीं की जा सकती। यही अनुशासन महत्त्व का है। जो इसी पर चलता रहेगा वही सब कुछ पा जायेगा। वाक्यकी निर्भयता यहीं अनुभव की जायेगी। उसकी महत्ता अनन्यसाधारण है ॥६०॥

सदा मियांचि आथिले। माझिया सेवा ज्याले।
कि आत्मबोधें तोषले। वीतराग जे ॥६१॥

अर्थ :– जो मद्रूपतासे संपन्न है, मेरी सेवा करने के लियें

ही जो जीवन बिताते हैं, आत्मबोध से परितुष्ट होकर जो निरीच्छ हैं –

व्याख्या :– जीवनमें वृत्तियों की सहजस्वाभाविकता सुस्थिर होनाही सच्चा जीवन है। वहाँ वृत्तियाँ स्थिरता से आत्मभाव की ओर संकेत करती हैं। आत्मभाव का स्थायी आधार उन्हें प्रेरणा देता है। अतः उन वृत्तियों के द्वाराही आत्मीयता का परिपोष हो जाता है। जहाँ यह सच्ची आत्मीयता है वहाँ हरेक कृति मेरीही सेवा बन जाती है। उनका कर्तव्यकर्म मेरे अधिष्ठान में मेरे लियेही हुआ करता है। वहाँ जीवन तथा जीवितत्त्व प्रकाशमान रहता है। वह आत्मप्रकाशक कर्म बन जाता है। जहाँ यह कर्म है वहीं आत्मबोध है। उसी कारण 'बोध' शब्दका महत्त्व बढ़ता है। वहाँ की अभिव्यक्ति सगुण शोभाके कारण परम तोषदायक, नित्यानंद रूप होकर रहती है। षड्उर्मियों को यहां नियमित किया गया है। विकारों से जिनकी दृष्टि हट गयी है, वे ही सच्चे वीतराग है। राग यहाँ सांकेतिक शब्द है। वह व्यंजना है। उसके द्वारा न केवल लगन किन्तु दृष्टि, रंग, प्रेम, विकार, तत्पता आदि अर्थका बोध होता है। जो वीतरागी हैं वे उपर्युक्त सभीसे अनासक्त रहते हैं ॥६१॥

ते तपोतेजाची राशी। कि येकायतन ज्ञानासी।
जे पवित्रता तीर्थासी। तीर्थरूप ॥६२॥

अर्थ :– जो तपके तेजों की राशी हैं, या ज्ञानका एकही आश्रय है, या तीर्थ की पवित्रता होकर तीर्थरूप हैं –

व्याख्या :– इसी कारण यहाँ मानो तपही तप्त हुआ है। अतः तपकाही तीव्र तेज यहाँ दीख पडता है। वह तो जीवन बडासा आधार है। तेजोराशी के समान उनकी देह सर्वत्र पावनता निर्माण करती है। उनकी देह ज्ञानके लिये साक्षात् गृह है। वह ज्ञानायतनही है। जो उन्हें देखता है उन्हें लगता है कि वह ज्ञानी तीर्थकोही पवित्रता दे रहा है। वस्तुतः तीर्थक्षेत्र स्वयं पवित्र तथा पवित्र बना देनेवाला भी है। किन्तु उन तीर्थक्षेत्रों को ये वीतरागी पवित्र बना देते हैं। तपोतेज के कारण अग्नि के समान तेजस्वी ऐसे ये वीतरागी सचमुच प्रकाशतीर्थ हो हैं ।।६२।।

ते मद्‌भावा सहजें आले। मी तेचि ते होऊनि ठेले।
जे मज तयां उरले। पदर नाहीं ।।६३।।

अर्थ :– वे सहजही मुझसे एकरूप हुए। मेरे ही भावरूप हुए। मानो वे मैं ही होकर रहे हों। हम दोनों के बीच कुछ भी अंतराव नहीं।

व्याख्या :– इसी प्रकार सहजसिद्ध भावोंसे अपनाये गये ये वीतरागी मेरे समानही हैं। यह त्रिवार सत्य है कि उनमें और मुझमें कुछ भी फरक नहीं। उन्हींका जो रूप वही मेरा रूप है। जब कभी मैं अपने को देखना चाहता हूँ तब मैं उन्हें देखता हूँ। मेरी यह अभिरुचि उन्हींके कारण परितृप्त हो सकती है। मुझमें और उनमें किसी भी प्रकार का भेद, परदा हैही नहीं ।।६३।।

सांगे पितळेची गंधिकळिक । जैं फिटली होय निःशेष ।
तैं सुवर्ण आणीक । जोडु जाईजे ॥६४॥
तैसे यमनियमिं कडसलें । जे तपोज्ञाने चोखाळले ।
मि तेचि ते जाले । येथ संशय काईसा ॥६५॥

अर्थ :– पीतल की सारी कीट निःशेष नष्ट होनेपर वही सोना बन जाता है। उसके लिये सोनेकी और क्या आवश्यकता ?

यमनियमादि का अनुष्ठान करनेसे जो विशुद्ध बन गये, ज्ञान, तप आदिसे जो निर्मल बन चुके हैं, वे सचमुच मद्रूप–मैं ही–बन गये । इसमें बिलकुल सन्देह नहीं ।

व्याख्या :– वहाँ निर्भयता जरूर निर्माण होती है । सर्वत्र एकही परतत्त्व समा हुआ है तो फिर डर किसीका ? काहेको ? बुद्धिके अन्तर्गत निर्माण हुआ वह ज्ञानप्रकाश जीवन में उत्तीर्णता की महत्त्वपूर्ण सीढ़ी है । उसीमें सगुण साक्षात्कार का अनुभव किया जाता है । वह निःसंशय सहजतासे ओतप्रोत है । वहाँका दिव्यतेज सर्वत्र प्रकाशमानता का साम्राज्य फैला देता है । बुद्धि की शुद्धि अद्वितीय रूपमें तेज की पराकाष्ठा दिखाती है । वहाँ सर्वत्र तेजही तेज है । महत् का–बुद्धितत्त्व का–मूल है महामाया ईश्वरीय प्रकृति । प्रकृति का अधिष्ठान वह परब्रह्मरूप पुरुषोत्तम है । जिसकी ओर संकेत किये बगैर बुद्धि विशुद्धता का स्वरूप नहीं पा सकती । उसके लिये वही अव्यक्त परतत्त्वस्पर्श आवश्यक है कि जो आकाश के समान सर्वव्यापक, मूलगामी, बुद्धिके प्रपितामह के समान है । वही

एकमेव परिस है कि जिसके स्पर्शमें बुद्धि की काया सुवर्णरूप बन जाती है। अन्यथा बुद्धिका विपर्यास ही हुआ करता है। वह कलंकिता सी रह जाती है। उसके साज शृंगार के लिये आवश्यक है परतत्त्वस्पर्श। दूसरे किसी सोने की-सुवर्ण की आवश्यकता कतिपय नहीं। उसका रंगरूप, उसकी शोभा, उसका जीवनवैभव तथा उसके विदग्ध विलास परतत्त्व स्पर्श में अनुभव किये जाते हैं, वहाँ सफल होते हैं। यह सर्वाधार योग संपूर्ण सुवर्णमय बना देता है। यमनियम प्रत्याहारादि द्वारा बार बार विदग्ध हुआ उसका रूप, पुनः पुन्हा परीक्षा कर लेनेसे उसको प्राप्त हुई चिरंतन तेजस्विता जीवन को प्रकाशमान बना देती है। वही बुद्धि परतत्त्व स्पर्श के योग्य तथा अनुभूति का महिमान समझने योग्य है। उसमें सच्ची पात्रता है। सुवर्ण में भी वह श्रेष्ठ सुवर्ण है। वही तेज ज्ञानसूर्य का परिचायक है। नहीं, वही ज्ञानसूर्य है। क्या कहूँ वही तो मैं हूँ। हम दोनों में भेद नहीं। निःसंदेहरूप से जिन्होंने ज्ञान प्राप्त कर लिया है ऐसेही वे हैं। पितल का किल्मिष नष्ट होनपर सुवर्णही शेष रहता है, यम नियमादि के अनुष्ठान द्वारा देहात्मबुद्धि का विलय होनेपर ज्ञान-आत्मबुद्धि-का निर्माण होना स्वाभाविक सा है। जहाँ ज्ञान है वहाँ क्या मैं वहाँसे दूर हूँ? क्या कभी मैं उनसे अलग हूँ। क्या उनमें और मुझमें फर्क किया जाता है? यहाँ केवल अद्वैत ही है!! ॥६४-६५॥

**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भज्याम्यहम् ।**
**मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ।।११।।**

अर्थ :- हे पार्थ ! जो मेरी जिस प्रकार उपासना करेगा उसे मैं भी उसी प्रकार भजता हूँ । जीवमात्र मेरेही मार्ग का सर्वशः अनुसरण करता है ।

येऱ्हवि तरि पाहि । जे जैसें मातें माझ्या ठायीं ।
भजति तयां मीहि । तैसाचि भजे ।।६६।।

अर्थ :- यह देख कि जो मेरी जिस प्रकार उपासना करते हैं, उनको मैं भी उसी प्रकार भजता हूँ ।

व्याख्या :- हरेक व्यक्ति के जीवन को कुछ निश्चित हेतु है । उसीके अनुसार उसका जीवन प्रगत होता है । वहाँ उसीके अनुसार जीवन के कर्म भी हुआ करते हैं । जो मुझे चाहता है, जिसे मेरी आस्था है या जिसके जीवन का हेतु मुझसे संबद्ध है, उसे मैं भी उसके अनुकूल प्रेरणा दे देता हूँ । उसका हेतु फलद्रूप करता हूँ । अगर वह मुझे चाहेगा तो मैं भी उसकी ओर आकृष्ट होता हूँ । मनुष्य जन्म पानेपर जैसी प्रकृति होगी उसके अनुसार उसका स्वभाव होगा । स्वभाव के अनुसार उसके अपने पृथक् व्यवहार हुआ करते हैं। जो स्वभाव दैवगुण से युक्त रहता है वह सत्त्वप्रधान है । अतः उसको सात्विक बुद्धिकी उपलब्धि है । जो रजोगुण प्रधान हैं उनमें कार्य प्रेरणा अधिक रहती है । इन दो गुणोंकी ही-सत्त्व, रज-विशेष महत्ता है । उन दोनोंमें भी मदादि क्लेश रहते हैं । योगानुष्ठान,

भक्ति आदि के द्वारा उनकी निवृत्ति होती है। साथही इन गुणोंसे संपन्न व्यक्ति जो कुछ जैसी भावना रखेगा, उसके अनुसार फलकी उपलब्धि हो सकती है। वस्तुतः जन्मका हेतु मोक्षप्राप्ति है। उसकी ओर सब अग्रसर हो रहा है। किन्तु हरेकके गुणोंकी व्यक्तिगत विभिन्नता मार्गमें भँवर निर्माण कर देती है। सीधा मार्ग आक्रमित नहीं होता। रास्तोंपर रोडे अटके रहते हैं। विविध तथा विभिन्न प्रकृति के कारण गुणों के अनुसार मानव जन्म लेता रहता है, बार-बार फँसता है। एकाधही ऐसा दैवी पुरुष है जो यह देवकार्य अनुभव करता है। उसकी तीव्र इच्छा के अनुसार मैं भी उसे देखता हूँ। उसके अनुरूप हो जाता हूँ। उसकी इच्छा सफल बनाता हूँ। उसका भजन, पूजन परिपूर्ण कर देता हूँ ।।६६।।

देखे मनुष्यजात सकळ। हे स्वभावता भजनशीळ।
जालें असें केवळ। माझां ठाईं ।।६७।।

अर्थ :- साथही यह भी समझ ले कि सभी प्राणीमात्र स्वभावतःही मुझमें भजनशील हैं, मेरा ही अनुसरण करते हैं।

व्याख्या :- इस जगत् में मनुष्य के अंतःकरण में स्वाभाविक रूपसे भजनशीलता निर्माण हुई है। भजन के बारेमें उनके मनमें एक निरतिशय श्रद्धा विद्यमान है। मनुष्यमात्र में यह देखा जाता है। क्योंकि जीवन का हेतु—परतत्त्वस्पर्श, उसकी अनुभूति अपनाना—यही है। उसके सिवा मनुष्य को सच्चा सुख असंभव है। यह अध्यात्मिक सुख प्राप्त करने के लिये वह प्रयत्नशील है। उसके प्रयत्न गलत होंगे, कदाचित्

बहिर्मुख होंगे। प्रयत्नों की प्रामाणिकता झूठ नहीं कही जाती। सुख हरेक को चाहिए। सच्चा सुख, चरम संतोष तथा निरंतर प्रसन्नता किसको नहीं भायेगी ? वही सबको चाहिये। योग्य मार्ग अपनाया नहीं जाता इसलिये हर कोई इसको प्राप्त नहीं कर सकते। आवश्यक है कि उसके प्रयत्न यथार्थता को अपनाते रहे। भजन की यथार्थता स्वभाव की सहजता निर्माण करेगी। 'स्वभाव' का होना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उसके द्वारा अनेक भाव जो अध्यसृत रहते हैं, उन्हें मानो अधिकारसा प्राप्त होता है। उनका दाक्षिण्य, उनकी उत्कटता सात्विकता को बढ़ाती है। मनुष्य का मनुष्यत्व स्थिर होता है। अन्यथा मनुष्य मनुष्य नहीं रहता। उसका जीवन पशुतुल्य होता है। पैशुन्यसे वह कोई अलग नहीं। वहाँ दुःख, वियोग, विरह आदि क्लेशों के कारण व्याकूल बनी हुई बुद्धि, वासना नदीकी बाढ़में फँसती जाती है। परिणामतः उनका जीवन अत्यन्त कष्टकारी, ध्येयशून्य तथा अनुभूतिरहित हो जाता है। उनका अव्यक्त स्वभाव व्यक्त नहीं होता। उनका भजन श्रद्धाहीन, अस्फुट, बहिर्मुख रहता है। वे कुछ पा नहीं सकते ।।६७।।

परि ज्ञानाविण नासले। जे जे बुद्धिभेदासि आले।
त्यासि एकचि यया कल्पिलें। अनेकत्व ।।६८।।

अर्थ :– किन्तु उन्हें ज्ञान नहीं, इससे वे भ्रमित होते हैं। उनकी बुद्धिमें भेद निर्माण होता है। (दुविधा पैदा होती है) और एक को अनेक समझ बैठते हैं। (द्वैत पैदा करते हैं, भेदभाव निर्माण करते हैं।)

व्याख्या :- बुद्धिकी बहिर्मुखता भेद निर्माण करती है। श्रद्धाहीन रह जाती है। श्रद्धा न होनेसे संदेह है और उसीके कारण भेद है, संशय है। वहाँ ज्ञान नहीं रह सकता। भेदभाव के कारण बुद्धिकी भावना भी अस्थिर हो गयी। भावनाऐं बुद्धिहीन-निर्बुद्ध बन गयीं। वहाँ स्वभाव कौन जानेगा? स्वभाव का आश्रय वहाँ कैसे रहेगा? वहाँ कर्म केवल बन्धन है। ज्ञानजन्य श्रद्धाभवितयुक्त जीवन कुछ और महत्त्व रखता है। उसके द्वारा जीवन की प्रवृत्ति स्पष्ट होती है। किन्तु बुद्धिशून्य अस्वाभाविक जीवन प्रवृत्ति के लिये भी अस्थानी है। वहाँ कुछ भी सफलता नहीं है। जहाँ प्रवृत्ति नहीं वहाँ निवृत्ति कहाँसे आयेगी? वहाँ यह संवेदना नहीं, प्रेरणा नहीं। आत्मसंवेदनशून्य, गतिहीन, श्रद्धाहीन जीवन केवल विविध कल्पनाओं का विलास है। उसमें वास्तविकता नहीं, वस्तुदर्शन नहीं। अनेकानेक भेदोंमें वह विनाशकी ओर बढता हैं ॥६८॥

म्हणोनि अभेद भेद देखति। यया अनामा नाम ठेविती।
देवी देव म्हणती। अचर्चितें ॥६९॥

अर्थ :- अतः उस अभेद को भेदभाव से देखते हैं, उस अनाम को नाम देते हैं। देवता देवी कहकर उस अनिर्वचनीय को पुकारते हैं।

व्याख्या :- वस्तुतः उसके प्रति कुछ कहा नहीं जाता। उसके बारेमें बहस नहीं हो सकती। जो कुछ है वह अनिर्वचनीय है। उसकी विद्यमानता अनुभव की जाती है। साक्षात्कार तथा श्रवण के बीच खूब अन्तर है। केवल श्रवण

कुछ काम नहीं दे सकता, उसका साक्षात्कार होना चाहिये। कहने–सुनने से क्या होगा ? जिसे हम सुन सकते है वह शब्द क्या परतत्त्व का वाचक है ? किन्तु हम उसे नाम देते हैं। देवता या देवीतुल्य समझते हैं। नामस्मरण की बात अलग है। किन्तु यहाँ बुद्धिभेद द्वारा तथा विविध वासनाओं के कारण हम केवल कही सुनी बात स्वीकार करते हैं। उस अभेद तत्त्वको भेदरूप बना देते हैं ॥६९॥

जें सर्वत्र सदा सम। तेथ विभाग अधमोत्तम।
मतिवशें संभ्रम। विवंचिति ॥७०॥

अर्थ :– जो सदैव सर्वत्र सम है–समप्रमाण है–परिपूर्ण है, उसे उच्चनीच कहकर विभाजित करनेवाले वस्तुतः बुद्धिके दास होकर भ्रमसे ही ऐसा कहते हैं।

व्याख्या :– बात स्पष्ट है कि वह स्वाभाविक सहजता वहाँ नहीं अपनायी जाती। स्वभाव की सहजता आ जानेसे अनेकत्व की भावना हट जाती है। भेदभाव नहीं रहता। वहाँ एकात्मता दृढ हो जाती है। जहाँ देखें वहाँ वही एक परमात्मतत्त्व स्पष्टरूपसे लक्षित होता है। अन्यथा भेदभाव के कारण स्वभावबल नहीं रहता है। उच्चनीचता अस्वाभाविक तथा असमंजस भेद उपस्थित होता है। बौद्धिक भ्रम भी वहीं है। अतः वहाँ कार्याकार्य विवंचना निर्माण होना स्वाभाविक है। विभिन्नता निदर्शक जीवन के विभाग, उसमें दाहिने बाये ओर या भलेबुरे विचार अर्थहीन रहते हैं। जो सर्वथा एकात्म है, समरूप है, जहाँ साम्ययोगही साकार है उसे बुद्धि अपनी

कल्पना के द्वारा विलक्षण विविधता, अनेकता ला देती है जो सर्वथा अनुचित है ।।७०।।

**कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।**
**क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ।।१२।।**

अर्थ :– इस जगत् में कर्मोंकी फलेच्छा रखनेवाले–सिद्धि चाहनेवाले (लोग) देवताओं की उपासना करते हैं क्यों कि इस मनुष्य लोकमें कर्मसे प्राप्त होनेवाली सिद्धि तुरन्त मिल जाती है ।

मग नाना हेतु प्रकारें । यथोचितें उपचारें ।
मानिलीं देवतांतरें । उपासिती ।।७१।।

अर्थ :– तिसपर भिन्न भिन्न प्रकार के देवता माने जाते हैं और नानाविध हेतु के उद्देश्य से भिन्न भिन्न प्रकार से यथोचित साधनोंद्वारा उनकी पूजा अर्चा की जाती है ।

व्याख्या :– बुद्धि के भ्रमके कारण इस प्रकार अनेकविधता अनुभव की जाती है । उसी एकात्म, एकरस, समतत्त्व के विविध आविष्कार सर्वत्र भेदरूपमें दीखने लगते हैं । भिन्न भिन्न प्रकार के हेतु तथा उनकी सफलता के लिये अनेकविध प्रयत्न अनायासही निर्माण होते हैं । जीवन का जो प्रधान हेतु आत्मदर्शन, वही ओझल हो जाता है । वहाँ अपनी इच्छापूर्ति के साधनरूप उपासना जारी रहती है । उसके अनुकूल अनेक देवी-देवताओं के पूजापाठ चढ़ते रहते हैं ।।७१।।

येथें जें जें अपेक्षित । ते तैसेंचि पावती समस्त ।
परि तें कर्मफळ निश्चित । ओळख तुं ।।७२।।

अर्थ :– यहाँ वे जो जो चाहते हैं, वह उन्हें प्राप्त भी है। सबको जो अपेक्षित प्राप्त होता है वह निश्चित रूपसे कर्म का ही फल है।

व्याख्या :– यहाँ उपासक को जो कुछ अभिप्रेत है, जो कुछ अपेक्षित है वह उसे जरूर मिलता है। उनकी पूजादि साधना की यह सफलता है। उसकी भावना यहाँ फलद्रूप होती है। ये उसके कर्म हैं जो फलरूप होते हैं। यहाँ कर्मफल-के सिवा और कुछ नहीं। वहाँ वह परतत्त्वस्पर्श या आत्मदर्शन निश्चित नहीं ।।७२।।

वांचुनि देतें घेतें आणिक । निभ्रांत नाहीं सम्यक ।
येथ कर्मफळसूचक । मनुष्यलोकीं ।।७३।।

अर्थ :– देनेवाला या लेनेवाला वस्तुतः एक अपने कर्म सिवा दूसरा योग्य निश्चित और कोई नहीं। मनुष्य लोकमें कर्मफल ही सूचक है। (मनुष्य लोक याने कर्मफल है)

व्याख्या :– यहाँ जो कुछ लेनदेन है, यह जो कुछ फल दिखाई देता है, जो यह परिणाम है वह वस्तुतः कर्म व्यापार है, कर्मफल है। वहाँ सम्यक् ज्ञान सर्वथा नहीं है। यह निःसंशय समझ ले कि इस मनुष्य जगत् में उपासना का फल ब्रह्मका परिणाम नहीं, या उस परिणाम का सूचक परब्रह्म नहीं, वह असीम सत्ता नहीं। वह तो कर्मफल है जो उसका आधार, कारण तथा परिणाम भी है ।।७३।।

जैसें क्षेत्रीं जें पेरिजें । तें वाचूनि आन न निपजे ।
कां पाहिजे तेंचि देखिजें । दर्पणाधारे ।।७४।।

अर्थ :– खेतमें जिस प्रकार का बीज बोया जायेगा, उसकी ही फसल आयेगी, अन्य नहीं । आयने में जो कुछ देखा जायेगा वही दीख पडेगा ।

व्याख्या :– मिट्टीमें जवार का दाना बोया है, गेहूँ कैसा आयेगा ? आयने में जिसने देखा उसके अतिरिक्त दूसरे की प्रतिमा क्या वहाँ दीख पडेगी ? क्या हम उसमें बदल करने में समर्थ है ? अगर हम चाहेंगे कि यह इस प्रकार दर्शनीय हो तो क्या वह बदल आयने में हो सकेगा ? हम जैसे हैं वैसेही वहाँ दिखाई देंगे । यह तो अनिर्बाध सिद्धान्त है । उसे अपवाद कैसे संभव है ? साथही वहाँ हम जिस प्रकार अपने को प्रस्तुत करेंगे, हमारे रूपको प्रसाधित करेंगे, हमारी आँखोंमें अंजन डालेंगे, तथा हमारा सगुणभाव जिस प्रकार प्रदर्शित करेंगे उसीके अनुसार वह प्रकट होगा । गुणोंकी अभिव्यक्ति जिस ढ़ँगसे हम प्रस्तुत करेंगे वैसेही उसका समग्र दर्शन अपने में स्पष्ट होगा । इस विश्वमें भी यही स्थिति है । जो हमारी प्रवृत्ति की परिचायक रहती है । हमारी अपनी भावनाही वहाँ फलद्रूप होकर कर्मसिद्धान्त का अनुभव कराती है ।

ना तरि कडचा तळवटिं ।
जैसा आपलाचि बोल किरीटि ।
पडिसाद होऊनि उठि । निमित्तयोगे ।।७५।।

अर्थ :– हे किरीटी ! जिस प्रकार पर्वत की घाटी में

अपनाही शब्द निमित्त से प्रतिध्वनी होकर फिर सुन पडता है–

व्याख्या :– जिसकी हम इच्छा करेंगे उसके अनुसार यह वक्तव्य नहीं। जो हम बोलेंगे वही वहाँ प्राप्त भी नहीं। बात चल रही है कर्मफल की। कर्मफल का वह विषय नहीं। आत्मदर्शन कर्मसे सर्वथा अलिप्त है। अतः वह अक्षर, अजरामर स्वरूपसाक्षात्कार कर्मफल के द्वारा सुलभ नहीं हो सकता। वासना या इच्छा दोनों कर्मकी प्रेरणा हैं। उनकी अनादि स्थिति अनेकविध संकल्पों के कारण है। संकल्पों को ही संकल्प प्रेरित करते हैं। अनेक नानाविध संकल्प निर्माण होते हैं। इच्छा तथा वासना का यह खेल अविरत जारी है। वहाँ मनमें उनकी स्थिति है, मन उनका आधार है। उन्हें मनके प्रति प्रेम है। वहाँके संकल्प, वासना तथा इच्छाएँ मनको भी प्रिय रहते हैं। उनके द्वारा कर्मप्रेरणा बनी रहती है। वहाँ स्वाभाविक आत्मस्थिति के प्रति अनास्था निर्माण होती है। मन तथा उसके इन्द्रिय नानाविध संकल्पों के झंझट में फँस जाता है। वहाँ आत्मदर्शन की आभा कहाँसे होगी ? अनेकविध वासनाओं, संकल्पों का परस्पर जो विलक्षण मेल होता है, उन्हींका जो घात, संघात तथा प्रत्याघात होता है, उसके द्वारा फिर वही वासनाऐं, संकल्प प्रसृत होते हैं। वहाँ शब्द उन्हींके द्वारा प्रसृत होकर फिर उन्हींमें फँस जाता है। यह तो प्रतिध्वनि है संकल्पोंका, विकल्पोंका, वासनाओंका। इस समय मनका दर्शन कैसे लक्षणीय रहेगा ? अगर इच्छा प्रक्षुब्ध होगी तो क्या वह प्रसन्नता बढायेगी ? मनकी प्रसन्नता

वहाँ न होगी । वहाँ सर्वथा अस्थिरता है । क्षुब्ध अवस्था में न निष्कामता है, न शांति न अनुभूति !! वहाँ की आवाज वासना, संकल्प–विकल्प आदि के मेल की ध्वनि–प्रतिध्वनि की है । उनके घात प्रत्याघात की है । अगर मन स्वस्वरूपमें विलीन हुआ हो तो उसके पास स्थिरता बनी रहेगी । मनरूप पुरुष के द्वारा जो संकल्प हुआ करते हैं उन्हींके द्वारा ये शब्द पुत्र निर्माण होते हैं । मनकी इच्छा भी अपने उपर प्रतियोजित होती है । अतः वहाँ जो अस्तित्व है वह केवल मनःसंकल्प का ही है । उसके ही प्रतिफलित होनेसे ये अनेकविध संकल्प प्रतिध्वनित होते रहते हैं । वहाँ मनुष्य अपनेको ही पुनः पुनः मानो प्रसूत करता है । अपने अनेक संकल्पों के से युक्त रहता है । वासनारूप पर्वत की घाटीमें उच्चारित शब्द के अनेक संकल्परूप प्रतिध्वनि निर्माण होते हैं । एकही शब्द वहाँ अनेक होकर फिर फिर सुनाई देता है । वह उसकी एकता छिपाता है और अनेकता दिखलाकर फँसाता है । जिस प्रकार हमारा रूप होगा वैसाही हमें आयनेमें दीख पडेगा । हम जैसे चाहेंगे वैसा रूप नहीं होगा । उसकी वास्तविकता आयनेमें ही स्पष्ट होगी । अतः आवश्यक है कि किसी भी हालत में मनको प्रसवरूप नहीं बना देना चाहिये । मनकी संकल्पशून्य स्थिति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । मनके ये विविध संकल्प एकप्रकार व्यापही है । उनकी निष्फलता स्पष्ट है । उनकेद्वारा आत्मवस्तु की उपलब्धि केवल असंभव है । वहाँ कुछ भी क्षमता नहीं है । ऐसी स्थिति में मनको फिर निर्विकल्प अवस्थामें लाना

बहुतही कठीन काम हो जाता है। उसके लिये बहुतही समय गँवाना पडता है, तभी मनकी स्तब्धता निर्माण होती है। मन तो मानो आकाशरूप है। उसमें जिसप्रकार अनेकविध अभ्र निर्माण होते हैं और फिर नष्ट होते हैं उसी प्रकार मनके विविध संकल्प हैं। अभ्रों के नष्ट हो जानेपर आकाश की निरभ्रता, निर्मलता लक्षणीय रहती है। वैसेही संकल्पशून्य मन पूर्णतया निर्मल, सुस्थिर तथा अव्यक्त दर्शन के योग्य हो जाता है। उसकी बहिर्मुखता नष्ट होती है। अन्तर्मुख होकर वह निर्विकल्पसा बना रहता है। यही एक ऐसी अवस्था है कि जहां मनके फैलाव बन्द रहते हैं। घाटी के बीच किया गया शब्द जिसप्रकार अपनेको ही पुनरावृत्त करता है, उसी प्रकार मनःसंकल्पों का है। वह शब्द अपनाही होता है। उसमें जो सफलता है वह बिलकुल भ्रामक है। प्रयोजनशून्य है ।।७५।।

तैसा समस्ता या भजना। मी साक्षीभूत अर्जुना।
तेथें प्रतिफळे भावना। आपलाली ।।७६।।

अर्थ :— उसी प्रकार एवंविध उपासना में हे अर्जुन ! मैं तो केवल साक्षी हूँ। यहाँ प्राप्त होनेवाला फल उपासक की अपनी भावना का—कर्मका है।

व्याख्या :— जिसप्रकार अभ्राच्छादित आकाश अभ्रों के कारण लिप्त नहीं होता। वह सदैव अलिप्त रहता है। वह केवल साक्षीभूत है। अनेक अभ्र निर्माण होते हैं और फिर नष्ट भी होते हैं। उसकी सहजस्वाभाविक अलिप्तता बाधित

नहीं होती । उसी प्रकार मनके संकल्पों के कारण साक्षीभूत आत्माकी स्थिति कभी लिप्त नहीं होती । न वह कुछ करता है, न कुछ देता है या लेता है । वहाँ तो अपनाही एक निमित्त है, जिसके पीछे मनके संकल्प हैं । जो हमारी इच्छा है उसी प्रकार उसके फल भी प्रयोजित होते हैं । फल इच्छाका परिणाम है । अतः यहाँ जो जीवन है, जो यजन, भजन, पूजन या कर्तव्य है उसको मैं केवल साक्षीभूत हूँ । जिसकी जो भावना, इच्छा होगी उसके अनुरूप उसकी फलद्रूपता है ।।७६।।

**चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।**
**तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ।।१३।।**

अर्थ :– गुण तथा कर्म के भेदसे मैंने चार वर्ण उत्पन्न किये हैं । यदि मैं उनका कर्ता हूँ, तोभी मुझे अकर्ता (भेदनिवृत्त), अव्यय ही समझ ।

आतां याचि परि जाण । चान्हि हे वर्ण ।
रचिले म्यां गुण । कर्मविभागें ।।७७।।

अर्थ :– यह इसी प्रकार समझ ले कि मैंने ही गुण तथा कर्म के विभागसे चार वर्ण निर्माण किये हैं ।

व्याख्या :– यह तो स्पष्ट ही है कि बुद्धिके अनन्तर अहंकार निर्माण होता है । अहंकार पृथकत्व पैदा करता है । त्रिगुणात्मक बुद्धि उसकी माता है । अहंकार के द्वारा विविध गुणोंका जाल फैल जाता है । उस जालमें स्वयं फँसकर बुद्धि उसका कर्तृत्व भी अपने सिर लेती है । गुणों के जाल का कर्तृत्व

परमेश्वर का है ही नहीं। वह तो बुद्धि तथा अहंकार का खेल है। हे अर्जुन! यही तो मैंने तृतीय अध्याय के आरंभ में स्पष्ट कर दिया था। अतः इस उलझन में तुम मत पडो। यह आसानी से समझने योग्य है। कर्मकर्तृत्व की भावना परमेश्वर के पास कहाँसे होगी? वह सर्वथा अकर्ता है। इन विविध अवयवों के कारणही देह मूर्तिमान हो जाता है। मन तथा दशेंद्रिय अपने ही कर्म द्वारा मूर्तरूप धारण करते हैं। ईश्वर की सत्ता सर्वत्र सम है उसमें मात्राकी कमी या आधिक्य हैही नहीं। वह न खर्च होता है, न कुछ करता है। वह चाहे उसी समय स्वयं स्वरूपाकार हो जायेगा। किन्तु जगत् में कर्मकी प्रेरणा त्रिगुणात्मक है। उसके पीछे इन्द्रियों की रागद्वेषात्मक प्रवृत्ति है। अतः वेही अपने अनुरूप कर्मका अनुसरण कर लेती है। विविध प्रकार देहकी स्थिति है। उनके हेतु, उनके इन्द्रियों की प्रेरणा तथा उनकी लिंगदेह वासनानुरूप देह तथा जन्म पाते हैं। कर्म तथा कर्मफल के आधारपर उनके लिंगशरीर की प्रेरणा निर्भर है। इन्द्रिय तथा जन्मके हेतु की पूर्तता जिस देह पर अवलंबित सी रहेगी, उसीके अनुकूल वह जन्म प्राप्त होगा। ईश्वर की अव्ययता स्पष्ट है। उसकी मात्रा हरेक देहमें समान है। वह तो साक्षीभूत अधिष्ठान है। जो कुछ किया जाता है वह बुद्धि आदि इन्द्रियों के द्वारा तथा जन्म प्रेरणा के अनुरूपही। किसी भी हालत में उसकी अव्ययता अबाधित रहती है। स्थल, काल, विशिष्टता तथा व्यक्ति के कारण उसमें किसी

भी प्रकार फर्क नहीं हो सकता। उसकी विद्यमान सत्ता त्रिकालाबाधित है। वह सदा अपना अव्ययत्व अबाधित रखता है। यह तो स्पष्ट है कि व्यक्ति का व्यक्तिमत्व 'पुरुष' का प्रकट रूप है। यह सगुणरूप का आधार है। 'पुरुष' की अभिव्यक्ति का यह कर्मजा देह है। उसके अधिष्ठान में देहकी मूर्तता है। शरीर का एकाध अवयव नष्ट हुआ या उसमें भंग हुआ तो पुरुष का अधिष्ठान होनेपर भी देहमें कुछ न्यूनता जरूर होगी। उसकी स्थिति अबाधित होनेपर भी कुछ हदतक बाधित हुई। उसका अधिष्ठान तो है ही। प्रसंगानुरूप कुछ स्थिरता जरूर दीख पडती है। उसका अपनापा भी पाया जाता है। पैरमें काँटा घूंसनेपर भी वह व्याकूल हो उठता है। दुःख शरीर का है किन्तु आत्माही व्याकूल-सी हो उठती है। देहात्मवादिता का यह स्पष्ट उदाहरण है। अवयवों के प्रति ऐसी आत्मीयता दिखाई देती है। उनकी परिणामक्षमता भी कुछ कम नहीं। अवयवों की रागद्वेषात्मक व्यवस्थिति उनके विषयों के संबंध में निश्चित है। त्रिगुणात्मक प्रकृतिका इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष आविष्कार तथा अनुराग प्रकट होता है। वहाँ आवश्यक है कि इन्द्रिय अपनीही स्वाभाविकता तथा मर्यादा अनुभव कर लें। यह एक महत्त्वपूर्ण कर्तव्य है। त्रिगुणों की ध्येयवादिता स्पष्ट है। त्रिगुणों में न हम केवल फँसे रहे, किन्तु उनकी यथार्थता अनुभव करके ईशत्व के अव्ययता का साक्षात्कार भी कर लें। अतः प्रकृति का कर्मविस्तार ईशत्व की अव्ययता अबाधित रखता है। उसके कर्मजाल द्वारा

त्रिगुणातीत का अन्वय तथा अनुबंध स्पष्ट होनेकाही प्रयास किया जाता है। हे पार्थ! इसीलिये मैं कुछ निर्माण नहीं करता, जो निर्माण होता है उसका अधिष्ठाता होनेपर भी मैं उससे सर्वथा अलिप्त केवल साक्षी हूँ। अतः कर्मोंके द्वारा न मेरी सत्ता है, न कर्मके कारण मुझमें न्यूनाधिक्य निर्माण होता है। यह स्पष्ट है कि कर्म त्रिगुणात्मक है और काल-निविष्ट भी। गुण तथा कर्म के द्वारा यह प्राकृतिक वर्णविशेषता निर्माण होती है उसमें मेरा कर्तृत्व नहीं के बराबर है ।।७७।।

जे प्रकृतिचेनि आधारें। गुणाचेनि व्यभिचारें।
कर्मे तदनुसारें। विवंचिलिं ।।७८।।

अर्थ :– प्रकृति के आधार से गुणों के संकर से उनके अनुसार कर्मोंका भी विचार निर्धारित किया।

व्याख्या :– प्रकृति के अधिष्ठान में गुणोंका कार्य चल रहा है। ये गुण परस्पर मिश्रित होते हैं और उन्हीं के द्वारा उनका कार्य संपन्न होता है। त्रिगुणों का विविध रूपोंमें होनेवाला यह संकर व्यभिचार है। यहाँ गुणों की साम्यावस्था असंभव रहती है। प्रकृति का यह विश्वकार्य त्रिगुणों के रूपमें सर्वत्र है। इस कार्यकी मात्रा है भक्ति। भक्ति के अनुकूल कर्मधारणा जहाँ है वह एक विशेषता है। वह विशिष्ट गुणोंसे युक्त वर्ण है। इसी कारण वहीं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र आदि चार वर्ण अभिप्रेत हैं। उनके कर्मोंकी विशेषता वर्ण के अनुकूल तथा वर्ण कर्मपर अवलंबित, गुणोंकी कृति

हैं। कर्म तथा वर्ण का अन्योन्य संबंध अव्यभिचारी विवेचना है। नियोजन है। गुणोंके अनुसार होनेवाले कर्मही वर्णव्यवस्था का आधार है। उसके प्रति निश्चित कर्तव्य की धारणा अपेक्षित की गयी है। वर्णानुकूल कर्म करनेसे किसी प्रकार का पुण्य तो नहीं है। कोई उसके लिये प्रोत्साहन भी नहीं देगा। किन्तु उनका यथाधर्म अनुष्ठान न होनेपर दोष जरूर है। वहाँ पाप है। वर्णव्यवस्था के पीछे प्राकृतिक त्रिगुणात्मक अधिष्ठान है। त्रिगुणही कर्मकी प्रेरणा होनेके कारण वर्णव्यवस्था में कर्मकी सुनिश्चित धारणा अभिप्रेत है। गुण तथा कर्म के आधारपर जीवन की निर्मलता अपनाने के लिये जो विशिष्ट पद्धति है, उसेही वर्ण कहा गया है। स्वभावानुकूलता तथा आत्मिक अधिष्ठान दोनोंका परस्पर सामंजस्य निर्माण करने का प्रयास इस पद्धति में है। अतः उनके अनुष्ठान में व्यक्ति अपने वर्णमें सुस्थिर होकर गुण तथा कर्मकी कुशलता द्वारा इहपर श्रेयस् पानेमें जरूर सफल हो जाता है ॥७८॥

येथ येकचि हे धनुष्यपाणि। परि जाले गा चहु वर्णि।
ऐसि गुणकर्म कडसणि। केली सहजें ॥७९॥

अर्थ :– हे धनुष्यपाणी अर्जुन! यहाँ एकही वर्ण मुख्य होनेपर भी चार वर्ण हुए और उनका गुण कर्म निर्धारित किया।

व्याख्या :– वस्तुतः सर्वत्र भगवत्स्वरूप की व्याप्ति एकही है। क्योंकि मूलतः वह अद्वैतरूपमें है। वह एकात्म, स्थिर, सत्तामात्र स्वरूप हर जगह, हरक्षण विद्यमान है।

किन्तु कर्मविभाग के कारण उसका स्वरूप चतुर्विध सा बन गया। इन चार प्रकार के कर्मोंको भी उसी के अधिष्ठान की आवश्यकता हैही। गुणकर्म विभागों को उनकी अपनी यथार्थता आवश्यक है। उनकी यथार्थता, योग्यता तथा आत्मीयता के साथ अनुस्थिति होनेके लिये कर्म आवश्यकही हैं। कर्म में जो भेद किये हैं वे तो केवल पात्रता के अनुरूप हैं। गुणोंकी स्वाभाविकता यहाँ स्पष्ट लक्षित है। जो कर्म एकके लिये अनुकूल है वह शायद दूसरे के लिये प्रतिकूल होगा। अतः हरेक की प्रकृति, स्वभावसिद्धता, त्रिगुणीं की विशिष्टता, तथा अनुष्ठान की पात्रता देखता उचित हैं। उसीके आधार पर अनुष्ठान होनेसे स्वभाव स्थिर हो जाता है, आत्मीयता अन्तर्मुख बना देती है। गुणों की स्वाभाविकता प्रसन्नता प्रदान करती है। वहाँ हलके भक्तिका उदय हो जाता है। यह अव्यभिचारिणी निष्ठा गुणकर्म की कुशल अनुस्थिति में अनायास प्राप्त होती है। और इसी कारण ये कर्म सर्वथा सफल हो जाते हैं। वे त्रिगुणातीत होनेकी पहली सीढी बन सकते हैं। अपना मूल स्वरूप जो प्रकृति, उसका दर्शन उन्हें हो जाता है। गुणोंके फेरमें अब वे फँसते नहीं। अपने आप वहाँ अकर्म उदित हो जाता है ।।७९।।

म्हणौनि ऐकें पार्था। हे वर्णभेद संस्था।
मी कर्ता नव्हे सर्वथा। याचिलागीं ।।८०।।

अर्थ :– अतः हे पार्थ सुन ! इस वर्णभेद संस्थाका मैं किसी भी प्रकार कर्ता नहीं हूँ। (वर्ण वस्तुतः एक और उनके भेद

अनेक । तथापि मैं तो अभेदरूप एकरूप हूँ ।

व्याख्या :– जीवन में हरजगह पात्रता की आवश्यकता है । जब मनुष्य जन्म लेता है तब उसको एक विशिष्ट मर्यादा भी प्राप्त होती है । शारीरिक, बौद्धिक तथा आत्मिक क्षमता यह स्वाभाविक, प्राकृतिक देन है जो जीवन में कुछ हदतक जरूर बढायी जा सकती है । इस क्षमता में थोडा बहुत हेरफेर जरूर हो सकता है किन्तु आमूलाग्र परिवर्तन असंभव हो जाता है । न हम शरीर का वर्ण बदल सकते हैं, न बुद्धि की क्षमता बढा सकते । उसकी मर्यादा मानही लेनी चाहिये । अतः स्वाभाविक रूपमें प्राप्त हुए जीवन में जो अपनी मर्यादा है, जो पात्रता है उसे पहचान लेना आवश्यक है । यह रहस्य जान लेनेसे ही गुणकर्मयुक्त योग्यता का अर्थ स्पष्ट होगा । गुणकर्म के अनुरूप व्यक्तिमत्व का तथा कार्यक्षमता का होना सुनिश्चित है । यह तो हरेक की अपनी चीज है जो न कोई दे सकता, न कोई ले सकता । अतः उसका कर्तृत्व मुझपर लादना सर्वथा अशोभनीय है । ये वर्णभेद सर्वथा ऊपरी, त्रिगुणयुक्त हैं जो आत्मासे सरोकार नहीं रखते । अतः उनकी अनेकविधता स्थायी नहीं । उसी चिरन्तन एक की वह अभिव्यक्ति त्रिगुणात्मक माया के कारण चतुर्विध हो गयी है । हे धनुष्यपाणी अर्जुन ! हे पार्थ ! जब वह गुण तथा कर्म अपने कौशल के साथ निर्मलता पाता है, अस्थिरता छोडकर स्थिरता को अपनाता है तब अनेकों में एकत्व देखने की क्षमता वहीं उदित होती है । वहीं शुद्धता निर्माण होनेसे

उनकी चतुर्दिकता ओझल हो जाती है और वहाँ एकता की, एकात्मकता की अनुभूति निर्माण हो सकती है। वहाँ का कर्म अपनी कुशलता के कारण देहकी शुद्धिमें सहाय्यक हो जाता है। उससे अपनी योग्यता विशुद्ध रूपमें स्थिर कराता है। वहाँ नाम की योग्यता समझमें आ जाती है। एकताकी मूलाधार शक्ति जो आत्मीयता, आत्मनिष्ठा, वही अनुभव की जाती है। अनेकविधता का प्रत्यय रहनेपर भी एकात्मता का संगीत अगोचर नही होता। और यह सब कुछ सहजही हो जाता है। वहाँ कर्ता तथा कर्म की भावना भी नहीं है। ऐसी स्थिति में क्या मैं उनका कर्ता हो सकता हूँ? यह कदापि शक्य नहीं। यह समूचा कर्म गुणकर्म का ही है। प्रकृतिही उन्हींके आधारसे यह 'विश्वकर्म' रचाया करती है। मैं नहीं !! ।।८०।।

**न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।**
**इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ।।१४।।**

अर्थ :– न तो मुझे कर्म किसी भी प्रकार लिप्त करते हैं, न मुझे कर्मफल की इच्छा है। इस प्रकार मुझे जो जानता है वह कर्म से बंधा नहीं जाता।

हे मजचिस्तव जन्हि जाले। परि म्यां नाही केले।
ऐसें जेणें जाणितलें। तो सुटला गा ।।८१।।

अर्थ :– वस्तुतः ये मुझसेही हुए किन्तु मैं उनका कर्ता नहीं हूँ, यह जो जानता है वही मुक्त है।

व्याख्या :– यह संपूर्ण विश्व तथा महामाया ईश्वरी का यह कर्तृत्व मेरीही अधिष्ठानमें जरूर हुआ है। उसका हेतु

भी मैं हूँ। तथापि इस कार्यका कर्तृत्व मेरा नहीं। मैं सर्वथा अलिप्त तथा अकर्ता हूँ। यह जो जानता है वह 'मुक्त' है। यही कर्ममार्ग का रहस्य है। उसका अनुसंधान होनेसे कर्म के द्वारा 'संग' निर्माण नहीं होता। एकप्रकार निष्काम निर्लेप वृत्ति बनी रहती है। कर्म के फल की आशा नहीं होती तथा बंधकत्व भी कदापि नहीं रहता। कर्मयोग की यह कार्यकुशलता, उसकी यह वैशिष्टयपूर्ण रचना जो समझ लेता है, वह वस्तुतः ईश्वर कीही उपासना करता है। ईश्वर में ही सायुज्यता पाता है। उसे कर्मबन्धन तथा कर्मका दोष सर्वथा बाधित नहीं करते। उसका जीवन 'मुक्त' कर्मबंधरहित होकर आत्मरत बना रहता है। यह तो स्पष्ट है कि मेरा अस्तित्वही विश्वका सच्चा आधार है। विश्वको मैंने अपनी आत्मीयतासे ओतप्रोत कर दिया है। अतः उसकी विद्यमानता, उसके कार्यकलाप, उसका उदय तथा विनाश सब कुछ मेरे अधिष्ठान में संभव है। विश्वचक्रप्रवर्तन में मैं अधिष्ठाता हूँ। प्रकृति के गुण कर्मयुक्त विलास में यह सबकुछ हुआ। प्रकृतिका ही यह खेल है किन्तु मेरा अधिष्ठान होनेके कारण उसका कर्तृत्व मुझपर आरोपित किया जाता है। यह बडी भारी भूल है। मैं न कर्ता हूँ न भोक्ता। यह जो जानता है और वहीं आत्मानुभूति से रत होता है, वह कभी बद्ध नहीं रहता। वह वासना से सर्वथा अलिप्त रहता है। वह उसे बाँध नहीं सकती। गुणकर्म के कार्य तथा उसके फल, गुणकर्म -कोही अर्पित होनेसे, उन्ही के द्वारा यहाँ बंधन नहीं रहता।

॥८१॥

**एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।**
**कुरु कर्वैम तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ।।१५।।**

अर्थ :– यह जानकर पूर्वकाल के मुमुक्षुओं ने भी कर्म किये हैं । अतः तू भी केवल कर्म कर । पूर्वजों ने जिस प्रकार (परंपराप्राप्त) कर्म किया वैसे तू ही कर !

मागील मुमुक्षु जे होते । तेहि ऐसेचि जाणोति मातें ।
कर्मे केलीं समस्तें । धनुर्धरा ।।८२।।

परि ते बीजें जैसिं दग्धलिं । नुगवतीचि पेरिली ।
तैसीं कर्मे तया जालि । मोक्षहेतु ।।८३।।

येथ आणिक येकहि अर्जुना । हे कर्माकर्म विवंचना ।
आपलिये चाडे सज्ञाना । योग्य नोहे ।।८४।।

अर्थ :– हे धनुर्धर ! मोक्षकी कामना करनेवाले पूर्वजों ने मुझे इसीप्रकार जानकर (निष्काम कर्मयोगी) सभी कर्म किये हैं ।

दग्ध बीज बोये जानेपर कभी अंकुरित नहीं होता, वैसेही वे कर्म बन्धक नहीं होते, मोक्षके साधन बन गये ।

यहाँ और एक बात है । हे अर्जुन ! कर्म या अकर्म का निर्धारण केवल अपनीही बुद्धिसे कर लेना ज्ञानियों को उचित नहीं ।

व्याख्या :– इसी प्रकार जो प्राचीन मुमुक्षु थे, जिन्होंने मोक्षकी कांक्षासे ही कर्म का अनुष्ठान किया, उन्होंने पहले पहल यह ज्ञानस्वरूप ज्ञान कर लिया । कर्मयोग का रहस्य

सुस्पष्ट कर लिया । उसके पीछे छिपा हुआ ज्ञान उन्होंने पहले आत्मसात किया और बादमें निःशंक भावसे उन्होंने कर्म अपनाये । उन्होंने मुझे पहचाना, साथही अपनाया । अतः वे कर्मबन्ध से मुक्त रहे । ज्ञानवान् को कर्म बन्धक नहीं होते । अग्निमें भुने गये बीज जिस प्रकार जमीन में अंकुरित नहीं होते, उसी प्रकार इन कर्मोंको अब कुछ हेतुही न होनेके कारण वे प्रतिफलित नहीं होते । वे अपने आप नष्ट हो जाते हैं । उनके सामने 'पुरुषार्थ' का हेतु होनेसे वे केवल मोक्ष हेतु में सहाय्यक होते हैं । साथही कर्मोंकी भी छुटका हुई । उन्हें मोक्ष देनेमें वे अग्रसर हुईं । हे अर्जुन ! कर्म के बारेमें और एक बात यहाँ लक्षणीय है । जहाँ कहीं कर्म करने की आवश्यकता हो वहाँ मुमुक्षु को चाहिये कि वह ज्ञानपूर्वक कर्म कर ले । ज्ञानयुक्त कर्म सर्वथा श्रेयस्कर है । कर्म को यह कतिपय अधिकार नही कि वे अपने को अच्छा-बुरा कहें । कर्मकी श्रेष्ठता तथा कनिष्ठता कर्म निर्धारित नहीं कर सकते । साथही कर्मकी प्रेरणा देनेवाला मनभी उसका निर्धार नहीं कर सकेगा । कौनसा कर्म योग्य है, कौनसा कर्म अकर्म है आदिका विचार विद्वान करते हैं । किन्तु यह स्पष्ट है कि विद्वान् को भी अपनी इच्छा के अनुसार उसकी विवंचना नहीं करनी चाहिये । क्योंकि कर्म भी अकर्म हो जाता है और अकर्म भी कर्म कहलाने योग्य होता है । जब यह कर्मरहस्य-कर्मविज्ञान ज्ञात हो जाता है तब कर्माकर्म की स्थिति अनुभव योग्य हो जाती है । अतः यह सर्वथा स्पष्ट है कि कर्म तथा

अकर्म का होना किसीकी इच्छापर निर्भर नहीं। अतः अपनी इच्छाद्वारा उसका निर्धारण कर लेना अनावश्यक तथा अनुचित है। केवल विवंचना करते रहनेसे मनकी शक्ति कम होने लगती है। वह एक प्रकार दुर्बलसा बन जाता है। उससे जो मौलिक ज्ञान हैं उसकी केवल जानकारी लेनेमें ही वह व्यस्त रहता है। जानकारी तथा साक्षात्कार में फर्क है। अनुभूति-संपन्न विशाल व्यक्तिमत्व का आविष्कार साक्षात्कार में अभिप्रेत है। जानकारी अलग है, उपरी है, साक्षात्कार आंतरिक तथा सामर्थ्यसंपन्न है। खाली जानकारी में फँसा हुआ दुर्बलमन अंतःकरण की तद्रूपता को भूल जाता है। ज्ञानरूपता की योग्यायोग्यता का विचार करता रहता है। किन्तु निश्चय नहीं होता। अतः यह विचार छोड देनाही उचित तथा कल्याणप्रद है। ज्ञानमें तद्रूपता पाना, तथा उसमें ही रम जाना श्रेयस्कर है। फिर कर्मकी विवंचना नहीं रहेगी। जो कर्म होंगे वे अपने आप निष्फल होकर मोक्षहेतु में सहाय्यक बन जायेंगे ।।८२, ८३, ८४।।

**किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।**
**तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ।।१६।।**

अर्थ :- कर्म क्या है ? अकर्म का लक्षण क्या ? आदि बातों के बारेमें विद्वान भी यहाँ उलझन में पडते हैं। मैं तुझे वही कर्म स्पष्ट कर रहा हूँ कि जो जानकर तू सभी अशुभों से मुक्त होगा !

कर्म म्हणिपें ते कवण । अथवा अकर्मा काय लक्षण ।
ऐसे विचारितां विचक्षण । गुंपोनि ठेले ॥८५॥

अर्थ :– कर्म किसे कहते हैं ? अकर्म का क्या लक्षण है ? आदिका विचार करते हुए विचक्षण भी मतिमूढ़ हुए ।

व्याख्या :– वस्तुतः जो विचक्षण हैं उन्हें यह स्पष्ट होना आवश्यक था । कर्म तथा अकर्म के बारे में एक सुनिश्चित ज्ञान उन्हें होना आवश्यक था । किन्तु वे भी भूले भटके से इसी संभ्रम में पडे हुए हैं । कर्मकी भूलभुलैया में उन्हें भी कुछ निश्चित नहीं प्राप्त हुआ । वे भटकते रहे क्योंकि उन्होंने कर्म रहस्य को ज्ञात करने की अपेक्षा उसकी जानकारी लेनेमें वे मग्न रहे । केवल जानकारी उपयुक्त नहीं होती । उनके मनमें ज्ञानकी सचाई के बारेमें सन्देह रहा ॥८५॥

जैसें कां कुडें नाणे । खरे याचेनि सारखेपणें ।
डोळयाचेही देखणें । संशयीं घाली ॥८६॥

अर्थ :– जैसे झूठी मुद्रा जब असली दिखाई देती है, तब (उत्तम परीक्षक की) दृष्टि को भी शक पैदा कराती है ।

व्याख्या :– व्यवहार में झूठ और असली सिक्के उपयोग में लाये जाते हैं । जो झूठ सिक्का है, वह असली दिखाई देता है । असली सिक्के के साथ झूठ भी दिया जाता है और वह बात ध्यान में नहीं आती । विचक्षण आँखें भी उसका झूठापन पहचान नहीं पाती । वहाँ सहजही संशय निर्माण होता है । दृष्टिमें मानो दोष निर्माण हो जाता है । मनमें संशय पैदा

होता है और झूठ भी सत्यके साथ तौला जाता है ।।८६।।

तैंसे निष्कर्म्यतेचेनि भ्रमें । गिंवसित आहाति कर्में ।
ते दुजी सृष्टी मनोधर्में । करूं शकती ।।८७।।

अर्थ :— नैष्कर्म्य के भ्रम के कारण (निष्क्रियता के भ्रम) लोग कर्म करते रहते हैं और भ्रम बढाते हैं। वस्तुतः उनके मनके संकल्प से भी प्रतिसृष्टि निर्माण कर सकते हैं।

व्याख्या :— नैष्कर्म्य की बात करना और नैष्कार्य होना दोनोंमें फर्क है। लोग नैष्कर्म्य की विवंचना में फँसे रहते हैं। उसकी चर्चा करते हैं। उसके बारेमें विचार करते हैं। इन्हींसे तो कर्मोंका विस्तार हो जाता है। विविध प्रकार के कर्मोंका ब्यौरा ही दिया जाता है। उनके उनकेस्वरूप निर्माण किये गये। मनकी यें रचनाअें, उसके ये अनेकविध संकल्प तथा अनेक कर्म इतने बढ जाते हैं कि मानो दूसरी सृष्टिही निर्माण हुई हो। मनका प्रसरणात्मक, संकलपात्मक धर्म इस प्रकार इतना प्रभावी है कि वह अपने कर्मोंकी सृष्टि रचाया करता है और उसेही नैष्कर्म्य कहता है, कहलवाता है। यह सचमुच भूल है, भ्रम है। यह संभव होता है कि कर्मकी प्रभावकारी शक्ति उन्हें नैष्कर्म्य के बारेमें भ्रम पैदा हो जाता है। वे नैष्कर्म्यही नहीं मानते। दोनोंमें ही भ्रम है अन्य कुछ नहीं।
।।८७।।

वांचूनि मूर्खांचि गोष्टि कायसि ।
तेथें मोहले गा क्रांतदर्शि ।
म्हणोनि आतां तेच परियेसी । सांगेन तुज ॥८८॥

अर्थ :– मूर्खोंकी तो क्या बात ? बडे बडे क्रांतदर्शी (त्रिकालज्ञ) भी भूलकर बैठते हैं । अतः वही बात तुझसे कह रहा हूँ । सुन !

व्याख्या :– जो मूढ हैं, जो ज्ञानके महत्त्व को समझ नहीं पाते वे तो जरूर भूलेंगेही । उन्हें जरूर भ्रम निर्माण होगा । किन्तु जो क्रांतदर्शी हैं, जो दूरकी बात देख सकते हैं, जो सुदूर भविष्य का विचार कर सकते हैं वे भी इस रहस्य को यथातथ्य रूपमें समझने में असफल रहे हैं । वे भी कर्मजाल में मोहित हो जाते हैं । कर्मगति इसी कारण गहन है । अतः वह रहस्य सुव्यवस्थित रूपमें स्पष्ट करूँगा जिससे तू ठीक ठीक समझेगा ॥८८॥

**कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।**
**अकर्मणश्च बोद्धव्य गहना कर्मणो गतिः ॥१७॥**

अर्थ :– विहित कर्म का ज्ञान होना चाहिये । और निषिद्ध कर्मोंको भी जानना होगा । निष्क्रियता का (कर्मशून्यता या अकर्मण्यता का) स्वरूप भी जान लेना आवश्यक है । वस्तुतः कर्म का यथार्थ स्वरूप निःसंशय निगूढ है ।

तरी कर्म म्हणजे स्वभावें । जेणें विश्वाकार संभवे ।
तें समवेत आधि जाणावें । लागे येथें ॥८९॥

अर्थ :– वस्तुतः कर्म विश्वाकार है । विश्वका निर्माण

भी सहज स्वाभाविक कर्म से हुआ है। अतः उसका यथार्थ ज्ञान पहले पहल कर लेना होगा।

व्याख्या :– कर्मकी व्याख्या करते समय पहले पहल यह देखना उचित है कि यह यच्चयावत् विश्वही एक बृहत् कर्म है। वह आदि कर्म है जिसके आधारपर ही अन्य कर्म सर्वथा अवलंबित है। प्रकृति की प्रेरणा में महत् का जो विश्वात्मकरूप प्रकट हुआ वही मूलकर्म है उसी को ज्ञात कर लेना महत्त्व का है। वह ज्ञान, वह संवित् कर्मरहस्य को आगे चलकर प्रकट करने में समर्थ होगा ॥८९॥

मग वर्णाश्रमासि उचित। जें विशेष कर्म विहित।
तेंहि वोळखावें निश्चित। उपयोगेंसि ॥९०॥

अर्थ :– उसके बाद वर्ण आश्रमादि के योग्य विहित कर्मों की उपयोगिता तथा उनका निर्धारण आदि का ज्ञान कर लेना आवश्यक है।

व्याख्या :– वर्णाश्रम व्यवस्था का विशेष समझ लेना उचित है। उसकी उपयोगिता स्थलकाल के अनुसार जानना अत्यावश्यक है। वर्णाश्रम के द्वारा नियत किया गया, तथा उचित रूपमें स्वीकार किया गया विहिताचार सम्यक् रूपसे अनुष्ठित होनेपर वहाँ कर्मरहस्य की पहचान हो जाती है। जो कर्मोंके साथ चलता रहता है, जो योगका सान्निध्य पा चुका है, जिसे उपयोग कहा जाता है, वह वर्णाश्रम का अनुष्ठान एक प्रकार कुतुहलसा, स्वाभाविकता का होकर अपनी पात्रता निर्माण करता है। वहाँ विश्वास, निश्चिति तथा मनस्थैर्य

प्रकट होता है। अपने स्वभाव के अनुकूल होकर वह प्रयत्न में सौकर्य ला देता है। उसकी सुस्थिति देवताभाव को अपनाती है। फलस्वरूप संसारिक परिश्रम, दुःख, कष्ट कम हो जाते हैं। उसकी श्रेष्ठता जीवन में पूज्यता अनुभव करा देती है। वह स्वयं पूजनीय हो जाता है। उसकी महत्ता बढती है तथा उसे देखनेवाली आँखें आनन्द तथा आदर से प्रेम का उपहार अर्पण करती हैं। इसी प्रकार एक प्रेमरूपता वहीं प्रकट हो जाती है जो केवल आनन्द लहरियों के समान मनको उमडा देती है। मानो आनन्द ही प्रसन्नता को प्राप्त हुआ। वर्णाश्रम की स्वाभाविकता पहचाननेपरही उसका अनुष्ठान इसप्रकार विहित माना गया है ।।९०।।

पाठिं जे निषिद्ध म्हणिपे। तेंहि बुझावें स्वरूपें।
येतुलेंनि कांहि न गुंपे। अपैसेंचि ।।९१।।

अर्थ :– वेदोंने जिनको निषिद्ध कहा है उन कर्मोंका ज्ञान भी स्वरूपतः आवश्यक है ताकि कर्म के बारेमें किसी भी प्रकार भ्रम नहीं रहेगा।

व्याख्या :– ऐसीभी एक बात जरूर लक्षणीय है कि कुछ ऐसे भी कर्म हैं जिन्हें निषिद्ध कहा गया है। जब कर्मयोग का अनुष्ठान संपन्न होता है तब निषिद्ध कर्मोंका ज्ञान अनायास प्राप्त हो जाता है। उसका यथावत् ज्ञान उसके दोषोंको समझाता है साथही यह भी स्पष्ट होता है कि उस 'निषिद्ध' में भी एक विशेषता है, उनकी अपनी गति है। वह गति, उनकी दिशा तथा उनका अनुबंध स्पष्ट होनेसे जगत् की

कर्माधीनता स्पष्ट होती है। जो 'निषिद्ध' वह क्यों नहीं करना चाहिये इसके संबंधमें यथार्थ ज्ञान अनुभव होता है। वृत्तिकी व्याप्ति तथा निवृत्ति किस प्रकार है यह भी समझा जाता है। वृत्तिकी व्यावृत्त अवस्था नियन्त्रित हो सकती है। 'निषिद्धता' कहे बगैर अपने आप दूर होजाती है। जो निषिद्ध है वह दूर करने के लिये, या उसे हटाने के लिये उपायों के बारेमें जिज्ञासा भी जरूर पैदा हो जाती है। उसके संबंध में प्रयत्न-पूर्वक देखा जाता है। आवश्यक है कि निषिद्ध क्या है यह समझ लिया जाय? उसके दूर करने के उपाय उसके बाद जरूर करने होंगे ॥९१॥

ये-हवीं जग कर्माधीन। ऐसी व्याप्ति याची गहन।
परि तें असो आयिक चिन्ह। प्राप्ताचें गा ॥९२॥

अर्थ :– यह जगत् कर्माधीन है। कर्म की व्याप्ति काफी गहन है। परन्तु अब ऐसे योगियों के लक्षण सुन ले कि जिन्होंने कर्माकर्म का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लिया है।

व्याख्या :– इस प्रकार कर्म की यह गहन गूढ गति हैं। उसके रहस्य जानने को भी पर्याप्त साधना आवश्यक है। जगत् में कर्मकी गहनता सुप्रतिष्ठित है, उसे हल करने का प्रयत्न भी अत्यन्त जटील हो जाता है। अतः यहाँ प्राणीमात्र सर्वथा कर्माधीन बना रहता है। वह दीन होकर कर्मसे छुटकारा नहीं पाता। यह गहनता किस प्रकार हटायी जाय, उसके लिये क्या क्या किया जाय इस संबंधमें सर्वत्र अज्ञान व्याप्त है। वही दीनता है अज्ञान है। अगर यहाँ कर्मकी गति

समझमें आ जायेगी तो संभव है कि कर्मका बन्धन हट जायेगा। वहाँ कर्मकी शून्यता निर्माण होगी। नैष्कर्म्यता अपने आप आ जायेगी। वस्तुतः यह मनही एक प्रकार बन्धन ला देता है। वही परिणामक्षम होकर बोझ ढोता है। वह निषिद्धताका स्वीकार करके अपने को दुर्बल बना देता है। उसे मनपर परतन्त्रता का बोझ रहता है। वह मुक्त नहीं रहता। कर्म की गहनता उसकी समझमें नहीं आती। वह स्वाभाविक रूपसे आनंदीत बन जाता है। यहीं पर मन को उचित रूपसे कर्म की प्रेरणा देनी होगी। उसे यथायोग्य रूपमें नियुक्त किया जाय। उसके द्वारा आज्ञापालन होता रहे। आज्ञाके बिना वह कुछ न करे। श्रीगुरुद्वारा की गयी आज्ञा यहाँ साधक को अपने स्वभाव पर लानेमें सहाय्यक होती है। जीवन में विविधता है। उनके प्रकार के व्यक्ति हैं। उन्हींके द्वारा निषिद्ध कर्मोंको शून्यवत् कर देना आवश्यक होता है। निषिद्ध कर्म आसानी से नहीं हटते। उसके लिए विहिताचार का शुभसंकल्प किया जाना चाहिए। विहित कर्माचार होना चाहिए। वहीं इस जगत् के ईश्वरीय कृपाके द्वारा उसके शुभ आशीर्वाद रूप शब्दोंद्वारा, या उसकी आज्ञाके द्वारा स्वभाव का स्थैर्य निर्माण होता है। शब्दरूप आज्ञा श्रुतिद्वारा है। स्वभावस्थैर्य की यह बात निःसंशय महत्त्वपूर्ण है। यथाश्रम अनुष्ठान होनेके बाद यह स्वभावस्थैर्य तथा उसके फलस्वरूप मनका विशाल स्वरूप अभिव्यक्त होता है। जीवन की जो मूलाधार स्थिति उसको भी इस अवस्था में ज्ञात दिया किया

जाता है। प्राणधारणा का स्थिरभावन यहीं सदाके लिये रहता है। यह सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि है। यहाँ स्वगुण सगुणों के द्वारा अपनाये जाते हैं। आज्ञापालन का परिपूर्ण समाधान होनेसे मनकी विशालता दुगुनी हो जाती है। यहाँ भावना स्थैर्य तथा भावना की यथायोग्यता प्राप्त हो जानेसे विश्व-रचना का मूलही रूप, नाम आदि द्वारा स्थिर होकर गोचर बन जाता है। वह अव्यय तत्त्व भी यहाँ साकार सा होकर अपनी व्यवस्थिति को पा जाता है, स्थिर होता है, तथा व्यापक भी बन जाता है। यह जो हो जाता है या किया जाता है वही सिद्ध है, वही लक्षणीय है, तथा शास्त्रानुकूल लक्षणयुक्त है। श्रीसंतोंद्वारा यही बार बार कहा गया है। एकबार यह उपलब्धि हुई, या एकबार इस भूमिका को अनुभव किया गया कि उसे 'योगप्राप्त' कहा जाता है। उसने सचमुच 'योग' को अपनाया। यहाँ योगके अन्यान्य अंगही नहीं तो संपूर्ण योगका सर्वस्व साकार हो गया। यह अवस्था योगभावसे अन्यथा नहीं। इस अवस्था की योग्यता योगभूमिका से भिन्न नहीं है। हे अर्जुन ! यहाँ कर्म के गहनता की व्यवस्था सुस्पष्ट की गई है। तिसपर भी और कुछ लक्षण जरूर होंगे किन्तु उनकी व्याख्या करने की अपेक्षा ऐसे कर्मयोगी को ही देखना उचित होगा। जिनके पास कर्म तथा अकर्म के बारेमें पूरा ज्ञान है, जिन्होंने इस कर्मरहस्य को आत्मसात किया है, ऐसे सिद्ध पुरुष कर्मयोग के साकार रूप हैं। उन्हें देखनेसे ही उन लक्षणों का पता चल सकेगा। वहाँ कर्मयोग के सभी लक्षण

सर्वथा सिद्धरूपमें उपस्थित हैं। इतनाही नहीं सिद्ध तथा लक्षणों का अन्योन्याश्रय है। अतः इन्हींको अपनानेसे उन लक्षणों के परिणाम, वह सिद्धता प्रकट हो जायेगी। वह कर्म व्यवस्था अपने रहस्य को परिचित करायेगी। "गहना कर्मणो गतिः" यह सिद्धान्त निःसंशय महत्त्वपूर्ण है। उसकी स्थिति को समझ लेनाही होगा। वह तो स्वयंसिद्ध है ही। फिरभी उसकी व्याख्या सर्वसामान्य के लिये आवश्यकसी है। नल तथा नील के समान जो सर्वश्रेष्ठ कर्मयोगी हो चुके हैं उनके बारेमें विवरण कर लेना अप्रस्तुत है। उन्होंने वस्तुतः इसी उपर्युक्त सिद्धान्त को अपनाया था। अतः आवश्यक है कि हम इस बुद्धियोग को अपनाते रहे। जिससे बुद्धियोग युक्त होकर ज्ञानरूपता के कारण कर्मयोग के रहस्य को समझेंगे। तब उसकी गहनता नहीं रहेगी ।।९२।।

**कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।**
**स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ।।१८।।**

अर्थ :- जो कर्म करते हुए भी उसमें अकर्म देखता है (देहेंद्रिय कर्मोंमें इन्द्रियों का ही संवंध समझता है-अपना (आत्माका) नहीं मानता। - कर्मफलेच्छा से लिप्त नहीं होता) या जो कर्म न करते हुए भी साक्षी होकर कर्म देखता है (अकर्मही जिसका कर्म है-कर्म करते हुए या न करते हुए जो केवल अकर्म ही जानता है) मनुष्यों में वही केवल कर्मोंको यथार्थता से जाननेवाला, बुद्धिमान तथा योगी है।

जो सकळ कर्मिं वर्ततां । देखे आपल्लि नैष्कर्म्यता ।
कर्मसंगे निराशता । फळाचिया ॥९३॥

अर्थ :– जो अपने सभी प्रकार के कर्मोंको करते हुए नैष्कर्म्यता को देखता है याने कर्म के साथ निर्माण होनेवाले फलोंके प्रति बिलकुल निराश–उदासीन–है ।

व्याख्या :– सभी प्रकार के कर्म करने में जो मग्न है किन्तु जिसका मन उनसे सर्वथा अलिप्त है, वह अपने कर्मोंमें फलाशा कैसे रख सकता है ? उसका मन कर्म की अपेक्षा चैतन्यरूप समुद्र के समान जो आत्मतत्त्व उसकी ओर सदैव आकुष्ट रहता है । वह कर्म जरूर करता है परन्तु कर्मोंमें मनको नहीं अटका देता । अपनी–आत्मानुभूति द्वारा वह इस प्रकार अक्रियत्वही पा जाता है । आत्मदर्शन के कारण व नामरूपादि सगुण ऐश्वर्य के प्रति उसको आत्मप्रतीति ही अनुभव होती है । उसके कर्मोंके बारेमें उसे किसी भी प्रकार कर्मफल की आशा, अपेक्षा या कांक्षा है भी नहीं । कर्मफल प्राप्त हो या न हो उसे उसकी किंचित् भी अभिलाषा नहीं । कर्मोंके मूलमें जो अहंता है उसका तनिक भी अभिनिवेश उसके पास नहीं है । इससे वह सभी कर्म करता है साथही कर्मफलों को सर्मपित करता है । उसके कर्म ईश्वरार्पण बुद्धिसे होनेसे वे उसे बंधक नहीं हो जाते । उसके कर्म उसके अपने नहीं होते, अतः उसकी आशा भी उसे नहीं है । वहाँ लोभ या मोहरूप विकार बिलकुल नहीं रहता । फल तथा फलाशा के प्रति एकप्रकार का नैष्कर्म्यंही मानो वहाँ फलद्रूप हुआ है ॥९३॥

आणि कर्तव्यतेलागीं । जया दुसरे नाहीं जगीं ।
ऐसिया नैष्कर्म्यता तरि चांगी । बोधला असे ।।९४।।

अर्थ :- जिसके लिये अपने सिवा-आत्मस्वरूप के सिवा और कुछ 'कर्तव्य' नहीं है, तथा इस प्रकार के नैष्कर्म्य युक्त ज्ञानमें जो पूर्णतया समरस है-

व्याख्या :- उसके लिये कर्तव्य है नैष्कर्म्य ! नैष्कर्म्यता के अलावा इस जगत् में उसके लिये कुछ नहीं रहा । यह जो ठीक ठीक समझ लेता है, इस बात का जिसपर गहरा प्रभाव है, और जिसने इसी ज्ञानबोध को प्राप्त किया है वह निःसंशय नैष्कर्म्यताही सर्वोत्तम समझकर, उसका अनुष्ठान करता रहता है । उसका आत्मबोध उसे अपनी स्थिरता ला देता है । वही कर्ममें अकर्म देखता है और स्वयं अकर्मा होनेपर भी कर्मसाक्षी है ।।९४।।

तरि क्रियाकलाप आघवा । आचरत दिसे बरवा ।
तोचि तो इयें चिन्हि जाणावा । ज्ञानिया गा ।।९५।।

अर्थ :- तथापि सभी प्रकार के अच्छे कर्मोंका अनुष्ठान जिससे होता है, वही इन्हीं लक्षणों के कारण सचमुच ज्ञानी है ।

व्याख्या :- उसकी क्रियाएँ, उसके कर्म वस्तुतः निरतिशय आदर्शरूप हो जाते हैं । उनके कर्मोंमें एक प्रकार तपःपुनीत सामर्थ्य है । उसके कारण उन कर्मोंमें भी विलक्षण दीप्ति अनुभव की जाती है । आँखोंमें सूर्यके समान तेज होनेसे, और उन तेजस्वी नेत्रोंको भी देखनेवाला आत्मसूर्य जहाँ स्वयमेव

ज्ञानप्रकाश दे रहा है वहाँ वही मानो सगुण, सक्रिय होकर आचार का अत्युत्तम आदर्श उपस्थित कर रहा है। उसमें एक व्यवस्था है, व्यवस्थिति है। ज्ञानके संबंधमें जो लक्षण या उपलक्षण किये गये हैं उनका साकार स्वरूप इस कर्मयोगी में देखा जाता है। अतः उसका कर्म भी आदर्शवत् जरूर होगाही। उसका वर्तन, कर्म, या जीवनयापन सर्वथा अंतर्मुख दृष्टिसे संपन्न हैं। वहाँ कहीं भी बहिर्मुखता नहीं है। वह यद्यपि सभी कर्म करता रहता है, तो भी उसकी सभी क्रियाएँ विदेही वृत्तिसे हुआ करती हैं। उसका मन सर्वथा देहमुक्तसा रहने के कारण, तथा अहंकारहीन वृत्ति होनेसे उसके कर्म नैष्कर्म्य में अपनेआप परिणत होते हैं। उसे उस संबंध में तनिक भी अभिमान नहीं। अतः उसपर कर्मोंका बोझ भी नहीं है। वह कर्मका बोझ कभी नहीं अपनाता। अहंता के कारण वहाँ जो फलप्राप्ति है, जो आशानिराशा है या विफलता है उसके प्रति उसे कुछ भी सरोकार नहीं है। कर्मोंके कारण निर्माण होनेवाले कामक्रोधादि विकारों से वह कोसों दूर है। वह सर्वथा निर्लेप रहकर अपना नैष्कर्म्य अनुभव करता है। उसका नैष्कर्म्य भी सर्वथा सहजसिद्ध रहता है ।।९५।।

जैसा जळापासीं उभा ठाके।
तो आपणपें जरि जळामाजि देखे।
तरि तो निभ्रांत वोळखे। म्हणे मी वेगळा आहे ।।९६।।

अर्थः— पानी के पास खडे रहकर अपने प्रतिबिंब को

देखनेवाला जिस प्रकार अपने को प्रतिबिंब से अलग समझता है– ।

व्याख्या :– तालाब के किनारे खडा हुआ व्यक्ति अपना प्रतिबिंब निहारता है । वह प्रतिबिंव तो पानीमें दीखता है, किन्तु व्यक्ति स्वीकार नहीं करता कि मैं पानीमें हूँ । वह निभ्रांत रूपमें यही मानता है कि मैं पानीमें नहीं हूँ, मैं उस प्रतिबिंब से सर्वथा अलग हूँ । वह जल है और मैं उसमें नहीं हूँ । जो पानीमें दीखता है वह मेरा प्रतिबिंब जरूर होगा किन्तु वह मैं नहीं हूँ । किनारे पर खडा रहनेवाला योंही समझता है कि मैं पानीके बाहर हूँ । कर्म का अभिमान कर्म में लिप्त करता है । वह एक अभिमान है कि जो हमें कर्मों में डुबा देता है । जो अभिमान से हट गया, जो निरहंकारी बन गया वह कर्मोंमें नहीं फँस सकता । वह कर्मोंसे अलिप्त रहकर नैष्कर्म्य को अपनाता रहा ।।९६।।

अथवा नावें आरोहन रिगे ।
तो थडियेचे रुख जात देखे वेगें ।
तेचि साचोकारें पाहो लागे । तंव रुख म्हणे अचळ ।।
।।९७।।

अर्थ :– नौका पर बैठकर जब प्रवास शुरू होता है तब तीर के पेड पौधे भी विरुद्ध दिशासे दौडते हुए दीख पडते हैं किन्तु वे वस्तुतः अचल हैं– ।

व्याख्या :– जलविहार करने के लिये हम नाव में बैठे हैं । नाव शुरु होनेपर ऐसा दीखता है कि तीर पर जो वृक्ष हैं वे भी विरुद्ध दिशामें जोर जोरसे जा रहे हैं । वस्तुतः

वे तो स्थिर हैं। वे किसी भी स्थिति में अपनी जगह नहीं छोडते। यह तो दृष्टिभ्रम है कि जिससे वृक्ष भी दौडते दिखाई देते हैं। जब हम सत्य देखते हैं तब वृक्ष स्थिर ही दिखाई देते हैं। नावमें बैठकर पानीमें विहार करनेवाले को अपनी पडछाई भी उल्टी दीख पडती है। यह दृष्टिदोष जिस प्रकार है उसी प्रकार कर्म का अभिमान होता है। अभिमान के ही कारण कर्म बन्धक रहते हैं।।९७।।

तैंसें सर्व कर्मिं असणें। ते फुडें मानूनि वायाणें।
मग आपणपां जो जाणें। नैष्कर्म्य ऐसा।।९८।।

अर्थ :– उसी प्रकार अपने कर्मोंमें रहकर भी, उन्हें केवल व्यर्थ समझकर वह अपने को–अपने आत्मभाव को पहचानता है, नैष्कर्म्य को जानता है।

व्याख्या :– नावमें बैठे हुए मनुष्य को उसका अपना प्रतिबिंब पानीमें उल्टा दिखाई देता है। उसके इन्द्रिय भी उल्टेसे दीख पडते हैं। वहाँ मानो अपनेही गुणोंको बढाया जाता है। सगुण कोही फिर गुणोंसे वृद्धिगत किया जाता है। वस्तुतः वह मनुष्य न उल्टा होता है, न उसके अवयव भी उल्टेसे रहते हैं। उसकी स्थिरता तथा उसकी दृष्टि अपने आपमें पूर्णरूप तथा सुयोग्यही है। वैसेही अहंकारी अपने ऊपर अकारण कर्मका बोझ ढ़ोता है। कर्मकी झूठी अहंता वह अकारण स्वीकार करता है और फिर उसमें फँस जाता है। वस्तुतः उसमें नैष्कर्म्यताकी ही भावना होनी चाहिए। नैष्कर्म्य में सचाई है, स्वाभाविकता है, कर्मका आदर्श है।

सच्चा ज्ञानी उसमें अपने को स्थिर कर देता है, कर्म का बन्धन अस्वीकार कर देता है तथा निरहंकार भावसे निरपेक्ष होकर नैष्कर्म्य को अपनाता है ।।९८।।

आणि उदयास्तेंचि प्रमाणें ।
जैसें न चालतां सूर्याचें चालणें ।
तें नैष्कर्म्य तत्त्व जाणें । कर्मींचि असतां ।।९९।।

अर्थ :- सूर्य का उदय तथा अस्त देखने के कारण जिस प्रकार उसके स्थिर होनेपर भी हम उसका चलना मानते हैं, वैसेही कर्मोंमें रत होकर भी वह नैष्कर्म्य तत्त्व जानता है ।

व्याख्या :- यह तो स्पष्ट है कि सूर्यका उदयास्त होता है । किन्तु सूर्य तो स्वयं नहीं चलता । उसका उदयास्त हम मानते हैं । वह स्वयं स्थिर, अकर्ता है । तो भी उदयास्त के कारण हम उसका चलना-कर्म जो कभी नहीं होता-मानते हैं । वैसेही इस देहकी रचना है । कर्मगुणसंक्रमण के कारण देहकी निर्मिति है । पांचभौतिक तत्त्वोंमें उसकी परिणति है । किन्तु केवल देह के अस्तित्व का यह कर्म आत्मदेव की विद्यमानता पर अवलंबित है । उसकी अंतस्थिति आत्मराज के प्रकाश के कारण है । बात यह भी सही है कि स्वयं आत्मा देहकी निर्माण में अकर्ता है, केवल साक्षीभूत है । उसका प्रमाण तो स्वीकार्य है, उसकी विद्यमानता अपरिहार्य है किंतु वह कर्म का कर्ता नहीं । वह सर्वथा विदेही, देहयुक्त होनेपर भी विदेही है । यह एक अहंता, अहंकार है जो उसमें कर्तृत्व आरोपित करता है । सूर्यका उदयास्त उसके कर्म का प्रमाण

नहीं, हम उसका कर्म व्यावहारिक रूपमें मानते हैं। किन्तु असल में वह सर्वथा अलिप्त तथा अकर्ता है। उसी प्रकार यहाँ अतःकरण की अवस्था होनी चाहिये। अहंकाररहित अंतःकरण अपने ज्ञानस्वरूप का साक्षीत्व पहचानता है। आत्मराज का अधिष्ठान अनुभव करता है। देहवैभव की क्षमता जान लेता है साथही देहमें या कर्ममें निरहंकारिता के कारण अकर्ता रहता है। कर्मयोग की अनन्यसाधारण सिद्धि स्वस्वरूप का अनवधान नहीं होने देती। वह योग्यता वहाँ केवल ज्ञानदृष्टि का कौतुकमात्र नहीं। वहाँ ज्ञानजन्य कर्मकलाप के प्रति अकर्तृत्व की भावना सुस्थिर है। वहाँ जो स्वयंभू तत्त्व है उसेही केवल अपनाया जाता है। उसकी यथार्थता सुदृढ की जाती है। तत्त्वकी सचाई प्रत्यक्ष अनुभूत होनेके कारण वहाँ नेत्रों में विश्वास या विश्वासकेही नेत्र हो जाते हैं। ज्ञान तत्त्व मेंही प्रलीन हो जाता है। वहीं मनुष्य का आधार ज्ञान है और वह ज्ञान केवल ज्ञानरूपसा ही बना रहता है। इस देहके द्वाराही क्रिया तथा कर्म संभव है। कोई भी क्यों न हो इस पांचभौतिक देहको त्याग कर कर्म में प्रविष्ट नहीं हो सकता। उसे देहकी आवश्यकता हैही। साथही देहमें ज्ञान की केवलता अनुभव की जाती है। देहही एक महान् कर्म है। उसकी निर्लेप स्थिति ज्ञानावस्था में संभव है। योगी इसी कारण विशिष्ट योगभूमिका को अपनाता है। उसकी भूमिका में कर्म तथा ज्ञानकी विशेषरूपसे पूर्णता अनुभव की जाती है। वहाँ ज्ञानही साकार हुआ है। ज्ञानजन्य कर्म वहाँ निर्लेप

भावसे अपने अकर्म का प्रत्यय दिलाते हैं। वहाँ ज्ञानही देखा जाता है। योगभूमिका इसीकारण आत्यंतिक समाधान तथा संजोवन को अपनाती है ॥९९॥

तो मनुष्यासारिखा तरि आवडे।
परि मनुष्यत्व तया न घडे।
जैसें जळामाजीं न बुडे। भानुबिंब ॥१००॥

अर्थ :– वह मनुष्य के समान दीखता है, किन्तु 'मनुष्यत्व' उसमें नहीं है, जिस प्रकार पानीमें सूर्यका प्रतिबिंब नहीं डूब सकता।

व्याख्या :– वस्तुतः योगी ज्ञानरूप है। वह मनुष्य के समानही दीख पडता है। उसके आचार, क्रिया, कर्म सभी मनुष्य के समानही होते हैं परन्तु मनुष्य पर कर्मबंधन का जो परिणाम लक्षित होता है वह यहाँ नहीं दीखता। क्योंकि उसकी ज्ञानरूपता अन्य मनुष्यों के बीच पृथकत्व निर्माण कर देती है। मनुष्यजीव या उसका बहिर्मुख स्वभाव उसके पास नहीं होता। उसकी मनुष्य में जो विद्यमानता है वह मानो पानीमें दिखाई देनेवाले सूर्य के प्रतिबिंब के समान है। सूर्यबिंब पानीमें दीखता है किन्तु वह पानीमें नहीं है ॥१००॥

तेणें न पाहतां विश्व देखिलें। न करितां सर्व केलें।
न भोगितां भोगिले। भोग्यजात ॥१०१॥

अर्थ :– (सूर्यबिंब जिसप्रकार जगत् का चक्षु) वैसेही उसने न देखनेपर भी वह सारे विश्वको देखता है, न करते हुए भी सबकुछ करता है और उपभोग न लेतेही वह सभी विषयों का

उपभोग करता है ।

व्याख्या :– इस प्रकार पूर्णता प्राप्त योगी सर्वथा नैष्कर्म्य से ओतओत है। उसके न देखनेपर भी वह सबकुछ देखता है। उसने समूचे विश्वका दर्शनही किया है। किसी भी प्रकार का कर्म न करते हुए उसने सब कुछ किया। जीवन में विविध प्रकार के उपभोग लिये बगैर उसने सभी विषयजात उपभुक्त किये। उसके कर्ममें अकर्मता है, उसका कर्म महान् शक्तिशाली, परिणामक्षम तथा अभिमानरहित है। वह कर्म अकर्मसा बन जाता है ।।१०१।।

येकेचि ठायिं बैसला । परि सर्वत्र तोचि गेला ।
हें असो विश्व जाला । अंगेंचि तो ।।१०२।।

अर्थ :– वह एकही जगह पर बैठता है किन्तु सर्वत्र जाता है, वह मानो विश्वरूप, विश्वाकार हुआ हो ।

व्याख्या :– यद्यपि वह एकही देहमें विद्यमान है, तो भी वह सर्वत्र जा सकता है। स्थल तथा कालपर उसने विजय पायी है। दिग्कालातीत होकर वह सर्वत्र व्याप्त है। मानो समूचा विश्व उसके अन्तर में समाया है। वह विश्वके समान महान् तथा सर्वात्मक हो गया है। विविध प्रकार के उपभोग, विविध विषयों का सेवन तथा सर्वत्र व्याप्त होनेपर भी उसकी आत्मस्थिति अबाधित है। वह आत्मवान् है। वह आत्मप्रकाश-युक्त है। अतः उसकी विद्यमानता सर्वथा नैष्कर्म्ययुक्त है।।१०२।।

**यस्य सर्वे समारंभाः काम संकल्पवर्जिताः ।**
**ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पंडितं बुधाः ।।१९।।**

अर्थ :– जिसके सभी उद्योग वासना फल रहित होते हैं,

तथा ज्ञानरूप अग्नि के द्वारा जिसके सभी कर्म दग्ध हुए हैं, उसे पंडित कहते हैं, ज्ञानी कहते हैं।

जया पुरुषांचा ठाईं । कर्माचा तरि देख नाहिं ।
परि फळापेक्षा पाहिं । संचरेना ।।१०३।।

अर्थ :- जिस मनुष्य के अंतःकरण में कर्म के प्रति खेद नहीं तथा फलकी इच्छा भी उत्पन्न नहीं होती- ।

व्याख्या :- जिसके कर्म उपभोग की इच्छासे शुरू नहीं होते, कर्मका संकल्प या प्रारंभ फलाशा या उपभोगेच्छा रहित है वहाँ कर्म बंधक नहीं होते । उसके कर्म ज्ञानाग्नि के कारण जल जाते हैं, नष्ट होते हैं । ऐसा नैष्कर्म्ययोगी सचमुच पंडित है । जो केवल देहात्मवादी रहता है और जो ऐहिक उपभोग की इच्छासे अलिप्त नहीं वह इस ज्ञान का महत्त्व समझ नहीं सकता । उसको इस महत्त्वपूर्ण ज्ञानका कुछ भी उपयोग नहीं। बहिर्मुखता ज्ञानमें सर्वथा बाधक है । अतः वह इस ज्ञानका अनुभव नहीं कर सकता । संकल्पात्मकता मनका स्वभाव है। वह उसका धर्म है। मन सदैव संकल्प करता रहता है। इस मायिक स्वरूप के कारण मनके संकल्प भी मायिक तथा अनात्मरूप होते हैं । उन्हें वास्तवता नहीं रहती । वस्तुकी सत्ता वहाँ अनुभव नहीं की जाती । मनुष्य मायावाद में फँस जाता है । वहाँ कर्म होते हैं किन्तु वे मनःसंकल्प के आधार पर । उनमें उपभोगेच्छे, फलाशा तथा अभिमान ओतप्रोत है। उनका आरंभ संकल्प विरहित नहीं । अतः ज्ञानाग्नि के कारण प्राप्त होनेवाली अकर्मता तथा तृप्ति यहाँ लक्षित नहीं हो

सकती । स्पष्ट है कि वहाँ नैष्कर्म्यता कभी नहीं होगी । अतः संकल्पयुक्त होना सर्वथा अनुचित है। फलोपभोग के प्रति किसी भी प्रकार इच्छायुक्त मत रहो । इच्छा सर्वथा बलवान होती है । वह कर्मकी प्रेरणा रहती है साथही आशा–निराशा के आंदोलन में मनको चंचल कर देती है । इच्छा के कारण विकार बलवान रहता है । जहाँ विकारवशता है वहाँ ज्ञान नहीं । जहाँ ज्ञान नहीं वहाँ कर्म बंधक रहते हैं । जहाँ बंधकत्व है वहाँ पांडित्य तथा समाधान सर्वथा असंभव रहता है । अतः संकल्पयुक्त होकर रहना उचित नहीं । जो सहजही अनायास संकल्परहित कर्म हुआ करते हैं तथा जिनके फल अनायास, निर्लोभ वृत्तिसे पाये जाते हैं वे कर्म ज्ञानका भोग हैं । वहाँ कर्मों के कारण इच्छाकी अस्थिरता या दुराशा नहीं । भिन्न-भिन्न प्रकार के मनःसंकल्पों का उनपर परिणाम नहीं होता । उन्हें वैसा अवकाश भी नहीं रहता । अतः होनेवाले कर्म सहज पवित्र हैं । पवित्रता ला देते हैं । भगवत् स्वरूप की दिशा अपनाते हैं । उन्हें फलेच्छा नहीं होती । अतः ये कर्म नैष्कर्म्यता को प्राप्त होते हैं। वे कर्म तथा उनका भोग वस्तुतः सहज, अनायास, इच्छारहित होनेसे उनके द्वारा सहज भोग, सहजपवित्रता आ जाती है । जो बुद्धिमान् हैं, जो पंडित हैं वे इसी प्रकार नैष्कर्म्य के लिये योगारंभ कर देते हैं । वहाँ जीवन में योग है, कर्म होनेपर भी भोग नहीं । ईश्वर साक्षात्कार की वह अनूठी साधना है । यह सहजयोगारंभ है । उसके द्वारा योग्यता अपनायी जाती है । वह योग्यता,

वह योगानुशासन नैष्कर्म्य के द्वारा प्राप्त होनेवाली महान् सिद्धी है। उन्हें पंडित कहा जाता है। जिसकी बुद्धि इसप्रकार योगात्मक, अन्तर्मुख, फलाशारहित, भोगशून्य बनी है वही बुद्धिमान्, वही पंडित है। ब्रह्मसत्ता की अनुभूति इन्हींमें देखी जायेगी। यहाँ मानो ब्राह्मण्य ब्राह्मण्यको ही अपनाता है। ब्रह्म ब्रह्मको ही पा जाता है। वह वस्तुतः ब्रह्मही है। उसकी चर्चा अप्रयोजक है। जो अनुभव करता है वह नहीं बोलता। उसके पास खाली मौन है। वहाँ केवल ज्ञानही मन्तव्य है, द्रष्टव्य है, निदिध्यासितव्य है! उसकी चर्चा अर्थशून्य है। उसके कर्म सहज अनायास फलाशारहित हो जाते हैं और होनेपर भी कर्ताकी नैष्कर्म्यता को भंग नहीं करते ।।१०३।।

आणि कर्म हें मी करीन।
अथवा आदरिलें सिद्धि नेईन।
येणें संकल्पें ज्याचें मन। विटाळेना ।।१०४।।

ज्ञानाग्निचेनि सुखें। जेणें जाळिलिं कर्में अशेषें।
तो परब्रह्मचि मनुष्यवेषें। वोळख तू ।।१०५।।

अर्थ :– यह कर्म मैं करूँगा, प्रारब्ध कर्म को पूरा करूँगा आदि प्रकार के संकल्पों से भी जिसका सन सर्वथा अछूता है–।

यह पहचान ले कि जिसने अशेष कर्म ज्ञानाग्नि में डालकर सुख से दग्ध किये वह मनुष्यरूपमें साक्षात् परब्रह्मही हैं।

व्याख्या :– वैसेही किसी कर्मके बारेमें कर्तृत्व को भावना उसके मनमें कभी नहीं आती। मैं यह कर्म करूँगाही, या यह

शुरू किया हुआ कर्म मैं पूराही करूँगा, उसकी सिद्धि पाऊँगा इसप्रकार का संकल्प वहाँ नहीं। वह संकल्पशून्य है। उसका मन नितांत शुद्ध तथा स्वच्छ है। वह आत्यंतिक शान्त स्वभाव से अपने संकल्परहित कर्मोंमें उद्युक्त है। परमात्मस्वरूप के ज्ञान के कारण वह पूर्ण ब्रह्मही है। अतः उसके द्वारा किये गये कर्म सर्वथा अकर्म हैं। उसका परमपावन दर्शन वस्तुतः परब्रह्मका मनुष्य रूपमेंही दर्शन है। वहाँ आत्मरूप श्रीभगवान् का ही लक्ष्य है। वह अक्षर ब्रह्म उसके अन्तर से उसे साक्षात्कार दिलाता है। नामरूपात्मक होनेपर भी वहाँ आचार, वहाँके सर्व कर्म नामरूपात्मक भगवत्ज्ञानस्वरूप रहते हैं। उसका संपूर्ण व्यवहार केवल ज्ञानरूप होनेके कारण वहाँ कर्म नहीं होते। कर्मका शब्द भी कहीं सुनाई नहीं देता। वहाँ शुद्ध ज्ञानका अखंड एकरस आविष्कार है। वहाँ ज्ञानानंदही है। ज्ञानका अमृतरूप संवेदन वहाँ प्राप्त होनेके कारण एकक्षण के लियेभी वह ज्ञानसंवेदना अननुभूत नहीं रहता। ज्ञानकी सर्वात्मकता तथा ज्ञानरूपता का सहजाविष्कार होनेसे जहाँ साक्षात् परब्रह्म का निवास अनुभव किया जाता है वह मनुष्य सचमुच पांडित्य से भी बढ़चढकर हो जाता है। उसने पांडित्य से भी स्पर्धा की और विजय पा ली। वह भगवत्स्वरूप का ज्ञान सर्वथा विलक्षण प्रभावकारी तथा सर्वश्रेष्ठ है। वह ज्ञान ज्ञानकोही पाता है। वही केवल है, ब्रह्म है, परब्रह्म है। मनकी माया वहाँ नहीं रहती, वह किसीको नहीं भुला सकती। चित्त श्रीगुरुके आशीर्वाद तथा

कृपाके कारण निर्भय हो जाता है वह पांचभौतिक झंझटमें, मायिक विलास में फँस नहीं जाता। वहाँ मनही देवताभाव को अपनाता है। उसने अपने संकल्पात्मक विकार, प्रत्यक्ष संकल्प भी त्याग दिये। उसकी कामना नष्ट हुई। उसकी इच्छाएँ, वासनाएँ, लोभ मोहादि सभी विकार उससे अलग हो गये। वह कामनारहित तथा निःसंकोच बन गया। अतः ज्ञानसूर्य का उदय होना स्वाभाविक है। उसके तेजमें सबकुछ विलीन हो गया। अब जो कुछ रहा वह मनुष्यरूप परब्रह्म ही!!

केवल पांडित्य एकप्रकार वाक्जल्पन है। उसमें बुद्धिकी प्रतिष्ठा बढाने का प्रयास है। वहाँ बुद्धिकी महत्ता परिलक्षित है। बुद्धिके परमसिद्धान्त की कल्पना प्रकृति मे निहित है। बुद्धिका यह महात्म्य ईश्वरस्वरूप को भुला देता है। वह तो प्रकृति में रत रहती हैं। ईश्वरीयता की प्रतोति उसे नहीं भाती। पांडित्य का, केवल बुद्धिमान होनेका यही बडा भारी दोष है। प्रकृति सदैव त्रिगुणात्मक संसार के निर्माण में व्यस्त है। वह तो बार बार अपनाही आवरण पहना देती है। बार बार जन्म दिया करती है। देहात्मबुद्धि के द्वारा होनेवाला यह महान् विपर्यास है। देहबुद्धि की यह गृहस्थी सिरपर लेकर आदमी सदाके लिये परतन्त्रसा रहा है। उस बोझ से वह दब गया है। उस अवस्थामें मनुष्य की मनुष्यता ही देखी जाती है। उसमें देवताभाव की जागृति नहीं। मनुष्य में स्थित देवत्व वहाँ तिरोहित रहता है। उसके द्वारा स्थूल

देहकोही अपनाया जाता है। परिणामस्वरूप व्यक्ति परतत्त्व--स्पर्शसे वंचित रहता है। वह तत्त्वको नहीं पहचानता, सार को स्वीकार नहीं करता, असार को छोड नहीं देता। अतः खाली ईशसृष्टि का कौतुक, स्तुति करती हुई बुद्धि अपने भ्रममें मग्न रहती है। बुद्धिकी श्रेष्ठतामें प्रकृति स्वरूप का कुछ परिचय जरूर हो जाता है किन्तु उससे काम नहीं हो सकता। वहाँ वासना का अनादि स्वरूप उसे कष्टकारी होता है। वासनासे उसका पिंड नहीं छूटता। अतः उसकी हार हो जाती है। फिर कर्मकी नैष्कर्म्यता कहाँ? कहाँ है वह नामयज्ञ? कहाँ वह विश्वात्मक प्रतीतिका सगुण साक्षात्कार? इन्हींसे वंचित रहकर मनुष्य अपनीही गृहस्थीमें, अपनेही झंझट में फँस जाता है। वहाँ देहबुद्धिका बोझ उसे मुक्त, स्वतन्त्र, भाररहित नहीं बना देता। वहाँ विकारवशता है। 'मैं' और 'मेरे' की परिधि में वह व्यक्त है। उसे और कुछ सूझता नहीं, वह और कुछ चाहता नहीं। प्रवाहपतित सा होकर वह अपनी जिंदगी बसर करता है। उसकी देहबुद्धि परतत्त्व की ओर नहीं संकेत करती। वह अपने स्थायीभाव को नहीं अपनाती। महत् का यह तत्त्वशून्य पांडित्य केवल शब्दानुगामी रहता है, उसमें शब्द के साथ अनुभवसंपन्नता नहीं। उसका पांडित्य तथा उसकी पुराणस्थिति उस नित्यनूतन सर्वसाक्षी को अलक्षित करती है। स्वभावजन्य ज्ञानकला को बुद्धि नहीं अपनाती। पंडित शब्दमें केवल पांडित्य नहीं, उसमें नैष्कर्म्य-योग के साथ आत्मानुभूति का भी योग है। जिसकी बुद्धि

आत्मानुभूति में लीन है वही सच्चा पंडित है। किन्तु जहाँ केवल शाब्दिक जल्पन है, केवल बौद्धिकवाद है वहाँ ब्रह्मरूपता का ब्रह्मत्व स्वीकृत नहीं होता। वहाँ पांडित्य का अभिमान है, आत्मानुभूति का नहीं। यह तो सचही है कि आत्मानुभूति के बाद अभिमान भी नहीं रहता। विश्वकी विविधता तथा अनेकता, जीवन की विविध कलाएँ तथा आविष्कार आदिमें एकात्मता का अनुभव परिचित नहीं। किन्तु जब यही थक जाता है, अनेकत्व से ऊब जाता है, तब सहजता श्री गुरुकी कृपासे उदित हो जाती है। इसी सहजता में स्वाभाविक आत्मीयता तथा एकता निहीत है। उसके लिये श्रीगुरु की कृपाही नितांत आवश्यक है। प्रपंच का यह प्रचंड व्याप, उसकी अनेकांगी विविधता तथा उसके अनुभवरहित व्यवहार को नियमित करके सहजता निर्माण करने का महान् योग श्रीगुरु के सिवा अन्य किसीको संभव है? श्रीगुरु ही केवल समर्थ है और कोई नहीं। वेही ब्रह्मपद की प्राप्ति दिला सकते हैं। अतः आवश्यक है कि श्रीगुरुका ही स्मरण करते रहें, उन्हेंही बार बार नमन करे, उनके सामने नम्र रहें, जिससे भजन, नामस्मरण आदि के द्वारा मनकी अधिनता पायी जावेगी। एकताको स्थिर करनेवाला, अंतर्निहित नामस्मरण जब स्थिर हो जायगा तभी यह 'रामनाम' प्रत्यक्ष परब्रह्म की सत्ता को परिचित करायेगा। वहीं उस परमात्म-स्वरूप की भेंट है ॥१०४, १०५॥

त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित् करोति सः ।।२०।।

अर्थ :– यद्यपि वह कर्म में प्रवृत्त सा दीखता है किंतु वह वस्तुतः कुछ भी कर्म नहीं करता । वह सचमुचही कर्म के प्रति निरभिमान है, फल के प्रति निरासक्त है साथ ही नित्यसंतुष्ट तथा नित्यतृप्त रहता है । वह किसी भी प्रकार के आश्रय की इच्छा नहीं करता ।

जो शरीरीं उदासु । फळभोगीं निरासु ।
नित्यता उल्हासु । होऊनि असे ।।१०६।।
तो संतोषाचा गाभारा । आत्मबोधाचिया वोगरा ।
पुरे न म्हणे धनुर्धरा । आरोगिता ।।१०७।।

अर्थ :– जो देहके प्रति उदास है, फल के उपभोग के बारेमें निरीच्छ है और सदैव उल्हसित रहता है– हे अर्जुन ! वह संतोष के मध्यगृह में आत्मबोध का भोजन परोसते समय "बस हुआ, बहुत हुआ," ऐसा कभी नहीं कहता ।

व्याख्या :– उसकी देहधारणा किसी अन्य हेतुसे नहीं रहती । वह केवल औपचारिक, उपास्तियुक्त है । वह जो देहका आश्रय स्वीकृत करता है वह किसीभी प्रकार की ममत्व भावनासे नहीं । वह सचमुच औपचारिक, सहज तथा अनायास ही है । उसकी प्रेरणा बहिर्मुख नहीं । उसकी लगन आत्मदर्शन के लिए रहती है । वह जो देहधारणा में है वह सहजही प्राकृतिक भावोंके अनुसार है । अपने कर्तव्य कर्मोंकी ओर उसकी निःस्पृह दृष्टि है । कर्तव्य करते समय उसे फलाशा

नहीं। उसका कर्तव्य आत्मभाव के आविष्कार का साधनमात्र है। इसीसे उसे वह प्रिय रहता है। अपनेही नामरूपादि की व्यवस्था वह उस कर्तव्य में देख पाता है। वहीं उसे आस्था निर्माण होती है तथा वह रम जाता है। उसे अन्य किसी की ओर देखने की जराभी आवश्यकता नहीं। 'स्वान्त:सुखाय' उसकी जीवनी आत्मरूप होकर बितायी जाती है। वह स्वयं परतत्त्व का साक्षात्कारी है। उसके नामरूप उस असीम का एक सगुण आविष्कार मात्र हैं। अत: उसके लिये आत्मावलंबन, स्वावलंबन सहजही है। इसीसे वह अन्योंके लिये सच्चा मार्गदर्शक है। वहीं किसी भी प्रकार की बुरी बात नहीं होती। उसकी श्रेष्ठता, सर्वथा सर्वमान्य तथा सन्माननीय है।

वह सर्वथा उदासीन है। वह निरभिलाष रूपसे कर्म करता है। उसके कर्म निष्काम होते हैं। कर्मोंके फलके बारेमें वह सर्वथा उदासीन है। फलभोग में न उसे रुचि है न उसकी उस संबंध में लगन? फलोंके पीछे वह कभी नहीं दौडता। उसे उनकी प्यास तनिक भी नहीं। वह हमेशा उल्हसित है। वह कर्मभोग के लिए कभी अपनी आत्मभावना, योगभूमिका नहीं छोडता। यद्यपि कर्मभोग उसे प्राप्त होते हैं तोभी वह उनकेप्रति निरतिशय आस्थारहित है। संतोषरूपता उसका सहज स्वभाव बन जाता है। संतोष के क्षितिजपर उसकी हमेशाही उदितावस्था है। संतोष के बारेमें उसका कभी अस्त नहीं। संतोष के साथ आत्मज्ञान का भोजन उसे प्राप्त है। जो उसे रसोई परोसते हैं उन्हें वह मना नहीं करता।

आत्मज्ञान का पक्वन्न उसे प्राप्त होनेपर वह क्योंकर अन्य पदार्थों के प्रति आस्था दिखलायेगा ? उसका घर है संतोषरूप आनंद का। वहाँ संतोष तथा आनन्द का नित्य निवास है। इसी कारण उसे प्रफुल्लता छोड कहीं नहीं जाती। आत्मज्ञान, संतोष तथा आनन्द के कारण वह सर्वदा प्रसन्नतासे ओतप्रोत है। आत्मज्ञान का परितृप्ति दिलानेवाला भोजन उसे प्राप्त होनेके कारण वह पूर्णतया संतुष्ट है। मन अतीव प्रसन्न है। ज्ञानामृत का निरन्तर भोजन सेवन करने में वह लगा हुआ है। कभी बस नहीं कह देता। उसीमें वह रम गया है। ज्ञानरूप दिव्यौषधि प्राप्त होनेके कारण वहाँ देहसंग या देहात्मभाव सहजही दूर हो जाता है। ज्ञानरूपता के कारण वह रह नहीं सकता। उससे प्रसन्नताही प्रसन्न हो जाती है। तृप्ति परितृप्त होती है। मन की निरतिशय शांति वहाँ अपनायी जाती है। मानो अमृतसागरमें ही मनने प्रवेश किया हो। किसी भूखे आदमी को यथेच्छ भोजन प्राप्त होनेपर जो आनन्द, तृप्ति या प्रसन्नता प्राप्त होगी वही या उससे बढ़कर यह योगसंपन्न व्यक्ति पाता है। तृप्ति के कारण मन शांत है, शांतता के साथ प्रसन्नता है, प्रसन्नता उल्हास को बढा रही है। उस आत्मानुभूति का सुख क्या कहने योग्य है ? वह तो जीव की शिवरूपता है। वह एकात्म रसलीनता है। जहाँ यह मुलाखात होती है वहाँ निःसंशय सामरस्य की स्वरूपानुभूति है जो कही नहीं जाती। नींदसे जागृत हुआ व्यक्ति कह देता है कि मैं जागृत हुआ हूँ। बस इतनाही ! यही कहना पडता

है और इतनाही कहा जाता है। श्रीविठ्ठल का प्रेमरूप दर्शन जिसने पाया सौवार वह धन्य हुआ। उसके सभी संकट, दुरित नष्ट होगये। उसे पानेका कुछ भी नहीं रहा ॥१०६, १०७॥

**निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्त सर्वपरिग्रहः।**
**शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥**

अर्थ :– जो आशारहित है, आत्मा तथा अंतःकरण जिसने जीत लिया है, तथा सभी प्रकार की उपाधियों को जिसने दूर किया है, और जो केवल देहधारणा के लिये कर्मोद्यत है, उसे किसी भी प्रकार कर्मबंध नहीं है।

कैसि अधिकाधिक आवडी। घेतां महासुखाची गोडी।
सांडोनिया आशा कुरोंडी। अहंभावेसी ॥१०८॥

अर्थ :– आत्मबोध के महासुख का अधिकाधिक आस्वाद लेते हुए वह अहंता के साथ आशा को सर्मपित करता है।

व्याख्या :– वहाँ सुखही मानो सुखको मिलने आया। सुखही महत् सुखको प्राप्त हुआ। उसके बारेमें कहा नहीं जाता। वह व्यक्ति महान् सुखको अपनाये रहता है। उसके पास अब देहभाव या अहंभाव नहीं हो सकता। उसके साथ आशा को भी उसने ब्रह्म पर न्योछावर किया। वह ब्रह्मसुख का आस्वाद लेनेमें मस्त है। उसे किसीभी प्रकार की आशा नहीं रही। वह मूलतः नष्ट होचुकी। या उसने अपनेको विसर्जित किया। ब्रह्मसुख की नित्यनूतन रुचि अनुभव करता हुआ योगी उसे उत्तरोत्तर वर्धिष्णु बनाता है। साथही उसकी

माधुरी जहाँसे निर्माण होती है वह भी मधुर तत्त्व है। अतः यह चाहिये, वह चाहियें ऐसी आशा की भाषा वहाँ नहीं है।
॥१०८॥

म्हणौनि अवसरे जें जें पावें। किं तेणेंचि तो सुखावे।
जया आपलें आणि परावें। दोन्हीं नाहिं ॥१०९॥

अर्थ :– अतः प्रसंगवश जो कुछ प्राप्त है, उससे वह सुखी बन जाता है, उसे अपना–पराया का भेद हैही नहीं।

व्याख्या :– सहजही संतोषका सुख उसे प्राप्त हुआ है। उनकी कृपा उसपर प्रसन्नता की बारिश कर रही है। अतः उसे अपना प्रपंच नहीं, परिवार नहीं, परिजन नहीं। वह स्वयं विलोभनीय है, अर्थात् उसका अपना लोभ नष्ट हो गया है। उसके पास अब अपरिग्रह है। किसी भी प्रकार का संग्रह वह नहीं करता। उसकी उसे कतिपय जरूरी नहीं। वहाँ यह मेरा और वह पराया ऐसी भावना नहीं। अपने परायेका भेद उससे मिट गया है। वह सर्वात्मक हो गया है और सबोंके प्रति उसके मनमें आत्मीयता है। उसका प्रेम इस प्रकार सर्वात्मक हो गया है। वहाँ कर्म, लेन देन ये सभी उसी एक चैतन्यके ही विलास हो गये हैं। ये कर्म उसके अपने नहीं रहे। अतः वे भी ब्रह्मरूप बन गये हैं। उसके त्रिविध ताप सर्वदा सुखकारी हो जाते हैं। उस सत्ताका एकमात्र स्वरूप है प्रेम। उसकी भावना प्रेमरूप है। सत्ता, ज्ञान तथा कर्म तीनों बातें उसके लिये उसी परमसत्ताके, सगुणब्रह्म के विलास बन जाते हैं। देहक्रिया उसके लिये केवल कर्म नहीं वह भी

उसीके आविष्कार सी हुआ करती है ॥१०९॥

तो दृष्टि जें पाहे । तें आपणचि होऊनि जाये ।
आइकतें आहे । तोचि जाला ॥११०॥
चरणि हन चाले । मुखें जें जें बोले ।
ऐसें चेष्टाजात तेतुलें । आपणचि जो ॥१११॥

अर्थ :- वह जो कुछ देखता है, वह वही रहता है (द्रष्टा तथा दृश्य एकरूप होते हैं) जो कुछ सुनता है वह श्राव्य भी वही है ।

पैरोंसे चलना, मुँहसे बोलना आदि सभी क्रियाकर्म वही स्वयं बन जाता है ।

व्याख्या :- वहाँ सुननेवाला भी वही है बोलनेवाला भी वही है । मनके सभी व्यापार उसीके द्वारा मानो नियन्त्रितसे हो गये । जो दृष्टिसे देखा जाता है वह द्रष्टव्य भी वही है। द्रष्टा तथा दृश्यके बीच अब भेदही नहीं । श्रावक तथा श्राव्य के बीच भी यही एकात्मता है । उसका चलना, उसका बोलना आदि जो व्यापार हैं, वे सभी उसकी ब्रह्मरूपता के कारण आत्माविष्कार के हैं। वहाँ सर्वत्र–आत्मीयता का दर्शन है। भक्तिप्रेमरस का साक्षात्कार परतत्त्वकी अनुस्थिति में संपन्न है । उसकी महिमा क्या वर्णन की जा सकती है ? आत्मविकास की आत्मा है भक्ति । भक्ति के अन्तर में निहित है परमप्रेमरूप जो सचमुच आत्माका स्थायीभाव है ॥११०, १११॥

हें असो विश्व पाहि । जयासि अपणावांचुनि नाहिं ।
आतां कवण ते कर्म पाहि । बाधि तयातें ॥११२॥

अर्थ :- तिसपर यह विश्व भी उसके सिवा और कुछ

नहीं। फिर किस प्रकार का कर्म उसे बंधक है ?

व्याख्या :– वह संपूर्ण विश्वमें व्याप्त होनेके कारण विश्वरूप होगया है। विश्वके बृदहाकार कर्ममें भी सामरस्य की प्रगाढ अनुभूति वह अपनाता रहा है। अतः वहाँ कर्म तो रहा भी नहीं। इस प्रकार सर्वसाक्षीभूत होकर अपनी आत्मरूपता के कारण विश्वात्मक बन गया। वही आत्मा है। वही सचमुच ब्रह्म है ।।११२।।

**यदृच्छा लाभसंतुष्टो द्वंद्वातीतो विमत्सरः।**
**समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ।।२२।।**

जो कुछ प्राप्त होगा उससे संतुष्ट होनेवाला, द्वंद्वातीत, निर्मत्सरी, प्राप्त तथा अप्राप्त के प्रति समबुद्धि रखनेवाला कभी बद्ध नहीं हो सकता फिर चाहे वह कर्म करे–।

हा मत्सर जेथ उपजे। तेतुलें नुरेचि तया दुजें।
तो निर्मत्सर काय म्हणिजे। बोल कीर (वरि)।।११३।।
म्हणोनि सर्वाहिपरि मुक्तु। तो सर्व कर्मचि कर्मरहितु।
सगुण परि गुणातीतु। येथे भ्रांति नहीं ।।११४।।

अर्थ :– जहाँ मत्सर है वहाँ द्वैत भी। किंतु उसके (कर्मयोगी के) पास द्वैत की वह परायी भावना कहाँ ? केवल कहने मात्र के लिये क्या हम उसे निर्मत्सर कहें ? अतः वह सर्वतोपरि मुक्त, सभी प्रकार के कर्मबंध से मुक्त, फलेच्छारहित कर्ता सगुण होकर भी त्रिगुणातीत है, इसमें संदेह नहीं।

व्याख्या :– यह मत्सर सर्वथा विचित्र है। उसे सचमुच असत्यही कहना चाहिये। वह असंतही है। वहाँ मत्सर के

कारण अवगुण रहा करते हैं। गुणोंकी भर्त्सना होती है। आत्मानुभूति में मत्सर को कहीं जगह नहीं। वह सचमुच एक बडा विकार है। आत्मानुभूति में अवगुण रह नहीं सकते। वे सर्वथा दंडनीय हो जाते हैं। गुणी मनुष्य की वहाँ पूजा की जाती है। सद्‌गुणों के प्रति अतीव श्रद्धा तथा पूज्यभाव वहाँ निर्माण हो जाता है। इसके विपरित मत्सर के कारण आदमी ऊब जाता है। उसे सद्‌गुण दीख नहीं पडते। मानव का आलस्य वहाँ साधुसज्जनों को भी कष्टकारी हो जाता है। वहाँ समय गँवाया जाता है। श्रद्धाहीनता के कारण संदेह की सृष्टि निर्माण हो जाती है। अकारण परीक्षा लेनेमें सब मग्न हो जाते हैं। यह मत्सरही एक है जो इस प्रकार कुटिलता, कटुता ला देता है। वह कुटिलता वह आलस्य मानव को विकारवशही बनायेगा। साधुसज्जनों ने यह पहचाना है। उनकी श्रद्धा तथा भक्ति अनन्य होनेके कारण यह आलस्य भी विकाररहित हो जाता है। उसकी ब्रह्मानुभूति में बाधा नहीं पहुँचती। अश्रद्ध मनुष्य अपक्व अन्नके समान है। उसमें न परिपूर्णता है न पूर्णता की श्रद्धा है। वह मत्सरग्रस्त होकर अपनाही पृथक्त्व आगे चलाया करता है। उसके हाथसे क्या होगा? वह कैसी सफलता अपनायेगा? पकाया हुआ अन्न तथा अपरिपक्व अन्न दोनोंमें स्वाभाविक फर्क है। रुचि, गुणवत्ता तथा पाचकता आदि की दृष्टिसे उनमें काफी अन्तर है। वैसेही अश्रद्ध मनुष्य तथा श्रद्धावान् ज्ञानीके बीच महान् अन्तर है। अतः यहाँ मत्सर का त्याग

होनाही चाहिए। उसको अपनानाही होगा। अन्यथा बुद्धि हिंसाके पीछे छिपती है। श्रद्धाका मार्ग रोका जाता है। उसका अपना राजमार्ग जो योगानुभव वह छोडकर वह केवल विकारवश बनी रहती है। उसकी आत्मप्रकाशक सगुणता जाडयको अपनाती है। यह अर्थात् अनुचितही है।

इस मत्सर को व्याप्त होनेके लिये कई जगह हैं। वह भी अपना आसन बखूबी जमाया करता है। अनेक जगहों को अपने अधीन कर लेता है। मत्सर तथा परिग्रह के बीच विशेष प्रकार का संबंध देखा जाता है। जो हमारे पास नहीं उसकी चाह पहले पहल निर्माण होती है। जिसके पास हमारी इच्छित वस्तु दिखाई देती है उसके बारेमें हमारे मनमें मत्सर सा पैदा होता है। फिर वह उस वस्तुको हथियाने का प्रयास करवाता है। इसीमें 'परिग्रह' जन्म लेता है। आमतौर पर यह देखा करता है। प्रपंच में परिग्रह की विलक्षण मान्यता है। मत्सर के कारण वह भूषणरूप बन जाता है। उसकी महत्ता इस प्रकार हरहमेश बढ़ानेका प्रयास होता है। वहाँ फिर लेनदेन का महत्त्व बढ़ता है। देनेवाला और लेनेवाला दोनोंमें पृथकत्व हैही। वहाँ मनकी जागृति न होनेपर आदमी अपने आप फँस जाता है। देनेवालेमें दाता का अभिमान है, लेनेवाला याचक बन श्रद्धाहीन हो जाता है। अतः दोनों के मनमें आत्मीयता संपन्न नहीं होती। एक प्रकार मत्सर का आतंक, डाँटही निर्माण हो जाती है। यह डाँट जीवदशा को दबाये रखती है। न वहाँ तृप्ति होती है न गुणातीतता आ

जाती है। पृथक्त्व के अभिमान से प्राकृतिक नामरूप लिंग आदिमें ही व्यक्तित्व फँस जाता है। वहाँ आत्मसंवेदन को अवकाशही नहीं रहता। मत्सरकी यह विलक्षण दाहकता आदमी को सदैव जलाती रहती है। वह तो अपनाही महत्त्व बढाता है। इसीसे जीवात्माको ही मानो भुना जाता है। उसकी अभिव्यक्ति, उसकी स्वयंप्रकाशता रहती नहीं। उसका मुख, उसका तत्त्व तथा उसकी विद्यमानता पूर्णतासे ढ़ँकी जाती है। वहाँ मानो लेनदेन का व्यवहार ही शुरु हुआ हो। एक नयी साहुकारी निर्माण हुई हो। मत्सररूप साहुकार के यहाँ समूचा जीवित्वही गिरवी रखा गया। किसी अनामत वस्तुको अपने यहाँ रखकर साहुकार उससे पूरा पूरा लाभ उठाता है, वैसेही यहाँ मत्सर के द्वारा परिग्रह निर्माण होकर वह डाँट देकर जीवदशा की आत्यंतिक दुर्दशा निर्माण करता है। वहाँ उसका परिपूर्ण स्वाहा हो गया हो। परिग्रह के कारण जीवात्मा का भोग हट नहीं सकता। वहाँ जीवन में न संस्कार है न संस्करण न परिवर्तन!! गृहमें पावित्र्य, शुचिता, संस्कार आदिका महत्त्व अनन्यसाधारण है। किन्तु यहाँ क्या? संस्कारिताही यहाँ गिरवी रही। यज्ञरूप उपजीवन नहीं रहा। यज्ञ के लिये जोवन नहीं रहा। वह केवल परिग्रह का गुलाम बन गया। हाथ पसारने का यह लोभ, यह याचना की वांछा, यह मत्सर की परिग्रहता वस्तुतः तत्त्वहीन जीवनका अर्थशून्य उपभोग है। कामना, वासना, लोभ, मोह में फँसे हुए जीवन की यह भीषण नाटिका है। वस्तुतः देने देनेमें भी फर्क है और लेने लेनेमें भी उससे बढ़कर! किसी पुण्यकर्म के कारण

दक्षिणास्वरूप कुछ देनेके लिये तैयार होना, या सामने आये हुए किसी बैरागी, जती, याचक को देनेके लिये तैयार होना उन दोनों में निःसंशय फर्क है। साथही जिसे सहजतासे दानकी ओर झुकाव है वह जिस प्रकार कुछ दे देगा वह स्वाभाविक, संस्कारयुक्तही होगा। मनुष्यका ही जीवन ऐसा है कि जहाँ जन्मने के पूर्वसे तथा मरने के बादभी कुछ संस्कार अत्यावश्यक माने गये हैं। विवध संस्कारों द्वारा जीवन की स्वाभाविक सत्कर्मप्रवृत्ति जगानेका ही यह प्रयास है। इन षोडश संस्कारों का इसीलिये महात्म्य माना गया है। यहाँ जो संस्कारयुक्त जोवित उसका महत्त्व कम करने का प्रयास 'परिग्रह' के द्वारा किया जाता है। जीवित की महत्ता परिग्रह में नहीं किन्तु वहाँ सुननेवाला कौन है? परिग्रह की डाँट बडी प्रभावकारी होती है। वस्तुतः जीवन के प्रारम्भ में जीवित का जो भार–बोझ स्वीकार किया जाता है वह अकारण, हेतुशून्य तथा केवल खेल नहीं। उसके पीछे एक विशिष्ट हेतु है, एक सुनिश्चित संकेत है। जीवदशा की उत्क्रांत आत्मानुभूति अपनानेका वह मार्ग है। वह सर्वथा योगात्मकही होना चाहिये। मनुष्यधारण इसी गहन अर्थके लिये है। वहाँ आत्मवाचक नामकाही उपजीवन अपेक्षित है। वही सच्चा आधार है। 'पुरुषार्थ' ही वहाँ जागृत होना चाहिये। वह 'पुरुष' तत्त्व अपने अधिष्ठान में 'प्रकृति' के कर्म द्वारा अपने अर्थकी अभिव्यक्ति करने का प्रयास करता है। वहाँ यज्ञव्यवस्था पुरुषतत्त्व के साक्षात्कार के लिये व्यवस्थिति ला देती है। हमारा यह संपूर्ण जीवन एक प्रकार उस परमतत्त्व की देन

है। उसके बदले में हमें उसका साक्षात्कार कर लेना चाहिए। यज्ञके द्वारा एक निरभिलाष तथा भोगमुक्त जीवन जीने की साधनाही है। अन्यथा लोभ कहीं थका नहीं, वह कभी दबा नहीं। परिग्रह की माया तथा परिधि बढ़तीही जाती है। उससे संस्कारयुक्त जीवन की तपस्या विफल हो जायेगी। जीवित अर्थशून्य, पुरुषार्थरहित बन जायेगा। उसपर परिग्रह की जबर्दस्त डाँट नहीं रहती चाहिये। परिग्रहसे पिंड छुडाने के लिये 'गुरुप्रेम' अत्यन्त महनीय उपाय है। उसको अपनाना तथा ब्राह्मण्यका विशेष पूज्य आचार स्वीकार करना चाहिये। शमदमादि द्वारा परिग्रह की प्रेरणा ढ़िली कर देनी चाहिये। फिर यज्ञोपजीवन यथान्याय होता रहेगा। उसके द्वारा ही यह परिग्रह उसकी जबर्दस्त प्रेरणा, उसका तनाव तथा उसके पीछे छिपा हुआ रहस्य अपने आप खुल जायेगा। वहाँ धर्मधारणा ध्येनिष्ठा के साथ अपनानी होगी। उसका सत्कारपूर्वक व्यवस्थित अनुष्ठान होना निरतिशय कल्याणकारी होगा। उससे यह संपूर्ण जीवन अपरिग्रह में परिणत होगा। परिग्रह से पिंड छूट जायगा। जीवन में सच्ची मैत्री, करुणा उदित हो जायेगी। अगर हम लोभमें ही फँसे रहेंगे तो फिर जीवन में उपासना न के बराबर रहेगी। वहाँ देहबुद्धि बराबर बनी रहेगी। उसके द्वारा जीवन एक निरर्थक बोझ बन जायेगा। देहात्मकता के साथ त्रिगुणों की पिपासा बढ़तीही रहेगी। त्रिगुणों का महात्म्य स्थिर रहेगा। जीवन एक अविकल, न वुझनेवाली प्यास बनी रहेगी। इसके विपरित स्थिति

अपरिग्रह में हैं। वहाँ जीवन साधनामय है। देहबुद्धि की परिधि बहुत बडी नहीं रहती। त्रिगुणों की सृष्टि अपने ही विकास में अब मग्न नहीं रहती। त्रिगुणों के द्वारा त्रिगुणातीत होनेकाही उपाय सुझाया जाता है। सगुण साक्षात्कार की पहली सीढी है वैराग्य। वैराग्य का उदय अपरिग्रह का अस्त्र है। वैराग्य तथा श्रीगुरुसेवा का अनुपम मार्ग यहाँ दिखाया जाता है। जीवित का आधारभूत संकल्प तथा सूक्ष्म और कारण देहकी तिरोहित गति अब रुद्ध हो जाती है। उसे अपने मार्गपर लाया जाता है। साधना के द्वारा जीवन का संकल्प सत्संकारयुक्त तथा पुरुषार्थप्रेरित हो जाता है। प्रापंचिकों का महत्त्व तथा योग्यता इस प्रकार साधनायुत होनेमें है। जब यह अनुष्ठान होता रहता है तब संभव होता है कि श्रीगुरु के द्वारा पावन आशीर्वाद प्राप्त होंगे। वह मानो किसी बैरागी की भिक्षा है जो बैरागी हमें देता है। भिक्षा हम बैरागी को देते हैं किन्तु यहाँ सर्वथा विपरित है क्योंकि हमारी भिक्षा उस परतत्त्व के संपन्न साक्षात्कार का मार्ग नहीं। वह जो हमें देता है उसकी बराबरी नहीं हो सकती। हमें अपनी योग्यता की पहचान नहीं होती, अतः हम कुछ देनेमें महत्ता अनुभव करते हैं वह वस्तुतः भूलही है। हम क्या देते हैं ? जो देते हैं वह सर्वथा असार, अहंतायुक्त, ममत्व भावसे ओतप्रोत। न वहाँ त्याग है, न दान न बोध। किन्तु हम अपनाही महत्त्व, अपनाही नामरूप बढाने के पक्षमें हैं जो अनुचितही है। अतः प्रापंचिकों को चाहिए कि वे अपनी गृहस्थी की समस्या ठीक ठीक रूपसे समझ लें। वहाँ सचमुच

क्या समस्या है और उसपर क्या उपाय है यह भी ध्यान में लें। उनकी व्यवस्थिति अपनायी जाय। उनका महत्त्व ठीक रूपसे समझ लिया जाय। तथा प्रापंचिक परिग्रह में फँसता है। परिग्रहरूप साहुकार पैसेके फन्दोंमें आ जाता है। उसे पैसेकी कीमत है। वह संग्रह करने के सिवा और कुछ नहीं चाहता। परिग्रह का यही बडा भारी दुष्परिणाम है कि उसके पीछे कुछ सद्‌हेतु नहीं। अन्यथा वह पैसेमें ही पडा नहीं रहता। जब सज्जन परिग्रह करते हैं तब उनकी भावना स्वार्थ की नहीं। उनका परिग्रह दानके लिये है, त्यागके लिये है। वहाँ वस्तुतः तपश्चर्याही संपदा हो जाती है। उसीका परिग्रह अभिप्रेत रहता है न कि पैसोंका। प्रसंगवश धनका परिग्रह हो भी सकता है किन्तु वह परोपकार के लिये। उनकी संपदा स्वधर्म सेवाके लिये है। स्वधर्माचार के द्वारा हरेक को विभूषित करनेका यह प्रयास है। स्वधर्मकी सेवा, स्वभाव की सहजता तथा संपदा का स्वार्थशून्य उपभोग यहाँ अनुस्यूत है। अतः यहाँ जो आचार हो जाता है वह यज्ञानुष्ठानही है। यहाँ यज्ञोपकरण हैं इन्द्रिय। उनको शमदमादिसे संयमित किया जाता है। यथाशास्त्र आचार यही अनुष्ठान है। उसीके द्वारा तप रूप 'संपदा' अपने आप–सिद्ध होती है। उससे परिग्रह होता है किन्तु उसकी डाँट या विवशता नहीं होती। वहाँ धर्मोदय है, जीवन की सच्ची धारणा है। वही अग्रसर होता है और संयमादि के द्वारा यथाधर्म आचरण तथा अनुष्ठान संपन्न कराता है। मनुष्य के जीवन को उस ईश्वरका

शोभनीय अलंकारसा बना देता है। वह आभूषण बन जाता है। उसकी संपदा तपरूप अनुष्ठान की है जो उसमें परिग्रह के बदले देवताभाव जागृत कराती है। उसे कभी कुछ कम नहीं। उसका जीवन सर्वथा सफल, संपन्न तथा आदरणीय हो जाता है। इसके विपरित वासना के गहनत्वमें डूबे हुवे प्रापंचिकों को कोई चारा नहीं रहता। वासना तथा विकार उन्हें ऊपर नहीं उठने देते। उनका अनुष्ठान स्वार्थरहित निष्काम नहीं होता। उन्हींके द्वारा किये गये आक्रमणों के कारण ब्राह्मणत्व की हर क्षण हारसी हो जाती है। वहाँ परिग्रह का आतंक विलक्षण प्रभावकारी हो जाता है। उसका अपना महिमान बढता है जो निष्काम साधनामें सर्वथा बाधक हो जाता है। परिग्रह का यह खुला रहस्य, उसकी असली नीति इसीलिये यहाँ स्पष्ट की गयी।

यहाँ सर्वथा आवश्यक है कि हम श्रीगुरुकी शरण में जायें। श्रीगुरुकी सेवा परिग्रह पर सबसे श्रेष्ठ उपाय है। संतसज्जनों की संगति तथा उनका आशिष सेवाकी महिमा बढाता है। श्रीगुरुके द्वारा दिया जानेवाला प्रसाददान त्र्यैलोक्य से भी अधिक महत्वपूर्ण है। उसकी कीमत कही नहीं जासकती। वह अत्यन्त अमूल्य है। उनके प्रसाद के कारण यज्ञकी जड पहचानी जाती है। उसकी मौलिकता का परिचय होता है। यज्ञोपजीवन के लिये जो परिग्रह आवश्यकसा बताया जाता है उसकी संस्थिति श्री गुरुके उपदेशद्वारा स्थिर है। यहाँ परिग्रह साहुकार रूप नहीं बन जाता। उसका लोभ, उसकी संग्राहकता

मर्यादित रहती है और जो भी कुछ होती है वह स्वार्थरहित हो जाती है। इसके विपरित जिन्होंने इस भौतिक महत्ता का मार्ग अपनाया, जो केवल लौकिक श्रेष्ठता चाहते हैं, जिन्होंने अपना समूचा जीवन इसीके परिग्रह में परिणत किया उन्होंने सेवा, श्रद्धा तथा ज्ञान को दूर ढकेला। उनके जीवन में आधारशिला नहीं रही। वे केवल भौतिक बडप्पन के पीछे दौडते रहे। उनका जीवन प्राकृतिक शून्यता पर अवलंबित रहा। वह 'अभाव' ही सब कुछ है। उन्होंने इसीमें अपनेको खो दिया। उनके जीवन में प्रेरणा अब शून्यवत् बन गयी। कैसा उनका दैव ? कैसा उनका आश्रय ? किस प्रकार वे ईश्वर के ऐश्वर्य को पा सकेंगे ? वे तो शून्यके अंधेरे में सो गये हैं। उन्हें तमोनिद्रा है। उसीमें स्वारस्य है। किन्तु जब यह मोहनिद्रा नष्ट होती है, तब तमोगुण से व्याप्त इस अन्धेरे में चहलपहल दीख पडती है। वह निद्राका रूप अब नहीं रहता। वह स्वाँग सर्वथा हास्यास्पद बन जाता है। जो पुरुषतत्त्व वहीं निद्रामें मानो अभिभूतसा रहा है वही अब चेतनशील होनेके मार्गपर आजाता है। वह अपना घुँघट दूर करने के विचार में रहता है। वहाँकी शून्यावस्था उसे भी जंचती नहीं। अब शून्य मानो उलट गया। उसका परिवर्तन महत्त्वपूर्ण है। पुरुषार्थ की गहनता अब उसे स्वीकार्य है। अर्थकी व्यापकता वहाँ जाग उठती है। जब यह श्रेष्ठ धारणा स्वभाव धारणा धर्म्य बन जाती है, जब स्वाभाविकता अपने आप असर करने लगती है तब बुद्धिकी तमोनिद्रा, उसका

आलस्य, उसकी देहात्मता तथा उसकी बहिर्मुखता नहीं रहती। वह अब आत्मानुकूल अन्तर्मुख बनती है। उसकी श्रेष्ठता आत्मनिष्ठामें है। इस अवस्थामें मनुष्य अपने बुद्धि-महात्म्य के द्वारा अपना स्वाभाविक रंजन कर लेता है, साथही वह आत्मानुभूति की ओर संकेत करने को उद्युक्त है। बुद्धिकी कृपासे यहाँ जो विलक्षण गृहस्थी हमें प्राप्त है, जो बडा भारी बोझ हम उठा रहे हैं, जो जीवनावश्यक बातोंका संग्रह हो रहा है, वह सबकुछ बुद्धिकी इस विशालनिष्ठा में अनुकूल संवेदनीय बन जाता है। तब उसकी न दुरूहता है, न दुःसहता, न कटुता। उन सभीके द्वारा स्वाभाविक रंजनही हो जाता है। यहाँ परिग्रह है किन्तु वह विकाररहित है अतः परिग्रह भी अपरिग्रह जैसा हो जाता है। उसकी श्रेष्ठता असामान्य है। उसमें सेवाविधान छिपा है। श्रीगुरु का वरद हस्त उसे आशिष देनेको उत्सुक है। वहाँ अनूठा त्याग है। उसकी आत्यंतिकता सहज स्वाभाविक हो गयी है। उसकी हरेक कृति उस सर्वेश्वर का भजनपूजन है। अपने कार्यका उत्तम आदर्श उसके द्वारा स्थापित हो जाता है। कर्तव्य-कर्मका व्यामोह वहाँ नही है। कर्ममें अब आत्मीयता है, आत्मरूपता का साक्षात्कार है। वहाँ दृढ़मूल प्रेम है। मत्सर की बातही यहाँ नहीं रही। मत्सर के कारण निर्माण हुआ परिग्रह अब नहीं रहा। उसका सर्वसंग्रहरूप मायाजाल नष्ट होगया। अब कर्मोंमें विशुद्धता है, कर्मस्थिति अपने गुणोंका रहस्य स्पष्ट करेगी। गुणशः तथा पात्रता के साथ कर्म

निर्धारित होते जायेंगे। और वहीं हरेक नियुक्त काममें विकाररहित, संकाचशून्य तथा निरभिलाष अनुष्ठान अपनाया जायेगा। प्रेम–सेवा–सद्भाव आदिके अनुशासन में श्रीगुरु के प्रति अनन्य शारण्य तथा तत्परता दीख पडेगी। अब जो कुछ होगा वह उन्हींकी सेवाके लिये होगा। निरहंकारी मन परिग्रह नहीं कर सकेगा। उसको विलय अपने आप होगी।

परिग्रह की परिक्रमा इस प्रकार है। दान धर्म करनेवालों को भी यह अनुष्ठान आवश्यक रहता है। यह यजनशीलता है, एकप्रकार यज्ञही है। यज्ञमें जिस ब्राह्मण्य का पुरस्कार है उसका साक्षात् अनुष्ठान किया जानेपर ही परिग्रह से पिंड छूटता है। सेवा, श्रद्धा, नमन तथा परिपोषण आदिके द्वारा अपना दानधर्म व्यवस्थित करानेकी आवश्यकता दुर्लक्ष्य नहीं की जा सकती। अतः जो इनकी ओर ध्यान देता है वही सच्ची धारणा को अपनाता है। उनके अनुष्ठान में अपरिग्रह का अर्थ आजाय तो साधना सफल है। अन्यथा भेदबुद्धिके फंदेमें फँस जाने कीही संभावना बनी रहती है। परिग्रह का महात्म्य सचमुच बडा है और वह सर्वथा अपनी दृष्टि तथा श्रद्धा पर अवलंबित है।

श्रीगुरु द्वारा होनेवाला अनुग्रह जीवनकी सर्वोत्तम सफलता है। उन्हींके द्वारा प्राप्त होनेवाला साक्षात्कारी ज्ञान, सगुणता का रूपगुणादि ऐश्वर्य वस्तुतः श्रीगुरुसेवा की महती साधना का चरमोत्कर्ष है। उस अनुग्रह में पावित्र्य की पराकाष्ठा है, प्रेमकी सर्वंकष संपन्नता है। उनके ज्ञानस्वरूप का महिमान

इतना श्रेष्ठ है कि उसपर हम अपने को न्योछावर करें। अनेकानेक जन्मोंका दु:ख, दैन्य, क्लेश यहाँ भुलाये जाते हैं। उन सभी बातोंको त्यजकर उन ज्ञानरूप चरणकमलों में सबकुछ समर्पित कर देना सर्वथा श्रेष्ठ सिद्धि है। उनके सामने जीवदशामें अहंता रहती ही नहीं। वह सदैव नत, नम्र, विलीन हो जाती है। वासनाओं का बोझ हलका हो जाता है। उनकी कुटिलता नष्ट हो जाती है। अत: अपने जीवकोही–सगुणरूप श्रीगुरु के चरणोंपर प्रलीन किया जाय। अनुग्रह के कारण जिसकी जीवनसाधना सर्वथा परमपवित्र हो चुकी है, जिसकी आत्मा अब शिवरूप होकर ज्ञानात्मक संपदासे विभूषित हो गयी है, उसके विश्वास के बारेमें क्या कहा जाय? वहाँ विश्वास आश्वासित हो गया है। वहीं उसका संपूर्ण निवास है। अनुग्रह के कारण परमपवित्र होकर धर्म, धैर्य तथा ऐश्वर्य की अनुस्थिति वहाँ सिद्ध है। इन्द्रियदमन होनेसे, अहंकाररहित होकर जीवनसर्वस्व श्रीगुरुके चरणों में समर्पित होता है।

वहाँ किसीभी प्रकार की भेदभावना नहीं रहती। अपने पराये का भेद मिट गया है। जहाँ कोई पराया नहीं तब द्वेष, मत्सर किसका होगा? जब परायी भावना है तब मत्सर को अधिष्ठान है। यहाँ केवल एकता है, अद्वैत है। एकही परमतत्त्व का सर्वत्र साक्षात्कार है। द्वैतभाव है भी नहीं फिर मत्सर काहेका? कहाँसे निर्माण होगा? वहाँ सर्वत्र एकात्मकता काही विलास है। जो कुछ है वह उसकी सहजता

है। उसमें अभिमान नहीं, पृथक्पन नहीं, द्वैत तो सर्वथा नहीं। एक सहजसिद्ध योगभूमिकाही स्थिर हो गयी है। जो कुछ करना पडता है वह निष्काम कर्तव्य की भूमिकापर आरूढ़ होकरही। वहाँ न फलेच्छा है न कर्तृत्व का अभिमान है। वहाँ नैष्कर्म्यही अपने कार्यमें रत है। साथही वहाँ सर्वत्र सभी कामोंमें आत्मनिष्ठा है। हरेक कृत्यके अंतस्तलमें उसी आत्मतत्त्व का साक्षात्कार निहित है। यहाँ सर्वव्यापकता तथा गहनता देखी जाती है। अतः निर्गुण की सहज, शांत, सत्तारूप स्थिति अनायास अनुभव की जाती है। जहाँ सेवाभाव अत्यन्त अभीप्सित हैं वहाँ मनकी प्रसन्नता उत्कंठा की पराकाष्ठा को पहुँचती है। न वहाँ जबर्दस्ती है न अभिलाषा। सेवाकार्य उसी पुरुषार्थ का एक अर्ध होकर संपन्नता को अपनाता है। वहाँ हम निर्मत्सर किसे कहें ? कौन मत्सरयुक्त है ? वह संपूर्ण कर्म एक दिव्यजीवन में परिणत होता है। संपूर्णतया स्वामी कार्यही बन जाता है। सेवाभाव का आदर्श उपस्थित हो जाता है। वहाँ न ऊब जाना है, न अश्रद्धा है किन्तु दिन ब दिन बढ़नेवाली नित्यनूतन प्रसन्नता है। कर्तव्यानुष्ठान ही जहाँ सर्वथा सिद्ध है वहाँ योजनाका ही उपयोजन किया गया। अपनेआप वह विद्यमान है। स्वकार्य उद्युक्त होकर यही योजना–साधना–योगधारणा सभी कर्मोंको ठीक ठीक रूपसे अनुशासित करती है। उसके अनुशासन में सत्यकी प्रतीति है, सत्‌की प्रतिष्ठा है, संतत्व की उदय है। अतः यहाँ निर्मत्सरही मत्सर के साथ चला गया। निर्द्वंद्व आत्मीयताही

पनपती रही । संतत्व के कारण आलस्य शेष नहीं रहा । वहाँ सभी कर्मोंसे मुक्तता सिद्ध हुई । कर्मरहित नैष्कर्म्य भी यहीं है । यह संपूर्ण सगुण होनेपर भी गुणोंकी अतीतता कायम है । यदि कर्म गुणयुक्त है, गुणोंसे निर्माण हुए हैं तोभी गुणोंकी जड उन्मूलन की गयी । अब गुण हैं भी और नहीं भी । गुणोंकी अतीततामें सगुणता का महान ऐश्वर्य विद्यमान है । मनका मुक्त विलास, उसका प्रगमनशील आनन्द, स्पष्टता, शुद्धता आदिके साथ स्थिर हुआी मनकी व्यापक विशाल दृष्टि । उसकी मुक्तावस्था ! सहज प्राप्त हुआ संतोषयुक्त रमणीयत्व । स्वाभाविक एकात्मता का चिरंतन जागृत अक्षरानुभव । साथही यह सिद्धि की अनुपम अवस्था नैष्कर्म्ययुक्त कर्मयोग की धर्मधारणा है । कर्तव्य तथा यश या फल के बारेमें निष्काम, समबुद्ध दृष्टि अपनानेंसे पुरुषत्व का अननुभूतयोग सहजसाध्य होकर अपना कर्तव्य स्थिरता को अपनाता है । वहाँ बद्धता कहाँ रही ? ॥११३, ११४॥

**गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थित चेतसः ।**
**यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥२३॥**

अर्थ :– देहबुद्धिरहित व्यक्ति का कर्म, मुक्त का कर्म, आत्मज्ञानी का कर्म तथा यज्ञप्रीत्यर्थ किया हुआ कर्म आदिका समग्र कर्मफल (ब्रह्मरूपमें) लीन होता है ।

तो देहसंगे तन्हि दिसे । परि चैतन्यासारिखा असे ।
पाहतां परब्रह्माचेनि कसे । चोखाळ भला ॥११५॥

अर्थ :– देहधारी के समान वह दीख पडता है किन्तु वह

वस्तुतः चैतन्य है। परब्रह्म की कसौटीपर वह निरतिशय निर्मल है।

व्याख्या :- यद्यपि वह पुरुषतत्त्व देहधारी है, तो भी वह पूर्णतया परब्रह्मरूप है। निष्काम कर्मयोगी के बारेमें भी यह सही है। वह आत्मानुभवी योगी देहधारी जरूर है किन्तु वह चैतन्यरूपही है। परब्रह्म की कसौटी पर वह पूरा उतरता है। ब्रह्मकी परीक्षा में वह उत्तीर्ण है। उसीके समान वह सत्तामात्र, निर्मल, अखंडैकरस, ज्ञानस्वरूप है। चैतन्यका आधार चैतन्यही है। विश्वात्मक तथा देहनिबद्ध चैतन्य का स्वरूप अलग अलग तो है भी नहीं। वह सर्वत्र एकरस व्याप्त है। ब्रह्मका स्वरूप क्या है ? उसकी रंग रेखा कौनसी ? कहा जाता है कि वह आकाशरूप नीले वर्ण का है। किन्तु उससे भी जो पार है वही परब्रह्म है। उसकी कांति तप्तसुवर्ण के समान शुद्ध, पीत है। बिलकुल पीला रंग तो है नहीं किन्तु तप्तसुवर्ण के सदृश वह दीख पडता है। कसौटीपर कसे हुए विदग्ध सुवर्ण के समान अत्यन्त शुद्ध, पवित्र, दीप्तिमान उसकी कांति है। उन्हीं की एकरूपता अनुभव करनी चाहिये। जो चैतन्य जीवमात्रमें आभासित है, विश्वके कणकण में जो अनुभूत होता है वह सर्वात्मक चैतन्य परब्रह्म के आविष्काररूप है। दोनोंमें फर्क कहाँ ? सर्वव्याप्त चैतन्यमें भी उसी परब्रह्म का निवास नहीं है क्या ? अतः जब चैतन्य में चैतन्य अनुभव किया जाता है तब उसकी विदग्धता, शुद्धता परब्रह्म के परिमाण में कुछ कम नहीं। उसकी शुद्धता, परिपूर्णता अनुभवगम्य है, कहा

नही जाती। यहाँ, वहाँ, सर्वत्र, सुदूर मन्दिरोंमें, देहमें उसकी विद्यमानता वस्तुतः एकात्मभावसेही है। जब उस आत्मस्वरूप का साक्षात्कार अनुभव किया जाता है तब जहाँ देखें वहाँ आत्मस्वरूप का दर्शन उपलब्ध है। समूची सृष्टि एक विशाल तथा गहन परतत्त्वमें अवस्थित है। अद्वैत का अमृतानुभव यहाँ सहजसिद्ध है। उसकी विद्यमानता घर घरमें, घट घटमें, जगह जगह पर अनुभव हो जाती है। प्रत्येक घरमें प्रत्येक के लिये अपना देवता, उसका अपना पूजा पाठ, उसकी अपनी साधना हो इसी हेतुसे उस अखंडैकरस परतत्त्वकी पृथक् पृथक् व्यवस्थिति है। वहाँ असलमें पृथक्त्व है कहाँ ? व्यक्तिको ही उसकी अपनी दृष्टि दी गयी है जो इस सर्वव्यापी तथा अन्तस्थित आत्मदेवता का दर्शन करे। विश्वके विशाल गगनमें व्याप्त 'सो' को 'अहं' में, तथा 'अहं' को उस 'सः' में अनुभव करानेके लिये यह प्राकृतिक प्रपंच है, यह संसार है। वहाँ वस्तुतः 'ॐ सोऽहं हंसः' का अनिबंध, अखंड कलध्वनि गुँज उठता है। प्रकृति की त्रिगुणात्मकता से उत्पन्न विविध पाँच भौतिकों का विविधतासे होनेवाला प्रापंचिक पंचीकरण है जन्म ! जन्मकी विशुद्धि, उसकी शुचिता तथा वस्तुजात में प्राप्तव्य परतत्त्वानुभव की क्षमता समझ लेना सर्वथा आवश्यक है। वह साधना सर्वोपरि है। वही पावित्र्य है। उसके द्वाराही यह अनुभव किया जाता है कि जो चैतन्य है वह सर्वथा परब्रह्मरूपही है ॥११५॥

ऐसाहि परि कवतुकें । जरि कर्मं करि यज्ञादिकें ।
तरि ते लया जाति अशेषें । तयाचाचि ठायीं ॥११६॥

अर्थ :– यदि सहजही वह यज्ञादि कर्मोंका अनुष्ठान करेगा तो वे सभी कर्म उसमेंही लीन हो जाते हैं ।

व्याख्या :– इसप्रकार यह कर्मोंकी परिक्रमा, उसकी क्रमबद्धता नैष्कर्म्य के अनुष्ठान द्वारा अब शेष नहीं रहती। उनकी परिक्रमामें उनकी अपनीही पूर्ण प्रदक्षिणा है । वहाँ यह जाना जाता है कि कर्मोंकी उत्पत्ति–स्थिति तथा लय सर्वथा त्रिगुणात्मक महामाया मूलाधार प्रकृति के कारण है और उनके फल, उनकी आकांक्षा उसीके द्वारा परिणामक्षम है। उसमें कर्म विलीन हो जाते हैं । प्रकृति का महान पुरुषार्थ जो, पुरुषकी पहचान, वह प्राप्त होनेपर अब कर्म परिसमाप्त होते हैं । इस अवस्थामें भी अगर किसीसे यज्ञादि कर्म होते रहे तो वे अपने आपमें विलीन हो जाते हैं । उनकी फलोत्पत्ति बंधक या बाधक नहीं रहती ॥११६॥

अवकाळिचि अभ्रें जैंशि । उर्मिविण आकाशि ।
हारपोनि आपैसि । उदयलि सांति ॥११७॥

अर्थ :– अयोग्य कालमें जिसप्रकार आकाश में पैदा हुए मेघ विना वृष्टिके जल्दही नष्ट होते हैं– ।

व्याख्या :– अकाल में छाये हुए मेघ जिसप्रकार पर्जन्य के बिना अपने आप ओझल हो जाते हैं वैसेही नैष्कर्म्ययोगी के कर्म संपन्न होतेही अपनेमें विलीन हो जाते हैं । अकाल के

मेघोंमें बारिश की उर्मि नहीं। वैसेही इन कर्मोंमें अहंता का भाव नहीं। सर्वत्र एकरूपताही प्रतीत होनेके कारण वहाँका कर्म एकात्मकही रहता है। वही एक सत्स्वरूप यज्ञ, यज्ञसामग्री तथा यजन होनेसे वहाँ एकता के सिवा क्या कर्म है? जो होता है, वही आहुति है, वही यश है। सर्वत्र यह समदर्शन एकात्मदर्शन संपन्न होनेसे पृथकत्व पर आश्रित कर्मकी संभावनाही नहीं रही ।।११७।।

तैसि विधिविधान विहितें। जन्हि आचरे तो समस्तें।
तन्हि ऐक्यभावें ऐक्यातें। पावतीचि गा ।।११८।।

अर्थ :– उसी प्रकार विधिविधान के साथ यथाशास्त्र वह सभी कर्मोंका अनुष्ठान करता है तो भी ऐक्यभाव के कारण वे उसमें ही लीन हो जाते हैं।

व्याख्या :– वह विधि, मार्ग, विधान, प्रकार आदिसे कुछ योग्यताप्राप्त विहित कर्मोंका अनुष्ठान करतासा दीख पडा तो भी वहाँ उसकी संपूर्ण समरसता है। वही एक अपनी एकता बनाये रखता हुआ एकात्मकता अनुभव अपने कर्मोंद्वारा संपन्न करता है। उसके कर्मोंद्वारा कर्मफल निर्माण नहीं होते, और निर्माण भी हुए तोभी वे बंधक नहीं रहते। कर्मोंमें ही कर्म विलीन हो जाते हैं। वहां सभी कर्म सकर्मकेसे हुवे। द्वैताभाव के कारण कर्मोंका न कर्तृत्व रहा न बंधकत्व। अतः मनका संकल्प भी शून्यता को पहुँचा। वहाँ वृत्तियों का उद्गम नहीं, विकास नहीं। केवल कर्तव्यनिष्ठाही रही। और कुछ भी नहीं। कर्तव्य के द्वारा प्राप्त नित्यानन्द का विश्राम धाम

बन गया। वह मायके के समान सभी साधकों को सदा के लिये उल्हसित, उत्साहित करा देता है। जीवन की निष्ठा आनंदानुभूति से मानो मुखर ले उठी है। विकारशून्य चिरंतन शांत तथा समधात जीवन की यह दिव्यता जिसे प्राप्त है वह सौ बार धन्य है, देवोपम महात्म्यका अधिकारी है ॥११८॥

**ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।**
**ब्रह्मैव तेन गंतव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥२४॥**

अर्थ :– ब्रह्म कर्मरूप समाधि में होता रूप ब्रह्मने ब्रह्मही ब्रह्म को अर्पण किया। यहाँ होता ब्रह्म, हवन द्रव्य ब्रह्म, ब्रह्महो अग्नि, हवन क्रिया भी ब्रह्म है। यहां ब्रह्मकी ओर जाना होता है।

हें हवन मी होता। किं यया यज्ञातें हा भोक्ता।
ऐसिये बुद्धिसि नाहिं भिन्नता। म्हणोनिया ॥११९॥

अर्थ :– यह हवन, मैं होता, और इस यज्ञ का यह भोक्ता इस प्रकार के भेद बुद्धिको ज्ञात नहीं। (क्योंकि वह कर्म ब्रह्मरूप है यह उसकी भावना रहती है।)

व्याख्या :– "यह अमूक यज्ञ है, यह विशिष्ट प्रकार का हवन है, यहाँ मैं होता हूँ साथही इस यज्ञफलका मैं भोक्ता हूँ" इसप्रकार बुद्धिभेदकी, भेदबुद्धिकी दृष्टिही वहाँ नहीं रही। भिन्नता का द्वैत का भाव या अधिष्ठानही शेष नहीं है। किंबहुना यह कर्म इष्टप्रद है, योग्य है, यज्ञका यजन किसी कामनातृप्ति के लिये हो रहा है, या इष्ट वस्तुकी प्राप्तिके

लिये है, "विशिष्ट प्रकार का पूजाविधि करना आवश्यक है, या यथास्थित समंत्रक तंत्रादिसे युक्त होकर अनुष्ठान किया जाना चाहिये कि जिससे जल्दीही फल प्राप्ति हो जायेगी।" वगैरह जो बुद्धिकी भावना है वह सर्वथा विपरित है। बुद्धि वस्तुतः फँस गयी है अपनी देहात्मधारणामें। वह इसी कारण समझती है कि यज्ञफल तथा विधिविधान के द्वारा प्राप्त होनेवाला फल अक्षय है, शाश्वत है। समूचा संसार का बृहदाकार कर्मसंभव भी अशाश्वत, अस्थिर है। किन्तु आदमी भूल करता है। वह जो रास्ता तय करता है वह लोभमोहयुक्त है। इसके विपरित नैष्कर्म्य योगी जो कुछ पूजा करता है, जो यज्ञानुष्ठान करता है उसमें आत्मानुभूतिका सामंजस्य है। वहाँ के साधन, उपकरण आदि में एक प्रकार की आत्मीयतासी देखता हुआ वह नैष्कर्म्ययोगी अपने इष्टसिद्धी की या इच्छा पूर्तिकी परिणति सर्वथा आत्मनिष्ठामें करा देता है। वहाँ आत्मनिष्ठा स्थिर होनेसे अन्य किसी भी प्रकार की अभिलाषा अभीप्सित नहीं रहती। वहाँ केवल आत्मीयता तथा प्रेमही संपन्न रहता है ॥११९॥

जें इष्ट यजन यजावें। आणि तें हवि मंत्रादि आघवें।
तो देखत असे अविनाश भावें। आत्मबुद्धि ॥१२०॥

अर्थ :– इष्ट यज्ञका यजन–हवि मन्त्र तप आदि साधन–आत्मबुद्धि के कारण अविनाशी रूपसे–आत्मभावसे ही–वह देखता है।

व्याख्या :– हवी, हवन, होता, यज्ञ, याजन, उपकरण

आदि पदार्थमात्रोंकी जो साधनसंपदा या साधनसामग्री तथा पूजाके लिये आवश्यक ऐसो सर्व प्रकार की साहित्यसामग्री आदिमें उस योगीके द्वारा एकप्रकार आत्मीय भावना निर्माण की, साथही दृष्ट वस्तुमें ही यही अपनापा अनुभव किया। जो जो कुछ किया अगर देखा जाता है वह सब कुछ उसकी आत्मनिष्ठा के कारण स्नेहसंपन्न तथा आत्मरूप हो जाता है। उसका कर्म आत्मौपम्य बुद्धि के कारण प्रेम बन जाते हैं। उन्हें क्या हम कर्म कह सकते हैं ? ॥१२०॥

म्हणोनि ब्रह्म तेंचि कर्म। ऐसें बोधा आलें जया सम।
तया कर्तव्यता निष्कर्म। धनुर्धरा ॥१२१॥

आता अविवेक कुमारत्वां मुकले।
जयां विरक्तिचें पाणिग्रहण जालें।
मग उपासना जिहिं आणिलें। योगाग्नितें ॥१२२॥

अर्थ :– अतः ब्रह्मही यह जिसे समत्व से ज्ञान हुआ उसके लिये हे धनुर्धर ! नैष्कर्म्यही कर्तव्य है।

जिसने विरक्ति के साथ ब्याह किया है उसका अज्ञानरूप बचपन समाप्त हुआ, वह योगाग्नि की उपासना करता रहा।

व्याख्या :– वहाँ जो कुछ कर्तव्यकर्म है वह वस्तुतः 'नित्य ब्रह्म' का आविष्कार है। कर्म हैही नही। कर्मरूपमें वही ब्रह्म विलसित है। जो जीवदशा है वही ब्रह्मरूप है, ब्रह्मरूप हो जाती है। वहाँ आत्मबुद्धि का समत्व सर्वदा सुस्थित है। आत्मौपम्य धारणा के कारण समान स्तर अनुभव किये जाते हैं। साम्यब्रह्मकी अनुभूति या ब्रह्मकी समान

अनुभूति अपनायी जाती है। केवल साम्यताही देखी जाती है। यह संवेदन इतना तीव्र है कि वहाँ कर्तव्य भी साम्यरूपता के कारण प्रेममय हो जाता है। भाव, विभाव, भावना, आदि को उसीके द्वारा सामर्थ्य प्राप्त हो जाता है। साथही वे भी उस परमप्रेम में रसलीन हो जाते हैं। वहाँ नैष्कर्म्यता अपनी स्वाभाविकता के साथ विद्यमान है। हे धनुर्धर अर्जुन! अब तक यह जो कुछ कहा गया वह निःसंशय महत्त्वपूर्ण हैं। ब्रह्मके अधिष्ठान में प्रकृतिमाता का यह विकासकार्य है। विशिष्ट प्राकृतिक ब्रह्मके द्वाराही यह देहधारणा है। उस शबल ब्रह्म का स्वरूप देहधारणा में कारणरूपसा है। वहीं उस परब्रह्म की सत्तासे आत्मौपम्य भावना विश्वव्याप्त हो सकती है। इसी कारण यहाँ सुरम्यता तथा प्रेम प्रकट हो जाता है। प्रकृतिविशिष्ट देहके लिये जो जीवात्मा है वही कुलस्वामी के रूपमें सिद्धसाधना का अधिष्ठाता है। यहाँ जो प्रेम निर्माण होता है वह उसके चरणों में विलीन हो जाता है। वहाँ अन्यथा भाव नहीं। अतः वह प्रेमभी उच्चतर उच्चतम अवस्था को अपनाता है। फलस्वरूप उसका अधिष्ठाता स्वामी, प्रकृतिनिविष्ट व्यक्ति, यजनक्रिया आदि सबकुछ उच्चतर उच्चतम भावरूपता या प्रेमरूपता का आविष्कार है। इस प्रकार की उपासना वस्तुतः ज्ञानसर्वस्व है। उसमें मनुष्य की देवता के साथ संपूर्ण सायुज्यता, एकात्मकता, समरसता है। क्या इस अवस्थामें भी हम उसे मनुष्य कह सकते हैं? प्रत्यक्ष देवताही अपना देवत्व देखनेके लिये, अमरभावरूप होकर,

दर्शनीय सगुण साकार होकर अवतीर्ण हुआ है। वैसेही वहाँकी प्रेमधारणा है। जो नितांत प्रेमरूप, स्वभावसिद्ध-तथा आत्मरूप है। वहाँ ऐक्यही एकात्म हुआ। जहाँ इसप्रकार तादात्म्य है, तल्लीनता है वहाँ अंतःकरण में देहबुद्धि को आश्रय कहाँ रहा? देहबुद्धि या देहात्मवादिता यहाँ देखी नहीं जाती। योगानुष्ठान तथा ज्ञानानुसंधान का यह क्षेत्र है। योग तथा ज्ञान कोही यहाँ महत्व है। उच्चारण, आचरण तथा धर्मधारण आदिमें देवता का सुरम्य सहजस्वाभाविक आनंद-विलास प्रतीत होता है। देहबुद्धि तथा बुद्धिभेद की माया ओझलही हो जाती है। इन विकारों को अवकाशही नहीं रहा। संतत्व या सातत्यसे सत्भाव की विद्यमानता अखंडैकरस होकर अज्ञानरूप बाल्य छोडने को विवश करती है। वासनाएँ निरीच्छ होकर अपने आपमें विनष्ट हुईं। इच्छाके साथ उसका अपना बडा बोझ रहता है। उसका दबाव निःसंशय कष्टकारी है। किन्तु जब वह भी प्रसन्नसा होकर, अपनी देहवादिता त्यागने को उद्युक्त हो जाता है, तब इच्छाकाही अस्त होता है। अगर इच्छा रही तो वह ज्ञानरूप देहकी ही चाह है। उससे ज्ञानावतरणकी चिन्ता की जाती है। इच्छा भी अब मानो ज्ञान ज्ञान कहती हुई ज्ञानरूप हो जाती है। जहाँ ज्ञानरूपता से उसका साक्षात्कार हो जाता है वहाँ सुखमयता की समृद्धि, साधना की संपन्नता तथा भावोंकी उत्कटता के साथ वे अपनी विलीनता सफल बनाती है। वे अब देहात्मवादी नहीं रहीं। जगत् के जीवन से तादात्म्य

पाती हुई आत्मीयता का अननुभूत निःस्वार्थ जीवन देखती है। जगत् की एकता उनके लिये स्वीकार्य है। वहाँ समाधान समधात है, सुख सुखरूप है, धारणा धर्मयुक्त है। इच्छाका भोग अत्र योगरूप हो गया। अतः संतोंकी सेवा, उपासना तथा उपास्य हो गयी। साधनाकी सफलता संतो की सेवामें सिद्ध है। अतः वह सेवा तथा उपास्य देवता दोनोंकी सर्वंकश एकात्मता संपन्न होनेके लिये इच्छाही मानो लालायित हो उठी। उपासना की देवताही यहाँ योगाग्निरूप बन जाती है। साथही उपास्य देवता, उपासना, तथा उपासक सबकुछ देवताभाव को अपनाते हैं। उससे वह मानो आत्मराज की सेवामें संलग्न हो सकी, पात्रता पा सकी। उसका सार्वभौमत्व स्वीकार कर चुकी। फिर वहीं प्रेमकी निरतिशयता, आज्ञाका तत्पर पालन तथा निष्काम कर्म सहज सिद्ध है। आत्माकी निष्ठाके कारण वह संपूर्ण कर्म सर्वांगसुन्दर बन जाता है। श्रीगुरुकी सेवामें कहीं गलती न हो यह भावना मनको सदा सजग बनाती है और चेतावनी भी देती है। अगर थोडी गलती हो जाय तो महान अपराध के समान बडी शरम निर्माण हो जाती है। वह बात दंडके लिये पात्र समझी जाती है। अतः यहाँ संपूर्ण लक्ष श्रीसेवाकी ओर केंद्रित है। शरीर की हलचल, प्रत्येक कृति सचमुच श्रीगुरु की सेवाका उपांग बन जाती है। वही केवल कर्तव्यरूप बनती है। साथही इसी बातका महत्त्व मान्य किया जाता है। अतः सत्त्वप्रिय, निर्लोभ, निष्पाप विरक्ति नितांत आवश्यक है। और वह भी अपने

आप अग्रसर होती है। वहाँ का कार्य सुशोभित करने का प्रयास इस विरक्ति के द्वारा हो जाता है। वह आत्मनिष्ठा के कार्यके बारेमें अपना अनुमोदन दे देती है। योगाग्निकी सेवा, उसका विधान, उपासना आदि बातें प्रिय तथा प्रसन्न बना देती है। वहाँ अनुष्ठान के कारण विकसित हुए योगभाव को अधिक क्षमतासंपन्न बनानेमें महत्त्वपूर्ण योगदान देती है जिससे उसने मानो यौवन को प्राप्त योगानुष्ठानको ही वरण किया। विरक्ति का स्वरूप उपरमा के समान है, जो जीवन में उपशम लाती है। विरक्तिका योगके साथ ब्याह होनेसे वह सामरस्य के साथ जीवन का नूतन सर्वांगसुन्दर विधान अनुभूत करने लगती है। वह जीवनका सुरम्य तथा धर्म्यस्वरूप योग तथा विरक्ति के परस्पर अनुरक्ति में संपन्न होता है। वहाँ अग्निहोत्रि के समान योगाग्नि की उपासना निरन्तर बनी रहती है। जीवन की योगसाधना यहाँ प्रिय, प्रियतर बन जाती है। वहाँ संयमन प्रिय है, वृत्ति आत्मरूप में रसलीन है। जीवदशाका दोष, जो वृत्तियों का क्षोभ, अब नहीं देखा जाता। वृत्ति अब शांता बन जाती है, उसकी क्षोभरूपता नष्ट होकर वह सखिरूप बन जीवभाव को देवताभाव की ओर अग्रसर करने में सर्वथा सहायक है। जीवदशा का भोग नहीं रहा। वृत्तियों का आवेश शून्य होगया। वृत्तिमें भी वह आत्मभावन पनपता है। उसकी धारणा है नामसाधना। जीवदशा की आंखें हैं चर्मकी बनी हुई। वह देहवादिता से आगे देख नहीं सकती। उसकी दृष्टि केवल देहपर तथा

देहतक सीमित है। किन्तु जब यही दशा अपना आत्मीय स्वरूप पा जाती है तब उसकी दुर्दशा रह नहीं सकती। नामधारण की सहजसिद्ध साधना जीवदशा का द्वैतरूप दुर्दैव उखेड देती है। उसके चर्मचक्षु अब शिवचक्षु में परिणत होते हैं। जीवभाव शिवरूप हो जाता है। अतः वहीं मनकी प्रतिभासंपन्न समर्थ क्षमता प्रतीत होती है। वहाँ सुख, तृप्ति तथा मुक्ति, आनंद तथा समाधान को बढाया करतीं रहती है।

जिस नित्य, शांत तथा आनंदरूपता से इस महामाया प्रकृतिका स्फुरण है, और जिससे इस देहकी निर्मिति है, उसका स्वभाव मूलतः आनन्दरूप, सुख तथा शांतियुक्त ही है। वह आत्मराज चाहे प्राकृतिक देहमें स्थित हो, चाहे विश्वव्याप्त हो, उसकी मौलिक आनंदघनता अबाधित है। किन्तु मायाकार्य के कारण पृथक्त्व तथा अहंता निर्माण हो जाती है। प्राकृतिक जडता जीवन में गुणोंकी ही संवेदनता अनुभव करती है। वहाँ जो मौलिक आनंदरूप है, जो सुख शांतस्वरूप है उसकी ओर अवधानही नहीं जाता। उसकी पहचानही नहीं होती। आदमी ऊपरी द्वंद्वात्मक संवेदन को स्वीकार करता है और उसमें संतुष्ट रहता है। अर्थात् इसमें जीवनकी हानि हो जाती है। तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान आदि के द्वारा इस देहकी शुद्धि होनेके बाद बुद्धिका जाड्य नष्ट होता है। उसकी मौलिक प्रकाशकता प्रकट होती है। त्रिगुणों के कारण तथा प्राकृतिक जाड्य के कारण कर्मानुबंध द्वारा जो पूर्वसंस्कार तथा स्वभाव रहता

है, उसमें अब मूलतः परिवर्तन होनेकी पात्रता आजाती है। मनकी निर्विशेषतामें संकल्पों का स्फुरण बहुतही कम हो जाता है और वह अन्तर्मुख हो जाता है, अपने आपको देखने को उत्सुक होता है। वह मानो अपने उपर प्रसन्न हो जाता है। मनका संयमन कोई सामान्य बात नहीं। उसकी अस्थिर तथा चंचल वृत्ति स्थिरता पा जाती है। वह काम संतोकी सेवा के सिवा असंभव है। संतोकाही वह प्रसाद है जो जन्म जन्म के पुण्यके फलस्वरूप है। संतदर्शन, संतसेवा दोनों भी पूर्व सुकृत के सिवा दुर्लभ है। जिन्होंने अखंड तपःसामर्थ्यके द्वारा निजानन्द को अपनाया, जिन्होंने उस स्वभावसिद्ध योगभूमिका में उत्साह तथा उल्हास पाया उनकी सेवा एक ऐसी महान् शक्ति है कि उसके द्वारा मनमें आमूलाग्र परिवर्तन हो जाता है, प्रेमरसका अखण्ड स्रोत जीवन में बहता है। जीवनमे यह देखा जाता है कि द्वेषका बंधन जिसप्रकार है उसी प्रकार प्रेमका भी। प्रेम भी बंधक होता है, मोह, मत्सर, लोभ वश प्रेम में भी विकारवशता तथा बन्धकत्व है। जब वह निर्लोभयुक्त होता है तब उसकी कल्याणक्षमता प्रकट हो जाती है और वही सचमुच बंधनरहित हो जाता है। बंधकत्व से पिंड छुडाता है, साथही स्वयं नियमप्रिय होकर अपनेआप दूर हो जाता। उसकी अलिप्तता तथा अनासक्त धारणा देवतासन्निध्य ला देती है। वहां सभी बंध टूट जाते हैं। आत्मैक्यभाव तथा देवतैक्यभाव के कारण उच्चतम स्थिति प्राप्त हो जाती है। उपशम का प्राकटच वहीं है। उपशम के

कारण आनन्द की विद्यमानता अनिवार्यसी है। वह तो अपना सर्वस्व लिये उपस्थित हो जाता है। नियमबद्धता के कारण तथा शमदमादि से साधना जब संपन्न होती है तब देवताप्रसाद के कारण नियमों का बंधकत्व ही धीरे धीरे विरक्त हो जाता है। वहाँ कर्तव्यकर्म श्रीसेवा है। वह स्वामीकार्य है। प्रापंचिक जीवनसे मुक्तता पानेके लिये, उन नियमोंमें भी भगवत्भक्ति का योगदान प्राप्त होता है। फिर भक्तकार्यही महत्त्वपूर्ण हो जाता है। उस अवस्थामें देवता का शुभाशीर्वाद, उसका प्रसाद तथा उसकी प्रसन्नता अवश्यमेव प्राप्त हो जाती है। वहाँ भक्तोंके जो जो कार्य हैं, वे सभी प्रत्यक्ष देवता के द्वारा संपन्न हो जाते हैं। भक्तोंको कुछ नहीं करना पडता। उसकी उपासना निरन्तर, अन्तरायरहित होकर अन्तमें सफलता को ही अपनाती है। वहाँ श्रीदर्शन हैही। प्रत्यक्ष दर्शन सुलभ हो जाता है। ज्ञानदेवता वहाँ अपनी वास्तवता प्रकट कर देती है। उसका बाल्य जो अविवेक, वस्तुतः इस समय युवा बनकर अब विवेकरूप हो जाता है और उसकाहीं विरक्ति के साथ ब्याह हो जाता है। विवेक तथा विरक्तिका दांपत्य अपने सामरस्यपूर्ण दर्शन–स्पर्शन द्वारा प्रकाशमान होता है।

अतः यमनियमादि का कष्टकारी बंधन जीव स्वीकार करनेमें हिचकिचाता है। परन्तु उन्हींके द्वारा जीव शिवरूप हो जानेकी साधना संपन्न हो सकती है, अन्यथा नहीं। जीवन की सफलता देवताभाव की प्रत्यक्षानुभूति प्राप्त होनेमें है। अतः नियमों का कडापन होते हुए भी उनका अनुशासन

अनिवार्य है। जहाँ देवताभाव जागृत हुआ है वहाँ आत्मीयता की योग्यता प्राप्त होनेसे 'चिदात्मा' जीवभाव की प्रपंच करनेवाली सखीही है। शिवस्वरूप में उसकाही नामधारणा है, नामस्मरण है।

वहाँ कर्तव्य है किन्तु नैष्कर्म्ययुक्त, वहाँ अनेकता है किन्तु उनके अन्तरंगमें एकात्मकता है, जिसकी पहचान भी है, प्रकृति की विविधता का वैभव यहाँ मुखर है किन्तु उसके द्वारा उसे सच्चिदानन्द स्वरूप देवतादर्शन भी उपलब्ध है।

॥१२१, १२२॥

**दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।**
**ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ।।२५।।**

अर्थ :– कुछ कुछ (लोग) अग्निरूप यज्ञकी उपासना प्रारब्ध तथा इष्टदेवता के उद्देश्य से करते हैं, तो दूसरे तत्त्वनिष्ठ ब्रह्मरूप अग्निमें यज्ञको–उपाधियुक्त जीव को–यज्ञद्वारा–निरुपाधिक आत्मस्वरूप के द्वारा–हवन करते हैं।

जे यजनशीळ अहर्निशि । तिहीं अविद्या हविलि मनेंसि।
गुरुवाक्य हुताशि । हवन केलें ॥१२३॥

अर्थ :– जो अहर्निश यज्ञशील हैं और जिन्होंने श्रीगुरु-वाक्यरूप अग्निमें मनके साथ अविद्या का भी हवन किया है–।

व्याख्या :– यह तो देखा जाता है कि अनेक लोग यज्ञपुरुष की सेवामें लगे हुए हैं। उनकी सेवाके प्रकार भी भिन्न भिन्न हैं। उनकी सेवाएँ वस्तुतः पुरुषार्थ के लिये ही हैं। उसी आत्मतत्त्वकी उपलब्धि के लिये यज्ञ किये जाते हैं। आत्मोपलब्धि

सबसे बडी सफलता है अतः वही सर्वोत्तम पुरुषार्थ भी। यज्ञके द्वारा इसे अपनाने का प्रयास है। अतः यज्ञोंके विविध प्रकार होनेपर भी उन सभीमें वह अन्यतम वैशिष्ट्य जरूर है भी। जैसे कि कुछ लोग द्रव्य यज्ञ करते हैं। द्रव्योंकी आहुति देते हुए श्रीयज्ञनारायण की उपासना की जाती है। किन्तु उसमें तथ्य यह है कि यह जो देह है जिन जिन तत्त्वोंसे संपन्न हुआ है उनकी सूक्ष्म सूक्ष्मतर अवस्था का साक्षात्कार कर लेना। दशेंद्रिय, पंचतन्मात्रा, मन, अहंकार, बुद्धि आदि सभी तत्त्वोंका पंचोकरणात्मक पांचभौतिक आविष्कार जिस सत्ताकी अधिष्ठान में होता है, उस पुरुष तत्त्वकी सच्ची पहचान कर लेना, यही उस यज्ञका सर्वथा उद्देश है। इन विभिन्न द्रव्योंकी, तत्त्वोंकी आहुति देते हुए, उनकी प्रतिप्रसव की परिक्रमा अनुभव करते हुए यही ज्ञात किया जाता है कि वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म आत्मतत्त्व उन अनेकविध द्रव्योंको प्रकाशित करता है तथा पंचीकरण में अपनी सत्ता बनाये रखता है। अतः उसकी नामरूपात्मक प्रतिष्ठा अनुभव कर लेनी चाहिये। योगसंपन्न होकर योगी इसी परमपावन यज्ञनारायण की उपासना करते हैं। इस उपासना का अनन्यसाधारण महत्त्व कभी ओझल नहीं हो सकता। मनुष्य की महत्ता उसके दिव्यत्वमें है। दिव्यत्व तथा दैव अन्योन्याश्रयी होकर भी जीवन में अपना पृथक्त्व दिखलाता है। वस्तुतः दैववान् मनुष्य दिव्य है। देवताभाव से युक्त है। संसारमें यह समीकरण प्रत्यक्ष नहीं होता। क्योंकि 'दैव' प्रारब्ध का फल है। उसे ग्रहनक्षत्रोंके द्वारा मानो नियन्त्रित

किया गया है। उन्हींकी इच्छाशक्ति 'दैव' की गति सुनिश्चित करतो है। अतः वहाँ आत्मसामर्थ्य तथा आत्मस्वातंत्र्य कहाँ रहा ? जहाँ आत्मा भी स्वतन्त्र नहीं वहाँ जीवन कैसे स्वतन्त्र हो सकता है ? ग्रहनक्षत्रों के आदेशोंपर जीवन बिताना ही बद्ध मनुष्य का एकमात्र कार्य रह जाता है। किन्तु यज्ञके द्वारा मनुष्य इस मुक्ति की योग्यता अपनाता है। जहाँ शब्दादि पंचतत्त्वों का उद्गम है, पांचभौतिक आविष्कार की मूलभूत प्रेरणा है उस गगनसदृश परतत्त्व की प्राणप्रतिष्ठा यज्ञमें अभिप्सित है। यज्ञके द्वारा अन्य सभो अपर तत्त्वोंकी आहुति देते हुए केवल उसी परतत्त्व की ओर संकेत किया जाता है। हमारा पंचीकरणात्मक जीवन अब दैववादी, दैवनियन्त्रित नहीं रहता। अब आत्मस्वातंत्र्य उदित हुआ है, देवताभाव जागृत है, दिव्यता अपनायी गयी है, ग्रहनक्षत्रों का दैव अब हमारे अपने अधीन है। दिव्यजीवन की प्रसन्न पावन आभा सर्वत्र झलकने लगी है। अब मनुष्यत्व पुरुषार्थमें परिणत है। पुरुषतत्त्वकी प्रतीति अनुभव की जानेसे दैव तथा देवता दोनों का भी आश्रय उपलब्ध हुआ है। 'पुरुष' की सेवामें लीन हुई श्रद्धा साफल्य की सुखानुभूति में परितुष्ट है। वह श्रद्धा अत्र देवताभाव से ओतप्रोत तथा ऐश्वर्यसे परिपूर्ण है। ईश्वरत्व तथा ऐश्वर्यका, देवता तथा दिव्यत्व का अन्योन्याश्रयी अनुभव इसी अवस्था में परिलक्षित है। यह तो स्पष्टही है कि पंचतन्मात्र, दशेंद्रिय, पंचमहाभूत, मन, बुद्धि, अहंकार, प्रकृति तथा पुरुष इन पचीस तत्त्वोंका संघात ही देहधारणा में

सुव्यक्त है। उससे परे जो परमतत्त्व आत्मवान्–सा इस शरीर में स्थित है उसीकी यह क्षमता है। बुद्धिका भी वह प्रकाशक है। उसीके द्वारा इन सभी तत्त्वोंको प्रतिष्ठा, प्राणाधारशक्ति तथा जीवनव्यापिनी क्षमता प्रदान की जाती है। यह पंचीकरणात्मक प्रक्रिया जीवन का अतिगहनगूढ रहस्य है जो कहा नहीं जाता। जो जीवनकी निगूढ गति पहचानता है, जीवन के गहन तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्पन्द को अनुभव करता है तथा उस आत्मनिष्ठा की आभा से जीवन आलोकित करता है उसकी वाणी, वाक्देवता अतिरम्यरूप दिखला सकती है। वाणीका निरन्तरमनोहर प्रसन्नपावन आविष्करण यहाँ अनुस्यूत रहता है। यहाँ वक्तव्य देवताभाव का एक अलंकार है, वह उसका शृंगार, उसकी शोभा, उसकी रसात्मक प्रसन्नता है। प्रत्यक्ष ईश्वरही मानो वहाँ बोल रहा हो। पुण्यपावन सरस्वती की ज्ञानदायिनी वीणा अपनी रसरम्य रागात्म संगीत सुनाया करती है। वहाँ ज्ञान अनोखा नहीं, अभावरूप नहीं। वहाँ ज्ञानके सिवा और कुछ है भी नहीं। वहाँ शब्द हैं अर्थवान्। अर्थ है पुरुषार्थयुक्त। रस है सारग्राही तथा अनुभव है परतत्त्वस्पर्शी। वाणीका वह विदग्ध विलास सरस्वती के महान् ऐश्वर्य का आविष्कार है। ईश्वरत्व की वह सर्वैश्वर्य संपन्न सत्ता शब्द शब्दमें अक्षररूप है। उसका बल, उसका ओज तथा उसका सामर्थ्य अनिर्वचनीय है। उसे देखनेपर, सुननेपर आदमी सचमुच अवाक् हो जाता है। उसके सम्मुख एक महान् आश्चर्य के सिवा और कुछ नहीं

रहता। वह मानो आश्चर्यका ही साक्षात्कार है, उसकाही साकार स्वरूप है। इसी भावमें, इस मुद्रास्पर्श में वह सौभाग्यपूर्ण जीवन संपन्न है। जिसे श्रुति-स्मृतिद्वारा सदैव द्रष्टव्य, श्रोतव्य तथा निदिध्यासितव्य कहा गया है, जो सर्वथा नित्यनूतन होकर भी सनातन पुराणपुरुष है, जिसकी उपलब्धि तपसा साध्य है और जो सर्वसामान्य के अति दुर्लभसा है उस परमपावन परमात्मस्वरूप के दर्शन का सर्वसिद्धिप्रद योग इसी अवस्थामें निरन्तर अनुभूत किया जाता है। वहाँ सचमुच सन्मान, श्रद्धा तथा बहुमान रहा करता है। धर्मधारणा का अभिमान भी इसीमें समाया है। वह सनातन तत्त्व, वह पुराणपुरुष यहाँ प्रेमद्वारा सम्मानित हो जाता है। वहाँ प्रेमही मानो ज्ञानरूपता की महत्ता जानता है। उसका वरिष्ठता के कारण गौरव करता है। मनुष्य-त्रिगुणयुक्त है इसीकारण वह गुणज्ञ भी हो सकता है। त्रिगुणातीत की सर्वंकश सत्ता वह जरूर समझ सकता है। उसकाही साकार सगुण रूप महत् ब्रह्म के द्वारा सर्वत्र विलासमान रहता है और वही एकात्मकता अटूट बन्ध दिखला भी सकता है। उस महत् ब्रह्म का महान विश्वव्याप्त विस्तार, उसके अधिष्ठान में निर्माण हुए अनेक जीव तथा विविध प्रकार की जीवनधारणाएँ होनेपर भी मनुष्यकी ही एक ऐसी देह है कि जहाँ इस विशाल विस्तार का बीज ज्ञात किया जाता है। मनुष्य की गवेषणा इस विशाल विश्वको अपनेमें लेकर विश्वव्याप्त महत् के मौलिक अविष्कार का अनुभव कर सकती है। इसी कारण यह स्पष्ट

है कि मनुष्यका दैव देवताभाव को अपना सकता है, उसके धर्मको सद्धर्मका रूप होता है, उस परतत्त्व के दर्शन का प्रामाण्य भी मनुष्यत्वपर अवलंबितसा है। अतः दैववाद जो प्रारब्धपर ही आश्रित सा है वह अन्तमें देवताभाव के कारण, देवत्वसेही युक्त हो जाता है। दैववाद वस्तुतः शाब्दिक रूप है, उसकी सत्ता परावलंबी है। वह अपनेपर निर्भर नहीं। जब वह देवताभावसे जागृत है, जब दैव सर्वथा देवतायुक्त तथा सर्वार्थ से संपन्न है तब उसका शाब्दिक रूप नष्ट हो जायेगा। तब दैवमें सामर्थ्य, स्वातंत्र्य तथा पुरुषार्थ उपलब्ध है। तब दैव किसी दूसरे से नियंत्रित नहीं वह अपनी शक्तिसे क्षमतासंपन्न है। वह विलक्षण चमत्कारसा दीख पडता है। मतलब स्पष्ट है कि जिसके जीवन में देवताभाव जागृत है उसका दैवभी उसके अधीन न कि किसी आकाशस्थ ग्रहनक्षत्रसे संबद्ध। देवताभाव का यह दिव्यप्रकाश जीवन में अनेकानेक चमत्कारों का सहजनिर्माता है। जहाँ चमत्कार या विलक्षणता है वहाँ मनुष्य नतमस्तक होता है। और जिसने यह सामर्थ्य प्राप्त किया है वह भी महत् पर की प्रतिष्ठा पाता है। वह विलक्षण सामर्थ्य महानता दिलाता है। अन्य लोग वहाँ नम्र रहते हैं। हाथ जुट जाते हैं। ऐसे सिद्धोंके सम्मुख मनुष्य की वृत्तियाँ अपने आप संयमित होती हैं। वहां आदर दुगुना चौगुना बढ़ता जाता है। अंतःकरण चतुष्टयही मानो वहाँ निबद्धसा होकर अष्टांग योगयुक्त नमस्कार करता जाता है। जिससे आदरकी मात्रा परिणतसी होकर श्रीगुरुका वरदहस्त जीवन

में यथोचित परिवर्तन ला देता है। वह एक ऐसा औदार्य है जो केवल श्रीगुरु की योग्यता काही परिपाक है। उन्हींके द्वाराही यह वृत्तिमहात्म्य सफल हो सकता है, संपन्न हो सकता है। अन्य किसीको यह क्षमता बिलकुल नहीं !!

यज्ञमें अग्निकोही देवता माना गया है। वह सचमुच यज्ञ नारायण है। सभी जीवोंका नियन्त्रकही वह है। देवताओं में वह श्रेष्ठ माना गया है क्योंकि उसीके द्वारा सभी देवताओं को हविर्द्रव्य प्राप्त है। जीवनमें भी अग्निकी महत्ता कौन स्वीकार नहीं करता ? जोवधारणा का वही सामर्थ्य है। इसीलिये वह 'नारायण' रूप है। अग्निके द्वारा ही अन्नकी योग्यता सिद्ध हो जाती है। वह सिद्ध किया जाता है। अन्न तथा जीवन दोनों परस्पर अवलंबित है। दोनोंका अधिष्ठान अग्नि है जिसका अभाव विनाश है। उसी प्रकार यज्ञमें स्थित अग्निकी महत्ता सर्वमान्य है। वही जीवन की योग्यता बढ़ाता है और उसे ब्रह्मरस की अनुभूति दिला सकता है। अग्निकी आँचही तप है जो असीम निष्ठाके साथ अनुष्ठित होनेपर, सर्वस्व के यजन के होनेपर यज्ञप्रसाद की महती प्रसन्नतासे हमारे जीवन की योग्यता योगभूमिका के विभवश्रीसे खिल उठती है। यज्ञके लिये किये गये सभी कर्म ब्रह्मरूप हैं अतः वे अक्षर तत्त्वको अपना सकते हैं। हमारा नित्य जीवन भी यज्ञ है जिसका अधिष्ठान नित्यरूपमें सर्वगत ब्रह्मके द्वारा हमारे हृदय में भी स्थित है। हमारे नित्ययज्ञमें उसी यज्ञनारायण की उपासना निरन्तर होनी चाहिये। अतः यह उपासना भी

सवार्थयुक्त तथा फलप्रद जरूर है। उस सर्वगत ब्रह्मकी यह सर्वात्मक सत्ता यहाँ यजनशीलता को परिपूर्ण बना देगी।

यज्ञकर्ताओं की यह धारणासी बनी रहती है कि वह जो दैव है उसके अधीन होनेकी अपेक्षा देवताभाव को यज्ञद्वारा जागृत करके उसेही अपनी अधीनतामें लाया जाय ! अतः वे अपने मनको भी संयमित करते हैं, उसकी क्षमता बढाते हैं। जो दैवकी गतिको जानते हैं, ऐसे दैवज्ञ को देवताभाव द्वारा दैवकी अधीनता नहीं रहती। अपने मनके अनुसार उसी दैवको बदल देनेकी चेष्टा हो जाती है और वह सफलता भी पाती है। यज्ञका निष्ठायुक्त अनुष्ठान मनकी इच्छा सफल कराता है। यज्ञकर्ता की निष्ठा इस प्रकार फलप्रद हुआ करती है। वह 'गुरुवाक्य' के समान सम्मान तथा महत्ता पाती है या यों कहें कि गुरुवाक्यही उस रूपमें महत्ता अपनाता रहा।

ब्रह्म वाक्य :- वह ब्रह्मलिखित है जो कभी मिथ्या नहीं हो सकता। जैसे जन्मे हुए मनुष्य को फिर मृत्यु है तथा मृत्युके बाद फिर जन्म है। जन्म मृत्युका यह चक्र जिस प्रकार सर्वथा अक्षय तथा ध्रुव सत्य है। देखा जाता है कि वैद्यके द्वारा औषध दिया जाता है किन्तु आयुष्य नहीं। आयुष्य तथा सौभाग्य दोनोंभी दैवकी देन है। किन्तु उससे परे सत्य मिथ्याके भेदसे अलिप्त तथा निर्द्वंद्व ब्रह्मरूप की सत्ताका संकेत करनेवाला ब्रह्मस्वरूप ब्रह्मवाक्य श्रीगुरुवाक्य के द्वारा आवृत्त है तथा अमृतस्वरूप भी है।

गुरुवाक्य :- ब्रह्मसत्ता का वह आमुख है। उसकी

अनुभूति का वह महाकारण है तथा ब्रह्मका वह मुख है, वचन है। साथही वही मुख्य है। वह मानो कामधेनु है जो सर्वेच्छा सफल करनेमें सर्वदा सिद्ध तथा समर्थ है। दैवका वह विश्वास है जहाँ दैव देवताभाव की अधीनता स्वीकार करता है।

संतवाक्य :- यह तो वस्तुतः आप्तवाक्य है। जिनकी निष्ठाके बारेमें किसीभी प्रकार सँदेह नहीं हो सकता, उन्हींके द्वारा कहा गया वाक्य संतवाक्य है जो सर्वथा सदेव सत्यही है। संतोंके द्वारा दिया गया उपदेश एक प्रकार आध्यात्मिक धारणा निर्माण करनेमें समर्थ है। नामस्मरण का महामन्त्र उन्हींके द्वारा दिया गया है जो आध्यात्मिक जीवन का सारसर्वस्व है। वहीं मनुष्य की पूर्ण निष्ठा होनी चाहिये फिर मनुष्य की प्रत्येक कृती परिपूर्णता की स्थिति जरूर अपना सकेगी। संतवाक्य इसी दृष्टिसे सर्वथा परमकल्याणकारी तथा मंगल है।

वेदवाक्य :- स्पष्टही है कि वेदोंमें ग्रथित वाक्योंके बारेमें यह संकेत है। वेदोनारायण द्वारा कहा गया यह वाक्य यज्ञरूप है। उसके द्वारा तीनों ताप दूर हो सकते हैं। त्रिविध तापोंके द्वारा जीव ऊब जाता है उसपर इन वाक्योंका संजीवनी जैसा असर दीख पडता है।

वाक्य वाक्य :- यह तो विदग्ध वाग्विलास है जो वाणी की शोभा है। उसका प्रसन्न सौंदर्य कुसुमित कानन के समान विदग्ध वाङ्मयमें ही मुखर है। उसमें कला है, वक्रोक्ति है,
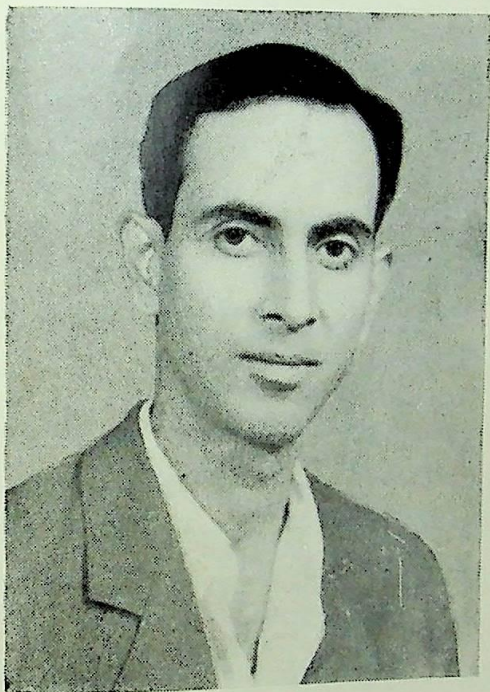
श्री म दा बरसावडे. एम् ए.–फलटण

ध्वनि है । प्रसाद, माधुर्य, ओज आदि गुणोंसे वाणीका देवता सौंदर्य इसीमें समा हुआ है ।

देववाक्य :– ज्ञाननिष्ठा बुद्धियोग द्वारा संपन्न होती है । बुद्धिकी शुद्धता तथा चित्तकी सहज संवेदनक्षमता जहाँ जागृत हो जाती है वही देववाक्य है । उसके द्वारा बोध तथा ज्ञानकी परिणती है । बोधयुक्त सात्विक जीवन की तपस्या देववाक्य द्वारा संपन्न है । वहाँ वाणी सत्त्वसंपन्न तथा सारग्राही है ।

महावाक्य :– 'अहं ब्रह्मास्मि',

ये चार श्रुतिसंपन्न वाक्य 'महावाक्य' कहलाते हैं । वे तो मंत्रके द्वारा नियंत्रित तथा 'मैं' के विवर्तपर आधारित हैं ।

गणवाक्य :– मनुष्यगण, देवगण आदिका जो नायक श्रीगणेशजी उसका शुभारंभ जहाँ दिग्दर्शित है वह अनुष्ठान !

प्रधान वाक्य :– साम्य

इस मनुष्य देहमें जिस सामर्थ्य की सत्ता है वह दैव की है । दैववशात् मनुष्य की श्रेष्ठता, संपन्नता, जय पराजय प्राप्त होती है । दैवकी भी सत्ता देवतामें परिणत होती है और वही केवल शोभाकारी है । जहाँ देहात्मबुद्धि नहीं रही वहाँ देह का आलंबन टूट गया । मनुष्य विदेहीसा बन जाता है । देहका आलंबन छोडकर जब आत्मनिष्ठा, दैवत्व की सत्ता, दिव्यभाव अपनाया जाता है तभी वह सर्वविलक्षण तेज, प्रत्यक्ष देवताभाव ही अनुभूत होगा । किंबहुना यही होना चाहिए । हमारे नित्य जीवन में यही प्रत्यय सर्वदा महत्त्वपूर्ण है ।

एतदर्थ योगानुशासन में लगे रहना चाहिये जिससे हम उस दैवी सामर्थ्य की सहायता से उस निर्द्वंद्व स्थिति को अपना सकेंगे। फिर वहाँ परतत्त्वरूप अक्षर 'नाम' ही अंकितसा होकर अपनेमें ही देवताभाव पायेगा। दैव तथा दिव्यत्व दोनों के परस्परावलंबन द्वारा मनुष्य की ईश्वरीयता जाग उठती है। वहाँ विश्वात्मक साक्षात्कार अपनेमें ही हो जानेसे दर्शन कौन किसका करता रहेगा ? कौन किसे नमन करेगा ? किसके चरणोंपर कौन समर्पित होगा। जहाँ द्वैताभाव है वहाँ ये बातें सर्वथा असंभव है। वहाँ अपनीही योग्यता बढ गयी है जो आत्मनिष्ठा के कारण परमात्मस्वरूप से कुछ कम नहीं। अद्वैत की आत्मानुभूति में परायेपन की भावना निर्मूल है। देवताओं की वंदना, मातापिता की आज्ञा का पालन तथा गुरुजन की सेवा आदिमें निष्ठा तो जरूर है किन्तु वहीं भी एकात्मकता की अनुभूति परिपूर्ण है। श्रद्धा तथा निष्ठा दोनों पुरुषत्व की उपलब्धि में निःसंशय संपन्न है। मोक्ष की पुरुषार्थ-सिद्धि जिसने अपनायी, ज्ञाननिष्ठा में जो परिणत हो गये, उनकी अचल श्रद्धा सदैव अडिग है। दैवत्व की यही चेष्टा रहती है कि जिससे मनुष्य अनेकविध मार्गोंसे अपना देवताभाव पाये। दैवद्वारा यही धारणा रहती है किन्तु मनुष्य उसे अज्ञान के कारण पहचान नहीं सकता। अतः संपूर्ण जीवन अपने सुख दुःख के साथ यज्ञरूप है। यज्ञकर्म की यह निःसीम निष्ठा मनुष्य के जीवन का चरम विकास करने में सर्वथा समर्थ है। उसकी भोजनादि क्रियाएँ भी इसी कारण यज्ञक्रियाएँ हो

सकती हैं ।।१२३।।

तिहीं योगाग्निकिं यजिजे । तो दैवज्ञ म्हणिजे ।
जेणें आत्मसुख कामिजे । पंडुकुमरा ।।१२४।।

अर्थ :- योगरूप अग्निका-अभ्यास, वैराग्य जिन्होंने स्वीकार किया है, उन्होंने दैवयज्ञ का अनुष्ठान किया, उसके द्वारा हे पंडुकुमर ! उन्होंने निरुपाधिक आत्मसुख-ब्रह्मानन्दानुभव निःसंशय प्राप्त किया ।

व्याख्या :- उनके द्वारा दिनरात यज्ञकाही अनुष्ठान हो रहा है । अविद्योपाधि युक्त जीवकी विकारवशता श्रीगुरुवाक्य के कारण नहीं रही । अविद्याकी, अज्ञानकी उपाधि जीवको विकारी-सा बनाती है । वस्तुतः वह स्वयमेव शुद्ध बुद्ध नित्य सच्चिदानन्द स्वरूपही है । उसकी यह अपनी स्थिति सहज स्वाभाविकरूपसे सिद्ध है । यज्ञानुष्ठान के द्वारा श्रीगुरुके प्रसादवाक्य के कारण यहाँ मोह या विकार नहीं रह सकता । उस सर्वसाक्षी परतत्त्व का नामरूपात्मक सगुण यजन अपने आप अखंड रहा करता है । जीवनकी धारणाही यज्ञरूप हो जाती है । जहाँ यह अन्तर्मुखता प्राप्त है वहाँ वाणी मनद्वारा नियन्त्रित है, मन आत्मलीन हैं । जिह्वा वाणीका निर्लेप वाहन बनकर रहती है । चाहे वैसी नहीं बकती । अतः उसके द्वारा 'अक्षर' रूप वाक्यदेवताही प्रकट हो जाती है । उन्होंने वस्तुतः दैवकोही अपनाया है । दैवी प्रकृति की माया अनुभव कर चुके हैं । अतः श्रीभगवान् उनके लिये अत्यन्त आत्मीय बन गया । उसके साथ सुखसंवाद होता रहा । आत्मसुख की माधुरी यहाँ नित्यनूतन रूपमें परमोल्हास को

रुचिसंपन्न मिष्टान्न दिये जाय, मनके संकल्प तथा लोभवशात् अनेक प्रकार की इच्छापूर्ति का प्रयास होता रहे। देहधारणा न हमारे मनपर अवलंबित न भोगपर परिपुष्ट होती है। उसकी अपनी नियत गति प्रारब्ध पर सर्वथा अवलंबित है। अतः उसमें फँसकर विविध प्रकार के भोगोंके पीछे दौडते रहना अनुचितही नहीं, अशक्य भी है। जो कुछ अनायास प्राप्त है, प्रारब्धवशात् जो सहजही मिल जाता है उसीपर अपना जीवननिर्वाह कर लेना-उन्हें-योगी, यज्ञकर्ता को-सर्वथा संमत है। ये सहज प्राप्त भोगही आत्मसुखसंपन्नता के कारण रमरणीय हो जाते हैं। यह सहजयोग दैवयोग में परिणत हुआ। ऐसी समधात धारणा जहाँ सुस्थिर हुई है वहाँ प्रत्यक्ष प्रारब्ध भी उनका निर्वाह योगयुक्त तथा सहजलीलास्वरूप कर देता है। वह दैवी सामर्थ्य प्राप्त होनेके कारण योगक्षेम होता रहता है। योग भी होता है तथा कल्याण भी है। वहाँ न चिन्ता है न कष्ट। सहज स्वरूपानुसंधान के कारण योगक्षेम भी दैवयुक्त तथा स्वाधीन हो गया। अनुसंधान में वहाँ खंड नहीं। वह अक्षर है। उस प्रणवस्थिति में प्रलीन रहने में इस महायोग की सफल साधना चलती रहती है। दिनरात वही अक्षरोपासना। उनकी अपनी ज्ञानशक्ति ईश्वरीय सत्ताका सामर्थ्य प्राप्त कर चुकी। अतः वहाँ अत्यन्त समाधान विराजमान है। वहाँ वही देवदुर्लभ महायोगेश्वर श्रीहरिका परमपावन दर्शन है। वहीं वह राजाधिराज ज्ञानेश्वर की आत्मीयता अनुभूत है। वह अमृतस्वरूपा माँ, ज्ञानरूपा

परमप्रेमरूपा माँ अपने संपूर्ण वात्सल्य के साथ योगियों का जीवन अथाह प्रेमरसमें डुबा देती है। वही आत्मा है, योगी है, योगरूप है आत्मरूप है!! उसके पुण्यपावन प्रसन्न दर्शन से पुलकित होकर सच्चिदानन्द स्वरूप श्री भगवान् नारायण की योगमाया स्वाधीनसी हो गयी!! अहो महद्भाग्यम्! अतिवर्णनीयम् खलु!! ॥१२५॥

> आतां अवधारि सांगेन आणिक। जे ब्रह्माग्नि साग्निक।
> तयातें यज्ञेंचि यज्ञ देख। उपासि जे ॥१२६॥

अर्थ :- अव और भी कुछ कह रहा हूँ, जो ब्रह्माग्नि के ही अग्निहोत्री हैं, वे यज्ञ के द्वारा ही यज्ञ की उपासना करते हैं-।

व्याख्या :- कुछ ऐसे भी हैं जो अग्निकी उपासना करते रहते हैं। वे अग्निहोत्र स्वीकार करते हैं। उनके द्वारा दिनरात अग्निकीही उपासना की जाती है। यह तो स्पष्ट है कि अग्निके समान तेजस्वी, विलक्षण दाहक तथा अत्यन्त प्रकाशमान और कौन है! वह परब्रह्म की अत्यन्त श्रेष्ठ विभूति मानी जाती है। अग्निनारायण की उपासनामें परब्रह्म की उपासना निश्चितरूपसे हो सकती है। अतः जिन्होंने अग्निहोत्र धारण किया है वे वस्तुतः अग्निस्वरूप परब्रह्म की ही उपासनामें सुस्थिर होते हैं। यहाँ जो यज्ञकर्म होता है, कर्मयज्ञ का स्वरूप पाता है। वह कर्माचरण, वह कर्मानुष्ठान नित्यब्रह्म के अधिष्ठान में संपन्न है। विश्वजीवन में कर्म संभवकी पहली प्रेरणा उसी नित्यब्रह्म की प्रतिष्ठामें है। अतः

यहाँ होनेवाले कर्मभी अगर वे सहजजात तथा अनुसंधानयुक्त होते रहेंगें, तो उन्हें भी ब्रह्मकी प्रतिष्ठा प्राप्त है। अर्थात् यज्ञीय कर्माचरण में ब्रह्मानुसंधान अग्निनारायणरूपमें अभिप्रेत हैही। वहाँ कर्म भी यज्ञ बन जाता है। यज्ञके लिये होनेवाला कर्म भी यज्ञ है, कर्मका भी यजन हो जाता है। अग्निहोत्रि का यह नित्ययज्ञ ब्रह्मरूप होकर वहाँ अग्नि भी ब्रह्मरूप है। यज्ञभी ब्रह्म तथा कर्म भी ब्रह्म हो जाता। कर्मानुष्ठान का यह अनुसंधान विशेषरूपसे लक्षणीय है। कर्म यज्ञरूप है, और यज्ञ ब्रह्मरूप। अतः कर्म भी ब्रह्मरूप होकर वह अनुष्ठान "सर्वं खल्विदं ब्रह्मम्" साक्षात्कार दिलाता है। वहाँ ब्रह्माग्नि मानो अग्निरूप होकर साकार है। उसकी तेजोमयी ज्वाला जीवन की विकारवशता को, दुरित को तथा पाप को जला देती है। प्रारब्ध का अनिष्ट नष्ट कर देती है। इन्द्रियों की विकारवशता, मनकी चंचलता, विषयोंकी अभीप्सा, तथा बुद्धिकी भोगवादिता यहाँ जल जाती है। फलस्वरूप मन निश्चल धारणा अनुभव करता है। वहाँ यज्ञकर्ता योगयुक्त हो जाता है। योगभूमिकासे वह अत्यन्त समधात व संपन्न जीवन का योग अपनाता रहता है। वह ब्रह्मरूप हो जाता है। यज्ञका यह योगिक स्वरूप नित्ययज्ञकी प्रतिष्ठा तथा जीवन की अग्नियुक्त उपासना अनुसंधान करने योग्य है।

यह अग्निनारायण की उपासना है। कर्मानुष्ठान के द्वारा उसे प्रसन्न किया गया है। हमारे जीवन में भी देहस्थित अग्निकी उपासना अवश्यमेव हो सकती है। वहाँ अग्नि है

उसकी स्थिति योगरूप होनी चाहिये। मन, प्राण तथा इन्द्रियक्रिया आदिके द्वारा योगानुष्ठान का यज्ञ हो जानेपर वहाँ यथाधर्म योगाग्निकी प्रतिष्ठा हो जाती है। देहस्थित अग्नि अब योगाग्नि बन जाता है जो जीवन का किल्मिष हटा देता है। वहाँ ब्रह्मस्वरूपका ही आत्यंतिक अनुसंधान निहित है। इस योगाग्नि की उपासना द्वारा, कर्मानुष्ठान के द्वारा ब्रह्मानुसंधान में स्थिर हुआ। अतः इस यज्ञका कर्मभी ब्रह्मरूप हो जाता है। वह योगयागविधि खाली कर्म नहीं रहते। वे अशेष होकर ब्रह्मरूप में लीन हैं। उनकी अपनी पृथक्सत्ता नहीं। ब्रह्मनाम ही उनकी स्थिति, गति, धारणा है। यहीं भी ब्रह्माग्नि अग्नि सेवामें रत है। योगानुसंधान है नामधारणा। उस गुणातीत का अखंडानुसंधान दिनरात नामरूप में है। योगयुक्त होकर यह यज्ञ इसप्रकार सहजयोग बन जाता है ।।१२६।।

**श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।**
**शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ।।२६।।**

अर्थ :– और कुछ अन्य योगी, सभी इन्द्रियों का उनके विषयों के साथ आत्मसंयमरूप अग्निमें हवन करते हैं, तो कुछ योगी सभी ज्ञानेंद्रियों का उनके विषयों के साथ इन्द्रियरूप अग्निमें हवन करते हैं।

एक संयमाग्निहोत्री। ते युक्तित्रयाचा मंत्रीं।
यजन करिती पवित्रीं। इन्द्रिय द्रव्यीं ।।१२७।।

अर्थ :– आत्मसंयमरूप अग्निमें यजन करनेवाले कुछ

अग्निहोत्री वस्तुतः कायिक वाचिक तथा मानसिक मन्त्रोद्वारा पवित्र किये गये इन्द्रियों द्वारा ही यजन करते हैं ।।

व्याख्या :- कुछ ऐसेभी हैं जो श्रवणेंद्रियादिका संयमरूप अग्निमें होम करते हैं। इन्द्रियों की विषयोंसे विरक्ति हो जाना संयम है। साथही शब्दादि विषय भी संयमाग्नि में हवन किये जाते हैं। उन विषयों के बारेमें उदासीनता आ जाती है। श्रवणेंद्रिय का महात्म्य विशेष रूपसे कहा गया है क्योंकि उसका विषय शब्द है जो आकाश का गुण है। उसकी व्याप्ति अत्यन्त विशाल है। केवल श्रवणभक्ति भी महनीय साधना है। जिसका मन श्रवणमें लीन हुआ है, वह अन्य इन्द्रियोंसे अलिप्तसा हो जाता है। समूचा अवधान श्रवणेंद्रिय की ओर केंद्रित हो जानेसे अन्य इन्द्रिय सहजही संयमित हो जाते हैं। अतः उन शेष इन्द्रियों का संयमरूप अग्निमें होम हुवा। वहाँ श्रवणही मात्र अपनाया गया। शास्त्रादि के सभी विचार सावधान श्रवण होने लगे। यह श्रवण एक भक्ति बन गयी, एक साधना हुई। यह अग्नि की सेवा है। संयम के कारण अन्य इन्द्रियों के प्रति उपेक्षा का भाव है तथा विरक्ति भी। एक श्रवणेंद्रियमें वे सभी संयमित हुए। यह निःसंशय सेवाही है। कुछ ऐसे भी होते हैं जो शब्दरूप विषय कोही संयमित किया। जो बोलते कम तथा सुनते भी कम। श्रवण तथा कथन दोनों को संयमित करके शब्द की मर्यादा तथा व्याप्ती बहुतही संकुचित सी हुई। वह विषय अपने विषयी में तथा इन्द्रियमें ही लीन हो गया। किन्तु यह भी ध्यान रखना

आवश्यक है कि इन्द्रिय कार्यरहित होनेपर बेवंद बन जाता है। उसकी उर्मि तीव्र होती है। उस समय आवश्यक है कि शास्त्रादि द्वारा नियत किया गया अनुष्ठान, तथा आदेशों का यथाशक्य आज्ञापालन होता रहे। उसके द्वाराही–शास्त्राज्ञा-पालन–मनको संयमित करने की क्षमता प्राप्त हो सकेगी।

अगर देखा जाय तो यह स्पष्ट है कि शास्त्रोंकी संख्या भी कुछ कम नहीं। उसकी अपार राशी है। जितना पढ़ें उतना कमही है। उन सभीका आलोडन करने के लिये कई जन्म बिताने पडेंगे। तिसपर भी संभव है कि शास्त्राध्ययन कुछ रहाही हो। अतः एक ऐसी व्यक्तिनिष्ठ व्यवस्था जरूर है कि जिससे यह एक जाननेपर सब कुछ जाना जाता है। मनुष्यकी देह, उसके इन्द्रिय, उसका मन, बुद्धि, अहंकार तथा सर्वसमावेशक स्वभाव जो ज्ञात कर लेता है वह नियति के निगूढ स्पंद भी अपना सकता है। वस्तुतः इन्द्रियोंका ही जो इन्द्रिय है, वह परमात्मतत्त्व ही अर्थयुक्त है। जिसकी शक्ति के कारण आँखें देख सकती हैं, श्रोत्र सुन सकते हैं, जिह्वा रसास्वाद ले सकती है, वह आत्मतत्त्व ही इच्छाकी तृप्तिका, उपशम करने के लिये सच्चा आश्रय है। इन्द्रियों के अपने विषयों के प्रति जो रागद्वेषात्मक स्थायीभाव है उसी कारण उनकी तृप्ति तथा अतृप्ति के कारण प्रसाद तथा विषाद निर्माण हो जाता है। आत्मतत्त्व की ओर अग्रसर करनेवाला जीवन का प्राणाधार अग्नि यज्ञरूप क्रियाकर्मों में अत्यन्त उपयुक्त सा होकर इन्द्रियों के सच्चे अर्थमें–पुरुषार्थमें–विषयों को सुस्थिर

बना देता है, उपशम ला देता है। शब्द स्पर्श रूप रस गंधादि पांचभौतिक विषय वस्तुतः शब्दके ही प्रस्फुरण हैं। उनके धर्मी पृथ्वी आप तेज वायु आकाश अन्तमें आकाशमेंही लीन हैं। अतः आकाशका ही गुण जो शब्द वह अन्य तत्त्वोंके साथ उनके गुणोंको भी अपने में समाविष्ट कर सकता है। वह स्वयं विषयरूप होकर इन्द्रियों को उनके अपने स्वभाव तथा धर्म प्रदान करता है। यह तो निःसंशय है कि इन सभी इन्द्रियों का आधारभूत स्वभाव वस्तुतः शब्दाश्रयी है, वही उनका सामर्थ्य भी है। शब्दका यह अत्यन्त सूक्ष्म रूप तथा विलक्षण सामर्थ्य उपशम तथा तृप्तिका सच्चा रास्ता दिखाने में समर्थ है। यहाँ झूठी बुभुक्षा या क्षुधा नहीं तो उनकी अपनी शक्ति तथा स्थैर्य, तृप्ति तथा शाँति पानेका प्रयास उनके स्वभाव के उपशममें है। इन्द्रियोंकाही जो इन्द्रिय उस आत्माकी सत्ता प्रकाशित करनेका प्रयास यहाँ होना चाहिये। वह स्वभावज सामर्थ्य शब्दके सूक्ष्म तथा व्यापक सत्ताद्वारा प्रकट हो सकता है कि जिससे अपनी बुद्धि शुद्ध रूपके समीप, स्वाभाविकता का निश्चय करने योग्य हो सकेगी। यही यज्ञानुष्ठान नितांत आवश्यक है। जिससे मन, बुद्धि, इन्द्रियादि में वह महान् दिव्य सत्ता व्यक्त होगी। विषयों को अपनी स्वाभाविकता प्राप्त होती है तथा प्रकृतिका मौलिक नियमन प्रवर्तित होता है।

अतः यह आवश्यक है कि विशिष्ट युक्तिसे ही मनुष्य इन इन्द्रियरूप शब्दोंकी आहुति दे सकता है। इन्द्रियों का उपशम या इन्द्रियों की विषयसे पूर्ण विरक्ति होनाही हवन हो जाना

है। अतः उसके लिये इन्द्रियों के स्वभाव, उनके विषय, उनके आश्रय आदिकी यथार्थ पहचान होनेपरही इसमें कुछ सौकर्य अनुभव हो सकता है अन्यथा बात बहुतही कठीन है। उस यज्ञमें संयमही अग्निहोत्र है और यजन है भूतोंका यथायोग्य परिपालन ! पहलेपहल तो शब्दविषय के द्वारा अन्य इन्द्रियों का संयमन या उनके विषयों का हवन हो जाता है। अन्तमें शब्द का श्रोत्रेंद्रिय भी उससे अलिप्त नहीं हो सकता। सभीकी संयमाग्नि में आहुती दी जाती है। यज्ञमें वे समर्पित होते हैं अतः वे 'अक्षर' बन जाते हैं। शब्दका भी अन्तिम स्वरूप अक्षर है जो सर्वव्यापक परमात्माका ही प्रतीक माना जाता है। कुछ तो ऐसे हैं कि जो कायिक वाचिक तथा मानसिक तप करते हुए इन्द्रियोंका ही साक्षात् निरोध करके मनको संयमित करते हैं। मनको निरुद्ध करने की तपस्या निःसंशय कठीन है। इन्द्रियों का साक्षात् निरोध तथा मनका संयमन दोनोंके द्वारा यह यज्ञ अनुष्ठित होता है। संयमरूप अग्निमें मनको द्रव्यरूप करके उसकी आहुति देदी जाती है। आत्मसंयम यही अग्नि बन जाता है और उसमें ही यजन होता है। वही अक्षररूप आत्मतत्त्व की उपासना की गई और उसको परिपुष्ट भी किया गया। इस जगत् में कोई भी ऐसा मनुष्य नही कि जो जाने अनजाने यज्ञका अनुष्ठान नहीं करता। जीवन की प्रत्येक कृतिमें यज्ञका आशय अनुस्यूत हो सकता है। चाहे वह प्रजनन भी क्यों न हो ? इन्द्रियों का संयमित विषयोपभोग तथा उनकी उपरति या शांति अनिवार्य रूपसे आवश्यक है।

केवल निरोध परमार्थ मार्गमें रोडा है। पुत्रप्राप्ति के लिये जिस प्रकार अपार श्रम हुआ करते हैं, और उन्हींके फलस्वरूप "आत्मा वै पुत्र नाम" के अनुसार पुत्रप्राप्ति या प्रजनन है। मानवी इच्छाका, उसकी वासना का यह जो उदात्तीकरण होता है वही यज्ञरूप है। इस विधान का इहपारलौकिक अनुसंधान है जो निश्चित रूपसे श्रेयस्करही हो जाता है। यहाँ आदमी वीतरागी बन जाता है। इन्द्रियादि के विषय में विरक्ति अनुभूत होती है। युवावस्था में जीवनकी आसक्ति चरमसीमामें पहुँचती है। वह बहर यद्यपि अन्ततक नहीं रहता तथापि आसक्ति के बीज बलवत्तर हैं। किन्तु जब यह अनुष्ठान हो जाता है संयमाग्नि में विषयों का हवन हो जाता है तब आसक्ति तथा अनुरक्ति अनासक्ति तथा विरक्ति में परिणत होती है। प्रकृति का सहज स्वाभाविक उपशम हो जाता है ओर उसकी साम्यावस्था में इन्द्रियों के व्यापार भी योगयुक्त होकर सहज स्वाभाविक रूपसे हो जाते हैं। वहाँ एक प्रकार का पुरुषार्थसाधक विराग विद्यमान है। संयम के साथ विवेक संपन्न है। वहाँ शब्द सर्वार्थसाधक है। वह श्रद्धाका आधार, विवेकका अग्रसर सहाय्यक तथा आत्माका अनुचर बन प्रकृति की साम्यावस्था की प्रक्रिया का योग नजदिक ला देता है। वही मनुष्य का अव्यक्त स्वभाव है। उसके आघातप्रत्याघातसे प्रकृतिकी सुदृढता तथा सुगठन संभव हो जाती है। आकाशरूप कर्णपर इस शब्दद्वारा होनेवाला आघात सर्वव्यापक नाद का अनुसंधान हो जाता है। वहाँ संयम सुस्थिर होता है। उसे

अपने लिये जगह प्राप्त होती है। उसका सर्वसमावेशक अधिष्ठान अनुष्ठान में उत्कटता लाता है। इस प्रकार काया वाचा तथा मन इन त्रयीके द्वारा योगयुक्ति की सीमा सुस्पष्ट होती है। संयम को इन्हींके द्वारा पुष्टि मिलती है, शक्ति मिलती है तथा आश्रयभी! वे सभी योगिक अनुसंधान के अनुचर होकर संयमाग्नि को प्रज्वलित करने में सहाय्यक होते हैं। उनकी अपनी निजी बात, परम गुह्य समझाते हैं और व्यक्ति को रास्ता तय करने में परम सहाय्यक हो जाते हैं। उनका मंत्रसामर्थ्य, विचारसामर्थ्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वह मानो राजाके मंत्रीकाही बल है। मन द्वारा दी जानेवाली यह मन्त्रणा योगसोपान पर आरूढ़ करती हुई उस अक्षरत्व की पहचान करा देती है। उन्हींके द्वारा पथप्रदर्शन भी होता है। वे ही हैं जो संयमाग्नि में इन्द्रियों को जला देते हैं, या उनके अनुकूल विषयों का उपभोग कराते हैं या प्रतिकूल विषयोंसे विरक्त बनाते हुए धीरे धीरे अपनी अधीनता में लाते हैं ।।१२७।।

एक वैराग्य रवि विवळले। तंव संयति विहार केले।
तेथे आपवृत्त जाले। इन्द्रियानळ ।।१२८।।

अर्थ :- और जिनमें वैराग्यरूप रवि प्रकाशमान हुआ है, वहाँ उनके लिये इन्द्रिय निग्रहरूप अग्निकुंड विहार के लिये निर्माण हुए और इन्द्रिय रूप अग्नि भी प्रकट हुआ।

व्याख्या :- इन्द्रिय तथा विषयों के संबंध अन्योन्याश्रयी हैं। इन्द्रियों के ही विषय हैं तथा विषयोंके ही इंद्रिय हैं।

विषयों के लिये ही इंद्रियोंकी विद्यमानता है। अतः उनका परिपूर्ण संयमन करना या उन्हें समग्र आकलन करना बहुतही कठीन है। अतः आवश्यक है कि व्रत नियमादि द्वारा वैराग्य का अग्नि प्रज्वलित रखनाही आवश्यक होता है। उनके द्वाराही इंद्रियों को अधीन किया जाता है, किया गया है। वहाँ वाक्यविधि के अनुसार यह इंद्रियों का प्रवर्तन देखा गया। उनका रहस्य सुस्पष्ट कर दिया गया। विश्वकी अभिव्यक्ति में विषयों की विद्यमानता है ही। महत्‌से सर्वव्याप्त पुरुष तत्त्व विश्वमें ओतप्रोत हुआ। साथही अहंकारादि से सूक्ष्म स्थूल पंचतन्मात्र, पंचमहाभूतों की सृष्टि हुई। इन विषयों के अनुकूल व्यक्ति व्यक्ति में इंद्रियों का प्रकर्ष हुआ। पाँचभौतिक विषयों का तथा इन इंद्रियों का यह पारस्परिक संबंध विश्वके मूलमें अनिवार्य रूपसे स्थिर है। इसी कारण रागद्वेषादि संवेदन की तीव्रता भी अनुभव की जाती है। जबतक जीवनयापन है तब तक इंद्रिय तथा विषयों का संबंध भी होता है। अतः उन संबंधो के रागद्वेषादि संवेदन जीवनभर द्वंद्व निर्माण करते हैं। आवश्यक है कि रागद्वेषादि से विरक्ति हो। इंद्रिय तथा विषयों के संबंध में एक प्रकार का उदासीन–उच्च–भाव रहे। यह होनेके लिये श्रुति तथा स्मृति में कथित, गुरु वाक्य के अनुसार आज्ञापित जीवनयापन होना चाहिये। विश्व तथा व्यक्ति दोनोंमें स्थित आत्मतत्त्व की उपासना इन्द्रिय तथा विषयों के प्रति विराग निर्माण करने में सर्वथा समर्थ है। विश्वमें व्याप्त शब्द, उसका संभव तथा

उसका आधारभूत तत्त्व आकाश जिसप्रकार है उसी प्रकार देहमें भी उसीकी अनुभूति निश्चित रूपसे देखी जाती है। शब्द तथा आकाश दोनोंकी भी सत्ता विश्व तथा देहमें अनुभव की जाती है। अतः सर्वसाक्षी तथा मौलिक अधिष्ठान वही आत्मा है जो शब्दद्वारा अक्षररूप हुआ करती है। विश्वसंभव की प्रक्रिया तथा शब्दशक्ति की महिमा दोनोंका पारस्परिक संबंध महत्त्वपूर्ण है। विश्वमें जिस प्रकार आकाश सर्वगामी है वैसेही देहमें शब्दभी। वहीं मानवी भाव भावनाओं का विकास, विकार–विचारों का विलास, वासना–कामना का पोषण हुआ करता है। जीवन की यह समग्रता जहाँ देखी जाती है वहाँ यह वाक्यविधी अपनी योग्यता का परिचय दे सकता है। उसकी मौलिकता अनुभव की जाती है। उस समय विवेक तथा विराग की पहचान हो जाती है और शब्दादि विषयोंका यजन, उनके प्रति अनासक्त भाव तथा उनके संबंधों के बारेमें विरक्ति पैदा हो जाती है। वहीं उन विषयों की आहुति दी जाती है ।।१२८।।

तिहिं विरक्तिचि ज्वाळ घेतलि।
जंव विकारांचीं इंधनें खपलि।
तेथे आशाधुमें सांडिलीं। पांचैं कुंडें ।।१२९।।

अर्थ :– जब उन्होंने विरक्तिरूप अग्निकी लौ अपनायी, तब विकाररूप इंधन जलने लगे। आशारूप धुऍंसे वे पाचों कुन्ड त्याग दिये गये।

व्याख्या :– यहाँ योग सहजही सिद्ध है। इस यज्ञमें,

सहजयोगमें विकारों का इन्धन जलाया जाता है। रागद्वेषादि विकारोंका प्रज्वलन यहाँ शुरु हो गया। इन्द्रियों का निग्रह या निरोध, विकारों के प्रति विराग तथा इन्द्रियरूप अग्निकुंडों में उनका यजन ये तीनों सहजही वेदोक्त रूपमें एकसाथ प्रकट हुए। उनका सहजसुलभ सहकार्य अग्निनारायण को प्रसन्न करने में तत्पर है। इन्द्रियों को अग्निरूप प्रज्वलन अनायास प्राप्त हुआ। विरक्ति की तेजोमयी ज्वाला अपनी दीप्तिसे उजियाला फैलाती रही। निराशा तो कहाँ नष्ट हुई फिर आशा भी निरर्थक हो गयी। न आशा है न निराशा। न राग है न द्वेष। यज्ञमें समर्पित जीवन का सहजसंपन्न योग यहाँ साक्षात्कार का प्रसाद ला देता है। यहाँ कोई कह नहीं सकता कि अमुक बात इस तरह होनी चाहिये या उस तरह होनी चाहिये। जो होता है वह सहजही और अपने अपने ढ़ँगसे। वहाँ संपूर्ण व्यवहार-व्यापार एक सहज योग बन गया है, सहजयज्ञ हो गया है। आशारूप कल्पित अग्निकी विद्यमानता वहाँ नहीं। ज्ञान, क्रिया, द्रव्य इच्छादि पांचों कुंडोंद्वारा प्रत्यक्ष यज्ञकार्य हो रहा है। कल्पना की बात बिलकुल नहीं है। जो कुछ है वह सत्य है, शिव है, सुन्दर है। उसकी सहजता, योगयुक्ति तथा वैराग्यशील विवेक सचाई की विद्यमानता का परिचायक है। श्रीगुरु की कृपासे ही यह सहजयज्ञ कर्म समझ पडता है, उसका दर्शन हो सकता है॥

॥१२९॥

मग वाक्यविधिचिया निरवडी । विषय आहुति उदंडि ।
हवन केलें कुंडि । इन्द्रियाग्निचां ।।१३०।।

अर्थ :- उसके अनन्तर वेदवाक्य में कथित युक्ति के द्वारा सभी विषयों की आहुति अग्निकुंडों में दी गयी ।

व्याख्या :- यहाँ जो यज्ञ कहा गया है वह सर्वथा वेदोक्त ही है। वेदद्वारा कथित विधि के अनुसार कुशलतापूर्वक इसका यजन होना चाहिये । वेदोंमें अभिप्रेत अर्थ है कि यज्ञोंके द्वारा पांचभौतिक जीवन में प्रसाद तथा प्रसन्नता निर्माण होती है । जिस विधिके द्वारा वह पोषण संभव है, ऐसे वेदोक्त मन्त्रही यज्ञमें उपयुक्त होते हैं । अतः वाग्देवता उन्हीं शब्दों का प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करती है । ये शब्द केवल शब्द नहीं, मन्त्र हैं जिसके द्वारा जीवन की पुष्टि तथा शांति यज्ञविधि के माध्यमसे प्राप्त होती है । साथही यहाँ भोग नहीं, योग है, तप है, समर्पण है । जहाँ वैराग्य है वहाँ विवेक का प्रकाश है, जहाँ इन्द्रिय निरोध है वहाँ यज्ञरूप प्रज्वलन भी है । जहाँ विरक्ति है वहाँ विकारों का उन्मूलन है । इन सभी के द्वारा-वैराग्य, विवेक, इन्द्रियनिरोध विरक्ति आदिसे-वेदवाक्यों की शोभा विलक्षण रूपमें बढती है । वेदवाक्य को उनकी सार्थकता यहीं केवल अनुभव हो सकती है । शब्दादि विषय भी यहाँ सर्मपित भाव के कारण विषरूप नहीं होते, उनकी स्थिति अब केवल आहुति के रूप हैं । उनके द्वारा मानो **यज्ञ**नारायण की सेवाही हो जाती है । यथाधर्म जीवन का पोषण करते हुए ये विषय उस अग्निनारायण में अपने

को समर्पित करते हैं। इस आहुतिरूप अवस्था का शब्दादि विषयों को भी जबर्दस्त आकर्षण होता है और वे भी उस अग्निरूप श्रीनारायण की धर्मग्राह्य सेवामें लगे रहते हैं। उनकी सत्ता केवल यज्ञरूप हो जाती है। गन्ध, रस, रूप, स्पर्शादि सभी विषय शब्दोंसे परिणत हैं और उसीमें लीन भी होते हैं। अतः वेदोक्त शब्दोंमें यह चिरंतन संजीवनी है कि जिससे शब्दसामर्थ्य का महान् प्रदर्शन हो सकता है। वहाँ एक एक अक्षर साक्षात् देवतारूप हो जाता है। चन्द्र किरणों के द्वारा जिस प्रकार शीतल उपचार का विधि अनुभव किया जाता है, यथाधर्म यथायोग्य पोषण उसीके किरणों द्वारा वनस्पति जगत् में पाया जाता है, वैसेही यहाँ उन समन्त्रक अक्षरों में सृष्टि निर्माण के बीज हैं। शब्द का शब्द जो प्रणव, वही वस्तुतः उस परमतत्त्व का वाचक है। अतः वही नामधारक भी है। उसके अन्तरंग में आत्मतत्त्वका प्रकाश है, आत्मज्ञान का स्वर निनादित है। नामधारणा के द्वाराही पुरुषार्थ का हेतु प्रकट हो जाता है। आत्मतत्त्व का अर्थ नामधारणामें सिद्ध है। वह प्रणव, वह अक्षर वेदवाक्यों का महान् प्रपंच निर्माण कर देता है, जो सर्वथा यज्ञ का आश्रय, आलंबन, उपास्य तथा अभिष्ट है। जो यह जानकर यज्ञ का विधिवत् अनुष्ठान करता है, उन वाक्योंका प्रपंच समझता है, उसके द्वारा यज्ञपुरुष की सच्ची पूजा हो जाती है। वही असलमें श्रद्धा है, सेवा है तथा उपासना भी। इसी द्वारा जगत् को सर्वश्रेष्ठ प्रेम का पुरस्कार प्राप्त हो जाता है।

प्रेमसेही परमात्मरूपकी सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति जगत् में पायी जाती है। कर्तव्यकर्म श्रद्धा इसीमें निहित है, यज्ञकर्म तथा उपासना इसीपर अवलंबित है। योगी अंतस्थित यज्ञके द्वारा यही पाता है। उसका अन्तर्जगत् इस परमपावन प्रेमसे भर जाता है। वह एक ऐसी अमूल्य अभिव्यक्ति है कि जिसने पायी है, वह सब कुछ पा गया। इसमें सेवाकी गहनता है। यहाँ धर्मका सहजस्वाभाविक स्वरूप अभिव्यक्त है, वहाँ अवयवों में विभाजन होकर भी अविभक्ति है। स्वतन्त्र तथा पृथक् रहकर भी वह एकरस और अखंड स्वरूप है। उसकी आभामें कभी घाटा नहीं। उसके परिमाणमें कभी घट नहीं। यहाँ वही ईश्वररूप है जो मनुष्य की समक्षमें आनेयोग्य हो जाता है। वस्तुतः वेदोक्त शब्दकी स्थिति तथा अनुभूति केवल काल्पनिक नहीं। वह न तो कल्पनारम्य जीवन है किन्तु वह एक शिवरूप सुन्दर जीवन की वस्तुस्थिति है। वे शब्द तभी सार्थक हैं जब उनकी विधिवत् प्रतिष्ठा हो जायेगी। यह संपूर्ण शब्दसंसार उसी परमात्मा की महान् सृष्टि है। शब्द सृष्टिकी निर्मिति उसी परमात्मा का आविष्कार है, यह धारणा स्थिर होनी चाहिये। उसकी व्यवस्थिति ठीक ठीक रूपसे अपनानी चाहिये। वस्तुतः सभी शब्द एकही हैं किन्तु वेदोक्त सत्तावान शब्दोंकी मन्त्रशक्ति अद्वितीय कही जाती है क्योंकि उनके हेतु पुरुषार्थ है जो यज्ञविधि का आधार है। परमात्मा के द्वारा उन शब्दोंको भी वही सामान्यसा स्वरूप दिया गया है कि जो अन्योंको है। वहाँ किसी प्रकार

की अलौकिकता नहीं। जो देखेगा वह जरूर अनुभव करेगा। अन्योंके लिये मात्र सर्वसामान्य शब्दोंके समानही यह सब है। यह परमेश्वर द्वारा निर्मित एक कुतुहल सा है। अनेक व्यक्तियों में व्यक्त हुआ यह आविष्कार सर्वथा सर्वत्र क्यों अनुभवगम्य नहीं होता ? यद्यपि उसकी सत्ता है तो भी वह सर्वसामान्य रूपमें प्रकट नहीं होता।

यहाँ दूसरा कोई मार्ग नहीं कि जिसका वर्णन करूँ। यही एक ऐसा मार्ग है कि जो अत्यन्त सरल तथा समीप है, साथही उसके द्वारा मनुष्यका भी कल्याण होनेकी पूरी क्षमता इसीमें है। कल्याण का यही एक मार्ग है जो सर्वथा सहज, योगसिद्ध है। अगर इसका सहजत्वही दूर हो जाय तो फिर कष्टही कष्ट हैं। यह मार्ग सहज है अतः कष्टरहित है। साधक की प्रगति अपनेआप हो सकती है। व्यक्ति व्यक्ति में स्थित उस परतत्त्वका सहज स्वाभाविक आविष्कार स्वधर्मरूप यज्ञके द्वारा हो सकता है। उसे अपनाने में कल्याणही एक है। व्यक्ति व्यक्ति में स्थित अनेक सा दिखाई देनेवाला वह परमतत्त्व इस सृष्टिमें भी विविधतासे विलासमान है। किन्तु उसकी एकात्मकता अनुभव होनेमेंही सहजयोग की साधना है। वहाँ अनेकों में एकत्व है और वह एकही अनेकोंमें आभासित है। उसकी एकात्मकता का महत्त्व प्रतीत होनेमें जीवन का सारसर्वस्व अपने हाथ आ जाता है। यहाँ और कोई रास्ता है भी नही। वस्तुतः यह तो ईश्वरी महामाया का आविष्कार है कि जो एक का अनेकत्व उद्भासित करता

है। उसकी अनेकविधता में व्यक्त होनेवाला अभिनव कलाविलास एकात्मकता को अबाधितही रखता है। अतः प्रयत्नपूर्वक अपने जीवन में यह एकत्व अनुभव करने की नितांत जरूरी है। उसीलिये अनुष्ठान हो। वह बहुविधतासे संपन्न हुई महामाया परतत्त्वका एकात्म अधिष्ठान लिये है। ऐसा जान लेनेपर ही उस सर्वात्मस्थित परमात्मतत्त्व का प्रकाश फैल जाता है। उसके लिये प्रयत्नशील रहनाही देशसेवा है। वहाँ मनुष्य का स्वभाव सहजता को प्राप्त होताहै, उसमें अभिमान, दंभ या दर्प नहीं रहता। इस स्वाभाविकता के कारण गुणभी अपनो सर्वोत्तमता का परिचय देते हैं। परिणामस्वरूप यह सृष्टि केवल आनन्दमयी हो जाती है। हमारी जीवनयात्रा में उस समय केवल एकत्वकी व्यक्ति-निविष्ट जीवकीही प्रेरणा तथा सहायता नहीं रहती तो यच्चयावत् सृष्टिमें बहुविधता से स्थित परतत्त्व की सहायता अनेकों आविष्कारों द्वारा हो जाती है। यह समूचा जीवन अमृतमय, आनंदरूप हो जाता है। अब परतत्त्त की केवल कल्पनाही नहीं, किन्तु उसकी वस्तुस्थिति से हम चिरपरिचितसे हो जाते हैं, उसका निरन्तर अनुभव करते हैं। अब यत्र तत्र सर्वत्र एक आनन्दही समा जाता है, कर्तव्यकर्म भी आनन्दरूप होता है। इतनाही नहीं तो हमारा जन्म, हमारी मृत्यु सब कुछ आनन्द की लहर सा बन जाता है। इस अनुभूति में उस महामाया ईश्वरी की पूजा है। उसकी कृपाका फल वह जरूर दिया करती है। वह खुद पुरुष के साथ मिलजुलकर है अतः

हम प्रकृति तथा पुरुष दोनोंके दर्शन पा सकते हैं। वहाँ पुरुषार्थ सिद्ध है। जो पाना था वह पाया गया। अतः कर्तव्यही एक है कि जो अनेकोंमें स्थित है, उसकी यथार्थता अपनानीही चाहिय। इसी प्रयत्न में मनकी विशाल विकसनक्षमता अनुभव हो सकती है। केवल संकुचित वृत्तिसे यह काम नहीं होगा। उस विश्वाकार संभवरूप जो महान सहजयोग है वही तो सहज स्वाभाविक रूपमें हमारा उपजीवन होना चाहिये। समष्टि तथा व्यक्ति में उसी एकात्मक अनुभूतिका प्रत्यय दिलानेवाला यह सहजस्वाभाविक आयोजन, योग है, उसके सिवा अन्य कोई चारा हैही नही। अतः हमें सर्वथा उसकोही सत्कारपूर्वक अनुष्ठान करते रहना चाहिये ॥१३०॥

**सर्वाणीन्द्रिय कर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।**
**आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञान दीपिते ॥२७॥**

अर्थ :- कुछ ऐसे भी योगी हैं, जो सभी इन्द्रियों की चेष्टाएँ, तथा प्राणापानादि सभी वायुओं के कर्म, आत्मज्ञान से प्रदीप्त आत्मसंयमयोगरूप अग्निमें-चित्तका निरोधरूप योग, उस योगाग्निमें-हवन करते हैं।

येकि या परि पार्था। दोष क्षाळिले सर्वथा।
किं हृदयारणि मंथा। विवेक केला ॥१३१॥

अर्थ :- और किसीने हे पार्थ! इस प्रकार सर्वथा दोषों का क्षालन किया। किसीने हृदयरूप काष्ठपर अग्नि उत्पन्न करके विवेकरूप मन्थनदण्ड सिद्ध किया। (मानो विवेक कोही अग्नि उत्पन्न करने का दण्ड दिया।)

व्याख्या :– इसप्रकार अनुष्ठान करते हुए सभी प्रकार के दोषोंका क्षालन हुआ । अब दोष बिलकुल रहा नहीं । विवेक के द्वारा अन्तःकरण का मंथन ही प्रारम्भ हुआ । जिससे प्रेमरूप नवनीत प्राप्त हुआ है । उस प्रेमके द्वारा अन्तःकरण में श्रद्धा, भक्ति, नम्रता आदि सर्वोत्तम गुणोंका उत्कर्ष अनुभव किया जाने लगा । फलस्वरूप अब नम्रताही शेष है, सिर नवानाही रहा । इस अन्तस्थित विवेकने समष्टिरूप विवेक की पूजा की। विवेक विवेक कोही अनुभव करता रहा । उसका अपना स्वभाव उसे ज्ञात हुआ। उसके द्वारा जीवन के अक्षरतत्त्वों का निगूढ रहस्य अब मुखर होने लगा। यहाँ पंचतत्त्वों का प्रतिपाल है, पंचभूतों का पोषण है । साथही उनमें निहित आत्मराज की पूजाभी है । अतः यथानिर्देश प्राप्त पोषण के कारण वह अक्षरतत्त्व प्रसन्न हो जाता है । उसे अपनी आत्मीयता अनुभव होने लगी । देवताभाव जागृत होनेसे उसे ईश्वरीय सायुज्यता प्राप्त हो चुकी । जिसने अपने माथेपर अमृतस्वरूप चन्द्रको धारण किया है उस परमतत्त्वरूप श्रीहरिजी का यह पुण्य प्रसाद है। जीवभाव तो कहीं नष्ट होगया । अब शेष है 'शिवत्व', 'शिवरूपत्व', या शिवसायुज्य । अतः नमः शिवाय । पूष्णवेनमः । उसकाही अलभ्य दर्शन सुलभ हुआ । वहाँ देवता भाव है, दिव्यता है, अमरत्व है, विशाल ईश्वरी सत्ताका ऐश्वर्य है। यह ऐश्वर्य इस विज्ञान में अपनी सभ्यता के कारण सबको सुख, आनन्द, उल्हास प्रदान करता है ।

शब्दविषय की सार्थकता सिद्ध हो जानेके कारण यहाँ

उसकी अभिव्यक्ति परमआल्हादक हो जाती है। जिस प्रकार वह इन्द्रियों को प्रिय होता है वैसेही उसकी आत्मनिष्ठा के कारण वह देवताभावको ही परमप्रिय सा बन गया। प्रकृति-देवीको भी उसकी संपन्नता लुभावनी नजर पडी। चित्तवृत्तियों के निरोध के कारण वहाँ ज्ञान का सहजही उदय हुआ। ज्ञान सामर्थ्य के कारण वहाँ आत्मसत्ता विलसित रहती है। उसे स्थिर करने का प्रयासही कर्मयोग का सहज स्वभाव है। सभी कर्म ईश्वरार्पण बुद्धिसे होने लगे। एक प्रकार से कर्म के प्रति सहजभावही वहाँ उदित है। वही यज्ञद्वारा सिद्ध होनेवाला योग है। किंवहुना यही योग यज्ञरूप है। इसे ही यज्ञानुष्ठान कहा जाता है। सभी कर्म ईश्वरार्पण करनेसे इस सहजयोग की सुस्थिति है कि जहाँ वह आत्मसत्ता अपनी स्थितिमें प्रकाशरूप होकर विद्यमान रहती है। अनुष्ठान होता तो जरूर हैही किन्तु साथही उस अनुष्ठान द्वारा तुष्टि पुष्टि तथा शांति भी आ जानी चाहिये। यह तो स्पष्ट है कि कर्मों का समर्पणबुद्धिसे अनुष्ठान हो जानेसे उसमें विलक्षण शक्तिका योग रहता है। प्राणाधार शक्ति उसमें पुष्टि देती है। सभी कर्मोंमें उस आत्मतत्त्व का चैतन्यही मानो ओतप्रोत हो जाता है। अर्थात् जो सेवन होगा, जो कर्म होगा, जो अन्न खाया जायेगा वह वस्तुतः यज्ञरूप हो जाता है। वह सभी उस विशाल यज्ञका एक विधि, एक सेवा, एक विधान सा बन जाता है और उसकी अपनी यथार्थता प्रकट करने में सर्वथा समर्थ हो जाता है। यह अनुष्ठान अपनी नैष्कर्म्यता के कारण

एक विशाल आत्मीय भाव अपनाता है। अतः परिपूर्ण पुष्टि, तुष्टि तथा शांति यहाँ सहजही सुलभ है। शब्दका उच्चार अगर उस प्राणाधार शक्तिका आवाहन करते हुए किया जाय, शब्दकी असली सत्ताका इस अक्षरभाव का पुण्याहवाचन उसमें हो, शब्दके उच्चरण में परतत्त्व की प्रतिष्ठा का स्पर्श हो तो फिर वही उच्चारण सचमुच वेदमन्त्र रूप है। उसमें अनन्यसाधारण शक्ति निहित है। जीवन की सृजनशीलता के साथ उसकी एकात्म सहजस्थिति का प्रत्यय दिलाने की क्षमता यहाँ पराकाष्ठा को पहुँच जाती है। उसका अक्षररूप बाल्य-तारुण्य तथा वार्धक्य की अवस्थाओं के ऊपर है, वह चिरतरुण, नित्यनूतन, अक्षय है। वहाँ धैर्यकी सच्ची धारणा है, संसार श्रमका घटना है, प्रापंचिक जीवन में भी सुखका प्रसन्न प्रभाव हैं। आत्मतत्त्व की पहचान में जीवन में आदर, आल्हाद तथा आनन्द की पराकाष्ठा है। वहाँ पुरुषार्थ है, पुरुषतत्वकी पूजा है। और यह सबकुछ सर्वथा सहज, अनायास स्वभावसिद्ध है। अतः यहाँ धर्मकी भी धारणा है, कर्म यथाधर्म होते हैं, नैष्कर्म्य स्वभावसंपन्न है। चित्तवृत्तियों को निरोध, उनकी एकाग्रता तथा आत्मज्ञान की सहजता आदिसे ध्यान, नाम, शब्द तथा अर्थ सब सफल हो गये। उनकी धारणा स्थिर होगयी। वहाँ शाश्वत जीवन का स्पर्श होगया। अतः उनके श्वासोच्छ्वास में प्राणायाम है, प्राणायाम के कारण इन्द्रिय निरोध है और निरोध से सहजही आत्मभाव की अनुकूल संवेदना है। इसेही योगयज्ञ कहा जाता है।

जो कुछ है उसीको ही अपनी योग्यता के अनुसार सुस्थिर करना ही योग है। यत्र तत्र सर्वत्र उद्भासित सत्ताका स्पर्श प्रकट करानेमें उसका अनुष्ठान है। शब्द का सामर्थ्य उस अक्षरत्व की अनुभूति में निहित है। अतः उसकी सार्थकता उस तत्त्वकी अभिव्यक्तिमें, उसके पालन में या उसके पोषण में है। इसेही यज्ञ कहा जाता है। शब्दकी अक्षरसत्ता का पोषण जहाँ होता है वह यज्ञ है। इसप्रकार योगरूप यज्ञका स्वरूप अपने स्वभाव की सहजता सिद्ध करने का महान् प्रयास है। उसकी सफलता योग्यता अपनानेमें है। जिसने वह अपनायी वह सामर्थ्य को भी अपनाता रहा। असल में आत्मिक सामर्थ्यही सत्ता है।

उस अन्तःस्थ योगका विधान अभिनव सा है। हमारा हृदयही उसकी कसौटी है। उसपर विवेक को कसा जाता है। उसकी धार तेज बनायी जाती है। विवेकमें ही वे अपने को लीन करते हैं। उसे अपने अधीन करते हुए उसका सामर्थ्य प्राप्त कर लिया। विवेक का वह विशाल शक्तिस्रोत जिन्होंने अपनाया है उनका जीवन एक असाधारण आदर्श है। विवेकहीन बात वहाँ नहीं। श्रीगुरु की आज्ञाप्रमाण करके विवेकानुशासित जीवन उनका साधना अग्रसर करता है। उसमें उनकी तपश्चर्या होती है। विवेक काही यह संपूर्ण विधान है, व्यवहार है तथा अनुशासन भी। विवेकरूप मन्त्र का वस्त्र उन्होंने परिधान किया। विवेकको ही मानो पहनाया। विवेक के नित्यनूतन वस्त्र उस हरक्षण जीर्ण होनेवाली

मन:स्थिति को पहनाने के लिये सुयोग्य हैं। मन:स्थिति का विषादरूप इन्हीं विवेकप्रसाद के वस्त्रोंके कारण प्रसन्नतामें परिवर्तित होता है। उनके द्वारा जीवभाव का जीर्णत्व नष्ट होकर आत्मभाव का नित्यनूतन विलास अनुभव होता है।

॥१३१॥

तो उपशमें निहटिला । धैर्यभारें दाटिला ।
गुरुवाक्यें काढिला । बळकटपणें ॥१३२॥

अर्थ :– उसे शांतिरूप रज्जु के द्वारा दृढ़तासे बाँध रखा। धैर्यरूप भारसे दबोचा तथा श्रीगुरुवाक्यरूप जोरसे मथित किया।

व्याख्या :– उस विवेकही के कारण मनको विलक्षण सामर्थ्य प्राप्त होता है। मनमें आलस्य, विषाद, मोह, मत्सरादि विकार निर्माण नहीं होते। उसका नित्यनूतन रूप उसकी ताजगी बनाये रखता है। वहाँ मनका धैर्य असाधारण रहता है। वासना शाँत हो जाती है। उसकी विकारवशता, मोहवशता अब नहीं रहती। उसमें असीम धैर्य प्राप्त होता है कि मानो ब्रह्मसमुद्र अपनी विशालता के साथ वहाँ अवतीर्ण है। ब्रह्मरूपता का सामर्थ्य उसके मनको प्राप्त हुआ। मानो वह मनही साक्षात् ब्रह्म हो गया। श्रीगुरुवाक्यरूप कामधेनु के कारण उसके जीवनको, मनको, बुद्धिको स्थिरता प्राप्त हो गयी। उसे कर्तव्य प्राप्त हुआ। उसे नाम मिल गया। उसका काम भी हुआ। वह नामधारक बन जगत् में नैष्कर्म्ययोग का आदर्श उपस्थित करते हुए श्रीगुरुकी कृपासे भगवत्चिंतन में

मस्त रहने लगे ।।१३२।।

ऐसे समरसें मंथन केलें । तेथ झडकरि काजा आलें ।
जें उज्जीवन जालें । ज्ञानाग्नीचें ।।१३३।।

अर्थ :– इसप्रकार समरसतासे–सभी वृत्तियों के तादात्म्य से यह मंथन हुआ । वहाँ सफलता झट सिद्ध हुई । ज्ञानरूप अग्निही प्रदीप्त हुआ ।

व्याख्या :– उससे वासना का अभिनिवेश नहीं रहा । उसका व्यामोह भी नष्ट हुआ । उसे जो सहजप्राप्त होता है, उसमें ही वह परितृप्त होती है । इच्छाकी तृप्ति झट हो जाती है वहाँ विलंब नहीं । पहले इच्छा तो होती ही नहीं अगर हो तो उसकी तृप्ति भी विनाविलंब हो जाती है । उस सगुणता का सर्वश्रेष्ठ रूप, धैर्यका आगर श्रीगुरु की प्रसन्नमुद्रा वहाँ दर्शनसुलभ रहती है । उनकी कृपासे ज्ञानाग्नि का मन्थन हो जाता है । वहाँ कर्मोंकी सफलता झट हो जाती है । नैष्कर्म्य भाव के कारण वे कर्म भी केवल वृत्तिकी रम्यता बढाते हैं । वहाँ कर्तव्यकर्म सहजस्वाभाविक तथा प्रसादपूर्ण हैं जो वृत्ति का क्लेश दूर करके उनकी धर्मधारणा की रम्यता बढाता है । ।।१३३।।

पहिला रिद्धिसिद्धिचा संभ्रम । तो निवर्तून गेला धूम ।
मग प्रगटला सुक्षम । विस्फुलिंग ।।१३४।।

अर्थ :– पहले पहल ऋद्धि तथा सिद्धि का धुआँ चलते बना और उसके पश्चात् अग्निकी सूक्ष्म चिनगारी प्रकट हुई ।

व्याख्या :– ऋद्धि सिद्धि के कारण यहाँ मनकी वासना झट फलद्रूप होती है। किसीभी प्रकार की वासना यहाँ अतृप्तसी नहीं रहती। किन्तु बात यह है कि वासनातृप्ति प्रधान उद्देश नहीं हो सकता। ऋद्धिसिद्धिका सामर्थ्य प्राप्त होनेपर उसका विनियोग कुछ लोग वासनातृप्ति के लिये करते हैं, जो सर्वथा अनुचित है। अतः वासनातृप्ति का यह भोगात्मक स्वरूप देखकर उन्होंने उन ऋद्धिसिद्धियों को त्याग दिया। उनकी निरर्थकता पहचानी। उन्होंने उस ज्ञानाग्निमें ही वास किया। उस ज्ञानकला को अपनाया, उसमेंही स्थिर हुए ॥१३४॥

तया मनाचे मोकळें। तेंचि पेटवण घातलें।
जें यमनियमिं हळुवारलें। आइतें होतें ॥१३५॥

अर्थ :–उस यमनियमादि के कारण जो मृदु हुआ है, उसी मनका अनिर्बंध स्वरूपही मानो यहाँ इंधन हुआ।

व्याख्या :– यहाँ मनकी विशालता अनुभव की जाती है। सहजयोग की संपन्न साधना इसमें सुस्थिर है। योग के विविध अंगोंका यथाधर्म अनुष्ठान हो जानेसे, उनको योगमें ही संनिवेश दिया गया। वहाँ योगभूमिका तयार हुई। यमनियमादि द्वारा प्राप्त जो ज्ञानस्वरूप उपासना उसकी अनुभूति वे निरन्तररूप में अनुभव करने लगे। आत्मनिष्ठ महात्मा के दर्शन का सौभाग्य श्रीगुरुके रूपमें प्राप्त हो जानेसे उनका सारा जीवन उस आकाशतत्त्वमें अबाधित रूपमें स्थिर हुआ। ज्ञानयोग की यह परिक्रमा परिपूर्ण हो जानेसे अब न प्रदक्षिणा रही,

न परिक्रमा। उनका निवास सर्वथा ज्ञानमें ही सुप्रतिष्ठित हुआ ।।१३५।।

तेणें सादुकपणें ज्वाळा समृद्धा।
मग वासनांतराचिया समिधा।
स्नेहेंसि नानाविधा। जाळिलिया ।।१३६।।

अर्थ :– अग्नि प्रखरता से प्रदीप्त होनेके कारण उसकी ज्वालाएँ धधकने लगी। उसमें वासनाओं की समिधाएँ तथा ममतारूप घी जला दिया।

व्याख्या :– ज्ञानयोगका ही सुदृढता के साथ अनुष्ठान शुरु होनेके कारण भिन्न भिन्न वासनाओं की समिधाअें बन गयीं। उन्हींको यज्ञमें जला दिया। वासनाओं की समिधायें ममत्व, प्रीति तथा अहंकारादि घी के साथ जला दी गईं। वासनाओंका ही हवन किया जानेसे अब वे अपने आप मुक्त हो गयीं। यज्ञके ज्ञानाग्नि के कारण वासनाओंका हवन, तथा अभिमानादि का भी हवन हो सका। संपूर्ण यज्ञकांड काही यजन हो गया। वे स्वयं तपोरूप बन गये जिससे वासनामुक्ति अपने आप हो सकी।

तेथ सोऽहम् मंत्र दिक्षितिं। इन्द्रिय कर्मांचिया आहुति।
तिये ज्ञानानळिं प्रदिप्ति। दिधलिया ।।१३७।।
पाठि प्राण प्रक्रियेचिये सेवेनसि।
पूर्णाहुति पडलि हुताशिं।
तेथ अवभृत समरसिं। सहजें जालें ।।१३८।।

मग आत्मबोधिचें सुख । जे संयमाग्निचे हुतशेष ।
तोचि पुरोडांश देख । घेतला तिहिं ।।१३९।।

अर्थ :– उन मन्त्रदीक्षितों ने वहाँ सोऽहम् मन्त्र के द्वारा इन्द्रियों के कर्म की आहुतियाँ उस प्रदीप्त ज्ञानाग्नि में समर्पित कीं ।

उसके अनन्तर प्राणकर्मरूप यज्ञपात्रसे पूर्णाहुति समर्पण की गयी, तब वह अवभृत स्नान, सभी वृत्तियों की तदाकारता से अनायास सहजही प्राप्त हुआ ।

आत्मबोध द्वारा प्राप्त सुखानुभव मानो हुतशेष–प्रसाद–है, वह पुरोडांश जिन्होंने स्वीकार किया–

व्याख्या :– योगरूप यज्ञके अनुष्ठान में प्राणायाम के द्वारा अजपाजप की अनुभूति आ जाती है । ईडा तथा पिंगला, या सूर्य तथा चंद्र नाडियों के अन्तर्गत जो प्राणवायुका प्रवाह अबाध रूपसे चलता है उनका नियमन करते हुए, "सोऽहम् हंसः" का जपविधान शुरु रहना एक महत्त्वपूर्ण स्थिति है । यह एक अत्यन्त उच्च योगानुभव है कि जहाँ उस ध्वनि का प्रस्फुरण चिदाकाश में होता है । वहीं ओंकार का निवास है तथा उसमेंही मनोलय हो जानेसे मन संपूर्णतया योगरूप हो जाता है, यज्ञकी सफलता प्राप्त होती है । वहाँ मानो अवभृत स्नानही हो गया । प्राणायाम की क्रियाको योगानुष्ठान की सहायता हो जानेसे योगाग्नि का उद्भव हुआ । योगाग्नि की तेजोमयी ज्वालामें इन्द्रिय उनकी क्रियाओं के साथ हवन हो गये । उनकी आहुति दे दी गयी । प्राणायाम के द्वारा प्राणापानादि क्रियाकाही सेवन हो जानेसे वहाँ परिपूर्ण आहुति उस योगरूप ज्ञानाग्नि

को प्राप्त हुई। उस योगयज्ञ की अन्तिम स्थिति जो सहज सामरस्य, सहजानुभव तथा अजपा जप का अखंड अनुसंधान, वह प्राप्त हो गई। "ॐ सोऽहं हंसः।" का जपविधान योगी के अन्तर में अपने आप शुरु हुआ। उसकी दीक्षा देनेवाले श्रीगुरु की महत्ता यहाँ फिर अनुभव को गयी। उन्होंने इस योगयज्ञ में अपने अधिष्ठान द्वारा, प्राणायाम की साधना सुकर की। साथही संयमाग्नि के परिणामस्वरूप जो आत्मसुख का संपन्न उपहार प्राप्त होता है, वह भी श्रीगुरुकी ही कृपा है। आत्मसुख की इस दशामें प्राणाधार शक्तिकी–श्री मारुती की–पहचान हो जाती है। वहाँ वायुका वह तेजस्वी, सर्वगत तथा सर्वाधारसंपन्न महात्म्य योगी अनुभव कर सकता है। उसके द्वाराही आत्मबोध का पुरोडाँश, उपदेश, या यज्ञीय प्रसाद प्राप्त हो जाता है। वह आत्मबोध योगरूप यज्ञका परमपावन प्रसाद है। योगक्रियाओं का वह परिणाम है साथही श्रीगुरु की सेवाका अनुग्रह है। वह प्रसाद यज्ञक्रियाओं का ही पुरोडाँश है और वही साक्षात् यज्ञक्रिया भी है। श्रीसरस्वती का चिरजीवन, उसका त्रिकालाबाधित यज्ञ पुरोडांश के रूपमें योगीद्वारा अपनाया जाता है। वही यज्ञका सत्यस्वरूप है। उस ज्ञानस्वरूप का एक पूर्णाविष्कार श्रीगुरु के रूपमें है। साक्षात् ज्ञानही वहाँ स्थिर है। यज्ञसंभार का सर्वक्रियागत अधिष्ठान वे ही होते हैं और उन्हींकी कृपालोभ के कारण यज्ञकी सांगताका, उसकी सफलता का शुभयोग प्राप्त है। उनका दर्शन साक्षात् ज्ञानदर्शन है, श्रीसरस्वतीका ही साक्षात् दर्शन है।

॥१३७, १३८, १३९॥

एक ऐसें इहिं यजनिं । मुक्त जालें ते त्रिभुवनिं ।
या यज्ञक्रिया तरि आनानि । परि प्राप्य तें एक ।।
।।१४०।।

अर्थ :– वे सचमुचही इस यज्ञके द्वारा त्रिभुवन में जीवन-मुक्त हुए । वस्तुतः ये यज्ञक्रियाएँ भिन्न भिन्नसी दीखती हैं किन्तु उनका प्राप्य, प्राप्तव्य एकही है ।

व्याख्या :– उस ज्ञान का अत्यन्त शुभ तथा दीप्तिमान योग यज्ञके द्वारा प्राप्त हुआ । वह सुवर्णमयी दीप्ति, वह अत्यन्त कांतिमान् स्वरूप तथा सर्वथा शुभ तथा नित्यस्वरूप आत्माका महत् मंगल दर्शन यज्ञकी सफलता का परिचायक है । उन यज्ञक्रियाओं के द्वारा संचित, प्रारब्ध तथा क्रियमाण कर्मोंके बन्ध टूट गये । तीनों लोकमें उन्हींके द्वारा जीवकी गति रुद्ध होती है । अब वह आत्मस्वरूप होकर तथा कर्मबन्ध टूटने के कारण सर्वथा मुक्तजीवन का अधिकारी बन गया । मुक्तात्मा की योग्यता का वह मुक्त ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त सा चराचर में समा गया । उसकी सर्वत्र सदा सम ऐसी स्थिति हुई । यज्ञक्रियाओं के अनेक विधि तथा विधान बतलाये गये हैं । उनकी अनेकता भिन्न भिन्न हेतुके कारण कुछ हद्तक अपनी पृथक् सत्ता दिखलाती है, परन्तु वहाँ वस्तुतः पुरुषार्थही हेतु है । पुरुष की उपलब्धि का प्रयत्न यज्ञकी क्रियाओं में सदैव अन्तर्निहित है । किसी दूसरे हेतुसे किया गया यज्ञभी इस हेतुको अविरोधी रहता है । पुरुषार्थ प्राप्ति, आत्मीयता की अनुभूति तथा सर्वंकश सत्ताकी चिरप्रतीति यज्ञके अनुष्ठान

में अपनायी जाती है। वहाँ प्रेमका स्वरूपही पलट जाता है। प्रेमका आलंबन अब पाँचभौतिक जीवन नहीं, वह तो आत्माकी अपनी ज्योतसा बन जाता है। वहाँ उसका हेतु, आलंबन, तथा कार्य भी प्रीति है। पुरुषार्थका ही एक रूप प्रेम है जो सच्ची आत्मनिष्ठा है। अतः यज्ञ का प्राप्य भी वह दिव्य प्रेम प्राप्ति हो जाता है। जब वह अनुभव किया जाता है तब वस्तुतः पुरुषार्थ के साथ प्रेमका अन्तर्स्रोत प्रकट होता है। उसके अनुग्रह के कारण आत्मीयता की आभा सभी बातोंको तेजोरूप बना देती है। प्राप्ति मानो प्राप्तिको प्राप्त कर चुकीं। वह ब्रह्मसंपदा है। उसकी प्राप्ति सर्वोत्तम सुखलाभ है। उसे प्राप्त करने के लिये ही अनुष्ठान होता रहे। उसके विधि विधान अपनाया जाय। उसके द्वारा अपनी सहज स्थिति स्थिरता को प्राप्त होगी। अपनेही पैरोंको बल प्राप्त होगा। वहाँ आत्मीयता तथा साक्षात् प्रीतिकाही उद्भव है। मानो प्रेमही प्रेमको पा गया। ईश्वरत्व की निर्गुण निराकार सत्ता इस प्रीतिके कारण सगुण साकार रूपमें अपना सौंदर्य मुखर करने लगी। वह जीवन की मूलभूत सत्ता, वह चैतन्य अब मूर्त हो गया। नामरूपात्मक अधिष्ठान प्राप्त होनेके कारण शब्दका संकेत सुनिश्चित हो गया। उस अक्षरत्व का अक्षर जो नाम वह उसका वाचक हो गया। उसकी सार्थकता सिद्ध हुई। उसका अन्योन्यसंबंध दृढ हो गया। विचार तथा बुद्धिस्थैर्य दोनोंकी दृढ़ता के कारण प्रज्ञा का बल वृद्धिगत होता गया। इसीलिये प्रयत्न होना है, प्रयत्न हुआ

है। वहाँ प्राप्य वस्तुका ही महत्त्व रहा न कि किसी क्रियाका या किसी यज्ञविधान का। महत्त्व प्राप्यको है, साधन को नहीं। 'साधनानाँ अनेकता' होनेपर भी वह 'साध्य' एकही है। उसकीही महत्ता है। उसके प्रति किसी भी प्रकार दुविधा नहीं होनी चाहिये। 'एकोऽहं बहुस्याम्' इस श्रुतिवाक्य की सार्थकता अनुभव होने लगी। वही एक है, जो अनेकों में विलसता है, अनेकरूप हो जाता है। अनेकों में उसकी सत्ता होनेपर भी उसी एककी ही प्राप्ति अभिप्रेत है, उसकी उपलब्धि के लिये ही यज्ञविधान है, योग है, उपासना है और सबकुछ है। तिसपर भी यह विशेष है कि भिन्न भिन्न यज्ञोंके अनुष्ठान द्वारा उसकी प्राप्ति अपेक्षित है तोभी वह सबको सुलभ नहीं होती। सब उसे नहीं पा सकते। ऐसा कोई विरलाही होता है कि जो यज्ञके अन्तःस्तलमें स्थित उस परतत्त्वकी महान् प्रीतिका अनुग्रह प्राप्त कर जाता है। यह ज्ञानरूप प्रीति बहुतही दुर्लभ हो जाती है। अतः सबके लिये उस यज्ञके द्वारा एकही प्राप्य जरूर प्राप्त हो सकता है और वह है अमर्त्यभाव का अमृत ! उसके द्वारा अमरपद की प्राप्ति है। उसके अर्थ को साकार करनेवाला संतत्व वहाँ विद्यमान है। उन्हींकी ही कृपा है कि प्रीति या परतत्त्वसाक्षात्कार या अमर्त्यभाव को पाना। हर क्षण, प्रत्येक निमेष को इस अमृत स्वरूप की प्रतीति, वह अमरभाव विद्यमान रहता है। जीव शिव का सामरस्य यहाँ अनुभव किया जाता है। उसके अक्षर रूपकी शब्दसाधना, वह नामस्मरण इस ढ़ँगसे होता है कि जिससे

प्राणशक्ति का संयमन होकर वहाँ शब्द सामर्थ्य का स्रोत फूट पडता है। जिससे शिव तथा शक्ति, पुरुष तथा प्रकृति की साम्यावस्थाही परिणत होती है। वहाँ विश्वका विलयन है किन्तु विश्वात्मकता का प्रत्यय है। अक्षरों की यथार्थता चिदाकाश में प्रत्यय दिलाती है। शब्द, उसके अर्थ तथा उसकी वास्तवता इन तीनोंका सामंजस्य तथा धारणा और अर्थ की परस्परानुग्रही सत्ता आदिका अन्वयार्थ सुलभ हो जाता है। उपर्युक्त बातोंकी यथार्थ कल्पना, ज्ञान तथा अनुभूति के कारण उन्हींके द्वारा यज्ञविधान तथा जीवन साधना सफल बनाने की चेष्टा हो जाती है। जहाँ जहाँ जीवित्व अपनी बद्धता के कारण फँस जाता है, जीवकी उपाधि उसकी प्रकाशमानता को ढँककर बैठी है और जहाँ कर्मोंका बन्धन उसे जकडे हुए है वह सर्वथा शुभप्रद, योगानुशासित तथा आत्मलक्षी होनेके लिये केवल संतोंके द्वाराही सामर्थ्य प्राप्त होता है। वह तो उन्हींका ही महान् उपकार है। और कोई नहीं कि जो जीव के इस जीर्णारण्य की डगर डगर भर देगा, झाड फूँस काँटे नष्ट कर देगा और वहाँ आत्मानन्द का नन्दनवन बहरायेगा। वह तो सन्तोंकी ही महती देन है। उनकी सेवा सर्वथा कर्तव्य है। हमारा जीवन जो ईशसेवा की ओर अनवधानता के कारण, साधनाहीनता के कारण व्यर्थसा होता है, जीवन में साधना, योग तथा अनुष्ठान नहीं होता। वह होनेके लिये, योग युक्तिका अनुष्ठान संपन्न करने के लिये सन्तोंका ही अनुग्रह कारण है। उसकीही योजना

महत्त्व पाती है, सक्षम है । वहाँ कर्मकी आत्मीयता है, जीवन की साधना है तथा कर्तव्य की निष्ठा है । किन्तु वह सर्वथा सन्तोंकी कृपा है । श्रीगुरुका अनुग्रह है ।।१४०।।

**द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।**
**स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ।।२८।।**

कुछ (लोग) यज्ञकी भावना से द्रव्य का विनियोग करते हैं, वह द्रव्य यज्ञ है, तो कुछ तप का अनुष्ठान करते हैं, वह तपोयज्ञ है, वैसेही और कुछ चित्तवृत्तियों का निरोध करते हुए ध्यान करते हैं, वह योगयज्ञ है, कुछ वेदाध्ययन करते हैं वह स्वाध्याय यज्ञ है, कुछ शास्त्रज्ञान प्राप्त करते हैं, वह ज्ञानयज्ञ कहलाता है। कुछ ऐसे भी हैं कि जो तीव्रव्रत का अनुष्ठान करते हैं, वह व्रत यज्ञ है ।।२८।।

एक द्रव्ययज्ञ म्हणिपति । एक तपसामग्रिया निपजति ।
एक योगयागही आहाति । जें सांगितले ।।१४१।।

अर्थ :- एक तो द्रव्ययज्ञ-द्रव्यादिका दान, विनियोग करता-है, तो दूसरा तपाचरण की साधन सुविधाओं में लगे रहना-तपयज्ञ है और योगयागादि का अनुष्ठान करना-अष्टांग योगरूप यज्ञ है । ये सभी यज्ञही हैं ।

व्याख्या :- अनेकविध प्रकारों से किये गये यज्ञोंके द्वारा जो प्राप्य प्राप्त होना है, वह भिन्न नहीं । भिन्नता भौतिक है, आत्मिक नहीं । भौतिक उद्देश भिन्न हो सकते हैं किन्तु आंतरिक अनुसंधान, समाधान, तृप्ति एकही है। उसका आलंबन आत्मा है और यही बात महत्त्वपूर्ण है। कुछ लोग द्रव्ययज्ञ करते

हैं। द्रव्यका विनियोग यज्ञभावना से करते हैं। द्रव्यके द्वारा यज्ञविधि संपन्न कराते हैं। उनमें से जो अबुद्ध हैं वे तो मुझे प्रथमतः अव्यक्त तथा मूलप्रकृतिरूप जडही समझते हैं। जडद्रव्य की कल्पना उनकी अबोधता का परिणाम है। अव्यक्त जडतत्त्व, वह द्रव्य बादमें व्यक्त हुआ, सचेतन हुआ ऐसी उनकी कोरी कल्पना है। जडद्रव्य की सत्ता सर्वत्र स्वीकार करना वास्तवतासे वंचित हो जाना है। परमात्मा मूलतः अविकार्य है तो भी चैतन्ययुक्त है। वह अव्यक्त होनेपर भी जड नहीं। साथही व्यक्ताअव्यक्त के परे उसका सर्व साक्षीभूत, ज्ञानगम्य, शुद्ध चैतन्ययुक्त स्वरूप है। उसका अनुभव कराने का प्रयत्न अध्ययन, संस्कार और साधनाद्वारा हो जानेपर उनका अबुद्धत्व दूर हो जाता है। उन्हें मेरे सत्यस्वरूप का ज्ञान हो जाता है। और जो लोग हैं वे पैसोंका विनियोग करते हुए, संतर्पण, व्रतदानादि कृत्योंके द्वारा पुण्यप्राप्ति के साथ आत्माकी उपासना करते रहते हैं।

उपर्युक्त विधिविधानों का अनुष्ठान उत्कटतासे करनेवालों के द्वारा ईशसेवा हो जाती है। उनकी निष्ठा, उनकी साधना तथा तीव्र तप के कारण आत्माका उन्नयत वहीं अपनाया जाता है। ईशत्व की साधना यहीं भी है और उसकी महत्ता भी। श्रीगुरुकी साक्षात् मूर्ति ईशत्वका ही प्रकटन है। वही मूर्त ईश्वर है। उनके द्वारा आज्ञापित अनुष्ठान सफलता की निश्चितता है। कर्मोंकी सिद्धि वहाँ अनायास है। ईश्वरभाव का ऐश्वर्य श्रीगुरुचरणों में परिणत है। उन्हींके यहाँ उस

ज्ञानकी अखंड प्रज्वलित ज्योत अज्ञानअन्धकार को मिटाती रहती है। उसकी अक्षय दीप्ति जीवन का महान् साक्षात्कार प्रकाशित करती है।

प्रतिमा पूजाका विधान इसीमें समाया है। श्रीगुरुकी मूर्ति ईश्वरीय अभिव्यक्ति है। उसकी साक्षात् प्रतिति है। द्रव्यसामग्री के द्वारा इस पांचभोतिक तत्त्वकी ही पूजा करने का यह जो प्रयास है उसके पीछे एक योग है। ईश्वर विषयक साधना की जो बुद्धि वह भी द्रव्यात्मक तथा पांचभौतिक है। किन्तु उसके द्वारा अन्तःसाधना की अपेक्षा है। यज्ञक्रिया का विधान इस अन्तरंग साधना से परिणत करता है। उसके द्वारा यज्ञकी व्यवस्थिति है, आत्मोपम्य धारणा के कारण योग्यता का प्रकर्ष है ॥१४१॥

एकि शब्दि शब्द योजिजे। तो वाग्यज्ञ म्हणिजे।
ज्ञानें ज्ञेय गमिजे। ज्ञानयज्ञ ॥१४२॥

अर्थ :– और जहाँ शब्दों द्वारा शब्दका ही उपयोजन होता है वह वाग्यज्ञ है। जिसके द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञेयवस्तु का– परब्रह्मका–लाभ होता है, वह ज्ञानयज्ञ है।

व्याख्या :– विश्वसंभावनामें जिन तत्त्वोंकी व्याख्या की गयी है, उन्हींको द्रव्य कहा गया है। द्रव्योंके द्वारा जगत् की निर्मिति है और ये द्रव्यभी आत्मसत्ता के कारण प्राकृतिक विकास है। अतः उनके द्वारा होनेवाला यज्ञ, द्रव्योंके यजन में उनकी मौलिकताका परिचय प्राप्त होता है। शब्दोंकी शब्दोंद्वारा की गयी पूजा वाग्यज्ञ कहलाती है। शब्द द्वाराही उस अक्षरत्व

की उपासना करने की साधना यज्ञरूप हो जाती है, यज्ञकर्ता के विकास में सहायक होती है। ज्ञानके द्वारा ज्ञेयका अनुभव कर लेना ज्ञानयज्ञ है। इस जगत् में ज्ञेय तो एकही आत्मा है। उसे ज्ञात करने से सब कुछ ज्ञात करनेका श्रेय है। अतः वह ज्ञानयज्ञ है ।।१४२।।

हें अर्जुना सकळ कुहाडें। जे अनुष्ठितां अति सांकडें।
परि जितेंद्रियासि विघडें। योग्यतावशें ।।१४३।।
ते प्रवीण तेथ भले। आणि योगसमृद्धि आथिले।
म्हणोनि आपणपां तिहिं केलें। आत्महवन ।।१४४।।

अर्थ :– हे अर्जुन ! वस्तुतः इन सभीका अनुष्ठान करना सचमुच कठीन है किन्तु योग्यता के अनुरूप जितेंद्रिय को शक्य होता है।

योगसमृद्धि से संपूर्ण तथा अत्यन्त कुशल योगियों ने वहाँ (स्वधर्मरूप) अग्निमें अपने को (स्वकर्म) समर्पण किया।

व्याख्या :– इन व्रतोंका अनुष्ठान सचमुच बडा कठीन है। उसके आचरण में कडाई है, कष्ट है। महान् प्रयत्नों के द्वारा ही उनका अनुष्ठान सफलसंपन्न हो सकता है। किन्तु जिन्होंने अपने इन्द्रियों को जीत लिया है, इन्द्रियों को अपने अधीन कर लिया है, उन्होंने ये व्रत भो जीत लिये। जितेंद्रियों को यह साधना कठीन नहीं होती। उसकी योग्यता के अनुसार इन व्रतोंका काठीन्य भी मृदु हो जाता है। वे सुभग हुआ करती है। यहां जो कुशल है, जिनके पास योगयुक्ति का प्रावीण्य है, तथा योगसमृद्धि भी है, उनके द्वारा व्रत वैकल्य के साथही आत्महवन

हो जाता है। वहाँ सहजही यज्ञापोषण है, यज्ञधारणा है। पदार्थजातोंकी निर्मिति प्राकृतिक द्रव्योंके द्वारा होती है। अब वे आत्मसामर्थ्यवान हो जाते हैं। उनके पास ज्ञान समृद्धि है, योगतत्व है, आत्मसत्ता है। ज्ञानही मानो ज्ञानमें सामरस्य पाता रहा। वहाँ सबकुछ ज्ञानरूप, ज्ञानगम्य तथा ज्ञानयुक्त हो गया। जीवन का सम्यक् ज्ञान तथा आत्मनिष्ठा वहाँ उदित हुई। जीवन तथा ज्ञान दोनोंमें सामरस्य, एकरूपता स्थिर हुई।

किसी भी निर्मिती का मूल सर्वांगसुन्दर तथा कलात्मक नहीं रहता। उसके पीछे एक अव्यवस्थित ज्ञानराशी है, अव्यवस्थित अनुभव संग्रह है। साथही जो साहित्य जुटाया जाता है वह भी संस्कारहीन तथा अशुद्धसा रहता है। उसपर यथायोग्य संस्कार होनेके बाद, उसकी अव्यवस्थिति नष्ट होकर एक व्यवस्थित, सार्थक तथा सुन्दर कलाकृति सामने आ जाती है। वे प्रयत्न, वह साधना है कि जो अयोगात्मक को योगरूप बनाती है। योगयुक्त होकर व्यवस्थित ज्ञान के द्वारा जीवन की तथा कृतिकी कुशलता अभिव्यक्त होनेमें यज्ञकी सफलता है। यज्ञके द्वारा जीवन में यह एक अभिष्ट है। व्यवहार तथा व्यवस्था के बीच विहिताचार का सामंजस्य यज्ञसे ही प्रतिष्ठित होता है। अतः जो व्यवहारिक है वह व्यवस्थित तथा योगयुक्त होने से उसका यजन हो जाता है। पांचभौतिक सृष्टिकी जघ्रा ज्ञानके कारण चैतन्य में परिणत होती है। अतः सृष्टि की प्रतिष्ठा ज्ञानमें, चैतन्य में है और क्ही पूजा

अक्षरत्व की उपासना हो जाती है। इस प्रकार यज्ञका यह गहनगूढ़ आयोजन सुस्पष्ट हो जानेसे ही यज्ञकी उपयोगिता सफल है।

सम्यक् रूपसे जो व्रतका अनुशासन करते हैं उन्हें 'संशित' कहते हैं। व्रतका सम्यक् अनुष्ठान होनेके लिये बुद्धिका निश्चय दृढ होना चाहिये तथा मनकी पूरी अनुकूलता अभिप्रेत है। संशित के माने है दृढ बुद्धिके, बलवान प्रज्ञाके तथा सुस्थिर अनुशासन के व्रती। वाणीके द्वारा व्यक्त होनेवाला शब्द उच्चारण, उसकी सार्थक अनुभूति करनेवाले ये व्रती, उनके नियम, तप, धर्म आदि को योगयुक्त करते हुए अपने दृढ प्रज्ञाबल से अनुष्ठान को संपन्न करते हैं। वहाँ नियमन है इन्द्रिय तथा विषयोंका, संयमन है मनके संकल्पों का तथा अनुशासन है श्रुतिसम्मत विधि विधानोंका। अतः अनुष्ठानपूर्व जो अव्यवस्थित जीवनधारा इतस्ततः फूट पडती है, उसे एक सुनिश्चित हेतु, अर्थ, गति तथा दिशा देकर, शब्दसामर्थ्य का विनियोग करके योगयुक्त करने का प्रयास होता है। इन्द्रियों का विषयों से होनेवाला अनुराग उनके सामर्थ्य को नष्ट कर देता है। अवयवों की यह हानि उस अव्यय तत्त्वकी अभिव्यक्ति में नहीं होती। उनका व्यय नहीं होता। वे अन्तर्मुख हो जाते हैं। उस अव्यय तत्त्वके द्वारा व्यक्तस्वरूप को किसीभी प्रकार बाधा न पहुँचाते हुए उनकी हानिसे रक्षा करता है। उनकी यथार्थता पहचानने को उत्सुक कराता है। उस अव्यक्त अक्षर तत्त्वको नामरूपात्मक मूर्त रूप देकर उसकी

व्यवस्थिति जीवन में अनुभवगम्य बना देता है। अक्षरत्व की आभासित सत्ता, उसकी साक्षात् विद्यमानता तथा उसका प्राकृतिक शृंगार जीवनभर सुखानन्द का पोषण करता जायेगा। वह सच्चिदानन्द स्वरूप देवताभाव जीवन में आनन्दघन परमात्मा का पुण्यपावन प्रसाद है।

योगसमृद्धि के कारण वह ब्राह्मण्य मानो प्रवीण हो जाता है। वह कुशलतापूर्वक जीवन के आत्मपरिणामी विविध योग उपस्थित कर देता है। वहाँ आत्मीयता तो हर जगह, हरक्षण, पगपग में प्रकट है। वह सच्चिदानन्द स्वरूप आभा हर क्षण चित्त लुभाती है। वहाँ अहन्ता से निर्माण हुआ व्यक्तिगत प्रेम हवन हो जाता है और आत्मनिष्ठासंपन्न परमप्रेम प्रकट होता है जो सचमुच अमृतस्वरूप है। जो प्राप्त होनेपर परिपूर्ण तृप्ति है, मनुष्य और कुछ नहीं चाहता। न वहाँ सत्यका अपलाप है न प्रेमकी विकारवशता। वहां तो आत्मनिष्ठा का हृदयंगम विलास है। सत्य की सत्ता हमारी अपनी बनी रहती है। ॥१४३, १४४॥

**अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथाऽपरे।**
**प्राणपानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥२९॥**

कुछ अपान में प्राणोंका हवन करते हैं, तो कुछ प्राणों में अपानका हवन करते हैं, प्राण तथा अपान की गति रुद्ध करके जो यज्ञ करते हैं उन्हें प्राणायामपरायण कहते हैं।

मग अपानाग्निचे मुखि । प्राणद्रव्यें देखि ।
हवन केलें येकि । अभ्यास योगें ॥१४५॥

एक अपान प्राणिं अर्पिति । येक दोहींते निरोधिति ।
ते प्राणायामि म्हणिपति । पंडुकुमरा ॥१४६॥

अर्थ :– अभ्यास योग के द्वारा किसीने अपान वायुके मुँहमें मानो प्राणद्रव्यों का हवन किया । हे पंडुकुमर ! कुछ (लोग) प्राण को अपान अर्पण करते हैं, तो कुछ उन दोनों काही निरोध करके "प्राणायामी" कहलाते हैं ।

व्याख्या :– इस प्रकार अहंकारादि से निर्माण हुई आत्मीयता–ममत्व का हवन होकर वहाँ विशुद्ध प्रेम का प्रस्फुरण हो जाता है । प्राण तथा अपान वायुओं के मिलन के कारण वहाँ तेजोमयता प्रकट हुई । एक विलक्षण तेज–अग्नि–वहाँ प्रदिप्त हुआ । इसी के द्वारा योगयुक्ति का तथा योगांग का प्रत्यय आता है । वहाँ अग्निकी विद्यमानता अन्तःस्थ यज्ञका प्रमाण है । उसमें अपाग्नि की स्थापना होतेही प्राणवायु का हवन किया जाता है । जीवन के प्राणाधार द्रव्य उसमें यजन किये जाते हैं । तात्पर्य यह है कि प्राणायाम की विविध अवस्थाओं के द्वारा प्राणापान का यथायोग्य निरोध किया जाता है, जिससे अन्तर में अग्निकी दीप्ति प्रकट होती है । उसमें प्राणापानादि का संयम करके अत्यन्त सामर्थ्यसंपन्न तथा समृद्ध अग्नि की विद्यमानता अनुभव की जाती है । अभ्यास के द्वारा यह प्राणायाम का अनुष्ठान संपन्न हो जाता है और योग की अनुभवगम्य एकात्मता स्थिर हो जाती है ।

वायुके निरोध के कारण वहाँ उस परमतत्त्व का प्रणवकार प्रकट हो जाता है। इस हृदयस्थित अक्षरत्व की प्रेरणा स्नेहमयी तथा मंगलप्रद है। उसके प्रेमकी प्यास किसे नहीं? जीवन का अत्यन्त गुह्यतम ज्ञान यहाँ प्रत्यक्ष हो जाता है अतः केवल एक प्रेमही प्रकट है, वही कहा जाता है और उसकेही अक्षरानुभव में आत्मनिष्ठ यज्ञकर्ता रसलीन होते हैं।

॥१४५, १४६॥

**अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति ।**
**सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपित कल्मषाः ॥३०॥**

कुछ अन्य आहार का नियमन करके प्राणोंका प्राणोंमें ही लय करते हैं, यद्यपि ये सभी ऐसे हैं, तो भी उन्होंने पापोंको यज्ञद्वारा धो डाला है, अतः यज्ञविद् कहलाते हैं।

एवं वज्रयोग क्रमें । सर्वाहार संयमें ।
प्राणि प्राण संभ्रमें । हवन करिति ॥१४७॥

अर्थ :—कुछ वज्र योग के क्रमसे संपूर्ण आहार नियन्त्रित करके, प्राणोंमें ही प्राणों का तत्परतासे हवन करते हैं।

व्याख्या :— उपासना तथा उपोषण के द्वारा इन्द्रियों को बलहीन करते हुए यज्ञदेवता की उपासना करने में कुछ लगे रहते हैं। उनके द्वरा उपासना की विधि इन्द्रिय निरोध की साधना पर अवलंबित है। जहाँ इन्द्रियनिरोध है वहाँ सहजही यज्ञदेवता का प्रसाद प्राप्त हो सकता है और वे सभी पापोंसे मुक्त होकर यज्ञकी सफलता के अधिकारी बन जाते हैं।

इन्द्रिय निरोध करना कोई आसान बात नहीं। उसके लिये भी प्राणायाम की विधि महत्त्वपूर्ण है। प्राण तथा अपान के संयोग से योगाग्नि का उद्भव है। उसकी अद्वितोयता परायेपन को भटकने नहीं देती। वहाँ द्वैत रहताही नहीं। उस योगाग्नि के प्रकाश में अद्वैत की निष्ठा सुस्थिर होती है। आहार का निरोध करते हुए यहाँ योगो वज्रयोग का अनुक्रम अपनाते हैं। हठयोग की आधारशिला उन्हें पर्याप्त होती है। वे अपनी देहको, अपने मनको वज्र के समान दृढ करके सभी आहार को ही संयमित करके निराहार रहते हैं। फिर वहाँ संयम हैही। मानो प्राणोंमें ही प्राणकी आहुति देदी गयी, प्राणकाही हवन किया हो। प्राणापानादि का मुख्य प्राणमें ही लय अनुभव किया जाता है। बुद्धिकी विलक्षण धारणाशक्ति यहाँ वक्तव्य की मात्राको भी परिमित करती है और जो कुछ स्पष्टतया अनुभव होता है उसीका ही उच्चारण केवल सुकरता के लियेही होता है।
॥१४७॥

एक मोक्ष काम सकळ। समस्त हे यजनशीळ।
जिहिं यज्ञद्वारें मनोमळ। क्षाळण केले ॥१४८॥
जयां अविद्याजात जाळितां। जें उरलें स्वभावतां।
जेथे अग्नि आणि होता। उरेचिना ॥१४९॥
तेथे यजितियांचा काम पुरे। यज्ञिचें विधान सरें।
मागुतें तेथून वोसरें। क्रियाजात ॥१५०॥
विचार जेथें न रिघे। हेतु जयातें नेघे।
जे द्वैत दोष संगें। लिंपेचिना ॥१५१॥

अर्थ :– ये सभी वस्तुत: मोक्षार्थी हैं मुमुक्षु हैं, और सभी यजनशील हैं। इन्होंने यज्ञ के द्वारा मन के सभी पाप ताप धो डाले हैं।

जिन्होंने यज्ञमें अविद्या को जला दिया, और जो स्वभाव रूपही रहे, वहाँ न 'अग्नि' है, न 'होता' है।

जब यज्ञद्वारा यज्ञकर्ता को इच्छाऐं पूरी होती हैं, तब यज्ञ का विधान परिपूर्ण होता है और बादमें सभी क्रिया कर्म नष्ट होते हैं।

जहाँ विचार का प्रवेश नहीं, हेतु जिसका आधार नहीं, जो द्वैत के दोषसे कभी लिप्त नहीं होता –

व्याख्या :– इस संबंध में मनुष्य मनुष्य के बीच जो सहज संवाद होता है उसे वस्तुत: बहुतही थोडा अर्थ तथा महत्त्व है। एक तो मनुष्य इस गहन साधना की गहराई सहज नहीं समझ सकता तथा दूसरी बात यह है कि उसकी लगन सामान्यतया बहुतही कम है। अत: एक संभ्रमयुक्त संवाद के सिवा उसे और कोई अर्थ नहीं। सुनिश्चित योगानुष्ठान का पथ जिन्होंने अपनाया है ऐसे सिद्ध साधकों के संवाद को कुछ अर्थ और महत्त्व भी है। अन्यथा योगकी, इस यज्ञकी उपयोगिता स्वीकृत करनेपर भी अस्वीकृतसी रहती है। जो सचमुच मुमुक्ष है, जो इस राहपर निःसंदेह होकर चलता रहता है उसके लिये प्राणायाम की क्रियाऐं उपयुक्त हैंही। प्राणोंका प्राणोंमें ही लय करने से प्राणशक्ति का आधार पानेवाला मन भी वहाँ विशुद्धता की स्थिति अपनाता रहता है। मनकी गंगदी हट

जाती है, उसका मैल अब नहीं रहता और वह अत्यन्त विशुद्धसा बनकर योगमें उपयुक्त होता है। वहाँ उसके संकल्प संयमित होकर केवल मोक्ष की वांछा करते हैं। अतः मनका एकाग्रपरिणाम लाभकारी हो जाता है। उससे अविद्याजात तथा अविद्या नष्ट हो जाती है। अज्ञान रहताही नहीं, सर्वथा जल जाता है। ज्ञानजन्य सदिच्छा की उषा मुसकराती हुई उदित हो जाती है। सदिच्छाकाही वहाँ प्रभाव, प्रकाश तथा प्रसार है। अतः यहाँ जो कोई यज्ञकी उपासना का निश्चय करेगा उसके मनमें सदिच्छा की शक्ति उसे बढ़ावा देती रहती है। इस प्रकार बहिर्गत तथा अन्तस्थ यज्ञसाधना योगाग्नि का प्रज्वलन करती है, जो योगकाही एक अंग है, एक अनिवार्य आविष्कार है। तब हमारी सदिच्छा उस मोक्ष की कामना के लिये प्रयत्नशील होकर योगदान देती है। योग्यता बढाने का प्रयास होता है। अग्निकी विलक्षण सामर्थ्यशीलता प्रतीत होने लगती है और वह अपनी योग्यता पर आरूढ़ होकर सुशोभित हो जाता है। वहाँ इच्छा, साधना, कामना, कल्पना या कर्म सबकुछ सर्वोत्तम जीवन की प्रेरणा होनेसे वहाँ अधूरा कुछ नहीं रहता। इस सृष्टिमें उसको सबकुछ प्राप्त होने लगता है। यज्ञकर्ता की इच्छा स्वयमेव सफलता का प्रयास करती है। वह इच्छा सफलता पाये इसलिये वह परमगूढ अक्षरतत्त्व उसके योग्य बनकर प्रयत्न को सफल बना देता है। उसके द्वाराही वह इच्छा तृप्त हो जाती है, अधूरी नहीं रहती। यज्ञ सफल हो

जाता है । फिर यज्ञकर्म की आवश्यकताही कम हो जाती है । उसके विधिविधान, उसके कर्म, उसके मन्त्र आदि के साथ वह यजन धीरे धीरे अंतरित होता है । उन विधिविधानों का महत्त्वही नहीं रहता । उनकी आवश्यकताही घट जाती है । अगर प्रसंगवशात् उसकी स्थिर इच्छा हो जाय तो अपनेआप उसका नियोजन हो जाता है और स्वभावसिद्ध सहजता आनेसे कर्म के बाद वह फिर उसमें लीन हो जाता है । वहाँ विकारवशता नहीं, इच्छाका आवेग नहीं, वासना की बेहोषी नहीं, जो है वह सहज, स्वभावसंपन्न, नैष्कर्म्ययुक्त अनुष्ठान तथा निष्ठा ! वह आत्मनिष्ठा, आत्मप्रीति इतनी तीव्र तथा प्रबल है कि वह द्वैतरूप दोष को पूर्णतया दूर कर देती है और वहाँ एकमेवाद्वितीयम् ऐसा अक्षरतत्त्व ही स्वभावरूप होकर विद्यमान रहता है जिससे दोषकी बाधा नहीं । दोषही नहीं फिर बाधा काहेकी । देहबुद्धि का पूर्णतया विस्मरण हो जानेसे एक प्रकार का उदासीन तथा उच्चस्थित योगभाव उदित हो जाता है जो स्थिरता, दृढता तथा निष्ठाका परिचायक है । वहाँ विचार, संदेह, शंका या संशय नहीं । मनके संकल्प नहीं होते । प्रीतिका ही परमपावन हेतु वहाँ कार्यरत होनेसे अन्य बातोंकी ओर ध्यानही नहीं जाता । मन, बुद्धि तथा कार्यव्यापार अपनी निष्ठामें मग्न होते हुए स्वभावसिद्ध अमरप्रेम का प्राशन करते रहते हैं । अर्थात् दोष की बाधाको अवसर हैही नहीं ।।१४८-१५१।।

**यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।**
**नायं लोकोऽस्त्य यज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ।।३१।।**

अर्थ :– यज्ञ का अवशिष्टरूप अमृत सेवन करनेवाले सनातन ब्रह्म को पाते हैं, जो यज्ञ नहीं करते उन्हें इस लोकमें भी सफलता नहीं, फिर दूसरा लोक काहे का ?

ऐसें अनादिसिद्ध चोखट । जे ज्ञानयज्ञावशिष्ट ।
ते सेविति ब्रह्मनिष्ठ । ब्रह्माहं मंत्रे ।।१५२।।
ऐसें शेषामृतें धाले । कि अमर्त्यभावा आले ।
म्हणोनि ब्रह्म तेचि जाले । अनायासें ।।१५३।।

अर्थ :– इस प्रकार ब्रह्मनिष्ठ 'अहं ब्रह्मास्मि' इस मन्त्र के अनुष्ठान में यज्ञावशिष्ट अनादिसिद्ध ब्रह्मज्ञान का अनुभव करते हैं ।

यज्ञावशिष्ट रूप अमृत पाकर जो संतुष्ट हुए हैं, वे अमृतत्व को पा गये, अतः वे अनायास ब्रह्म हुए ।

व्याख्या :– इच्छा तथा वासना का स्वरूप अनादि है। उसमें विकारवशता तथा लोभ विद्यमान है। मनुष्य की इच्छाअें उसे लुभाती हैं, फँसाती है। किन्तु जब यज्ञकर्म का अनुष्ठान हो जाता है तब उनकी विकारवशता, मोह तथा लोभ अपने आप दूर हो जाता है। उनका आत्यंतिक शुद्धीकरण हो जाता है। अब वे इच्छाअें मनुष्य की नहीं होतीं। उनकी प्रेरणा देवताभाव की है। उनका प्रस्फुरण उनकी विशुद्ध अभिव्यक्ति के लिये होता है। वहाँ एक अत्यन्त परमपावन संवेदना है जो केवल ज्ञानाधिष्ठित है। इच्छाओं का उच्छृंखल

विलास नहीं वरन् वे उस संवेदना की अनुचर होकर प्रगत होती हैं, विशुद्ध हो जाती हैं। उसी ज्ञानसंवेदन के द्वारा वह अक्षरत्व अक्षररूप होकर अवतीर्णसा होता है। वही वासना-पूर्तिका साधन होता है। उसके द्वारा ब्रह्मनिष्ठा की मंजिल तय होती है और 'अहं ब्रह्मास्मि' का उद्घोष जहाँ सहजरूप है, ऐसी योगभूमिका का अवतरण हो जाता है। 'ब्रह्म' का ही सेवन वहाँ अभिप्रेत है। उनका भोजन ब्रह्मकाही है। 'अहं ब्रह्म' की साक्षात् अनुभूति तथा ब्रह्मानुभूति का आभोग यहाँ प्राप्त है। अक्षर तथा ब्रह्म की एकात्म सत्ता यहाँ प्रतीत होती है। रामनाम मन्त्र हरिरूप कराता है तथा हरिमन्त्र रामरूप बना देता है, वैसेही यहाँ अक्षरोपासना ब्रह्मरूप बना देती है। ब्रह्मोपासना अक्षरत्व ला देती है। यह तो सर्वथा स्वाभाविकही है कि 'ब्रह्माहं' मन्त्र के द्वारा वह ज्ञानयज्ञ संपन्न हो जाता है। भूतमात्र की प्रतिष्ठा वहाँ स्वभावरूप हो जाती है। पाँचभौतिक प्रजनन प्रज्ञानघन लक्षणसे युक्त होनेके कारण सर्वत्र स्वाभाविक स्थिरता निर्माण करता है। स्वभाव की नित्यता तथा नित्य स्वाभाविकता प्रतीत हो जानेके कारण ब्रह्म की अमरता, अमृतत्व अनायास अनुभव किया जाता है। और जो कुछ अनादीष्ट है वह देहभावना या अहंभाव। किन्तु उसका भी विलय यज्ञानुष्ठान में अपेक्षित है। विलय हो जाता है। उसकाही मानो सेवन किया जाता है।

इस प्रकार देहधारणा के अन्तर्गत जो अहंता-पृथकत्व-

अभिमान है उसमें परायेपन की कल्पना विद्यमान है। उसका पृथकत्व अखंड एकरस अनुभूति में बाधक हो जाता है। किन्तु जब यह पलट जाता है, अहंता विलीन हो जाती है और पृथकत्व का नामोनिशान नहीं रहता तब यह संपूर्ण देह यज्ञको योग्यता का होता है। वहाँ पात्रता स्थिर होती है। यज्ञके लियेही उसकी स्थिति, गति अनुभव की जाती है। और यह देह केवल ब्रह्मका ही एक विलास, आविष्कार मात्र रह जाता है। यही बोध यहाँ परिणमित है। मनुष्य का जो कर्तव्य कि यज्ञपरायणता, त्यागमय–साधना तथा योगयुक्त अनुसंधान, उसका अनुशासन होनेसे मनुष्यजन्म की सफलता है। इस प्रकार का जन्म–जीवन वस्तुतः योगभाव है। अतः वहाँ निर्लेप प्रेमका लोभ स्वभावसिद्ध है। इस प्रकार के मनुष्य-जन्मपर वहाँ लोभ है। यह देह और कुछ भी न होकर केवल प्रेमाविष्कार। वहाँ जो अनुष्ठान है, कर्तव्यकर्म है उसीमें सर्वथा लीन होकर, उसकी गहनता अपनाते रहने में विलक्षण आनन्द है। वहाँ आकर्षण है, प्रेम है, आदर तथा योग भी है। उसकी वास्तवता परमप्रेम तथा आनन्द की परिणति करने में सर्वथा समर्थ है। योग्यता का महत्त्व यहीं बढता है।

अतः मनुष्य जन्मका परम सौभाग्य है। उस प्रकार यहाँ भाग्यवान होनेके लिये जो प्रयत्नशील नहीं, जो सहाय्यक नहीं होते या जिन्हें इच्छा तक नहीं, उन्हें यह महान् योग, सर्वोत्तम भाग्य कैसे प्राप्त होगा? कैसे प्राप्त कराया जाय? अगर उन्हींके द्वारा अपने जीवन में सारसर्वस्व ऐसा वह सुन्दर

नाम, सुन्दर रूप तथा सर्वांगसुन्दर सत्ता उनके प्रेमका लक्षण होगी तो उन्हें भी 'भाग्यवंत' होनेमें देर नहीं। उनका मन यदि इस गहन प्रेम का अधिकारी होगा तो यह साधना सहजही सफल होगी। यह अनुष्ठान अत्यन्त आदर के साथ सत्कार-पूर्वक किया जाय, उसके अभ्यास में मन एकाग्र हो, तो फिर निराशा नहीं होगी। भगवान् श्री गोपालकृष्ण द्वारा यह अत्यन्त प्रेमास्पद कथन, सर्व कुरुवंशको ही सुशोभित करनेवाले अत्यन्त श्रेष्ठ भक्तिवान श्री अर्जुन से कहा। उस कुरुवंश का जो सत् है, उसका जो सद्भाव है, उसका जहाँ आविष्कार है, जिससे श्रेष्ठता प्राप्त होती है और उसी श्रेष्ठता को भी जिसने अलंकृत किया है वही श्री अर्जुन है। उसके जीवन में सद्भाव, श्रेष्ठता, लीनता तथा मुमुक्षुता भी है, जिससे वह जीवन का गहन भाष्य आकलन करने में समर्थ है। श्री भभवान् कहते हैं, हे महाबाहो अर्जुन! मनुष्य के अमरपद के प्रति जो प्रयत्नशील हैं ऐसे लोगों के लिये ही नहीं, किंतु जिनके अन्तःकरण में वह इच्छा—सदिच्छा है, उन्हें भी उसकी प्राप्ति की संभावना है। उन्हें यथावकाश वह जरूर प्राप्त हो सकेगा। वे भी उस अमरपद के निवासी होते हैं। संभव है कि उनके लिये अवधि अधिक है। सचमुच ये सौवार धन्य हैं। क्योंकि इस जन्मका हेतु इस अमरपद की उपाधि के लिये हैं। जो उसके लिए प्रयत्नशील हैं, वे वस्तुतः जन्म के हेतु को पहचान चुके हैं, जिनके द्वारा कमसे कम उसकी इच्छा प्रकट होती है, वे उसकी राह चलने को आज नहीं कल तैयार

होंगे। साथही यह भी स्पष्ट है कि मनुष्यजन्म वस्तुतः उस प्रयत्नका, उस साधना का परिपाक है कि जो प्राणीको अमरपद का अधिकारी बनाता है। अतः यह आवश्यक है कि मनुष्य-जन्म की उपेक्षा न हो, उसकी साधना सफल होती रहे।

॥१५२-१५३॥

येरां विरक्ति माळ न घालीचि ।
जयां संयमाग्नि सेवा न घडेचि ।
जे योगयाग न करितीचि । जन्मले सांते ॥१५४॥
जयांचे ऐहिक धड नाहिं । तयांचे परत्र पुससि कायि ।
म्हणोनि असो हे गोष्टि पाहि । पंडुकुमरा ॥१५५॥

अर्थ :- जो संयमाग्नि का अनुष्ठान नहीं करते, वे इस जगत् में नरदेहरूप जन्म पाये। उन्हें विरक्ति कभी वरण नहीं करती।

हे पंडुकुमर ! यह देख ले कि जिनकी ऐहिक प्रपंच की भी दुरवस्था है उनकी पारलौकिक की क्या अवस्था होगी ?

व्याख्या :- जो अपनी गृहस्थी में भी सुखकी संपन्नता नहीं पा सकता, जिसने इस प्रपंच को नहीं अपनाया, जिन्हें यह ऐहिक सुख, भौतिक संपन्नता भी दुर्लभ हुई, जिनका निर्वाह अत्यन्त कष्ट तथा परिश्रम के बादही होता है, क्या वे परलोक जीवन के योग्य हैं ? क्या उन्हें वह परमभाग्य संभव है ? ऐहिक जीवन में भी जिन्हें संपन्नता, प्रसन्नता, पुष्टि, तुष्टि या शांति दुर्लभ है क्या वे पारलौकिक जीवन में सुयश अपनायेंगे ? वस्तुतः वे जीवन की मौलिकता ही नहीं

पहचानते । उन्होंने उसके 'अक्षर' को नहीं अपनाया । जीवन की स्थिति गतिका नियन्त्रण करनेवाली तथा अत्यन्त संपन्न परिपोष करनेवाली ईश्वरी महामाया उनसे अतीव दूर रहती है क्योंकि उन्होंने ईश्वरत्वकी, उसके योग की, तथा साधनासंपन्न अनुष्ठान की उपेक्षाही की । ईशसेवा, ईश्वरत्व की साधना इस देहका भूषण है, जन्म की मौलिक प्रेरणा है, जीवन का परमलक्ष्य है । उन्होंने उसे नहीं ढूंढा । कदाचित उनके द्वारा खोज हुई होगी किंतु वह उनके हाथ न आया हो । साथही जिन्होंने संपन्नता चाही, लोभ की पुष्टि की परन्तु संयम को नहीं अपनाया । न संयमन किया न अग्निसेवा हुई । इन्द्रियों का निरोधही संयम है, अग्निसेवा है । यज्ञका अनुष्ठान फिर काहेका ? संयमाग्नि को अपने जीवन में सुप्रतिष्ठित करना क्या महत्त्वपूर्ण नहीं ? उसकी योग्यता क्या कम है ? अग्निकी तपोज्वाला जीवन को विशुद्ध बनायेगी, साधना परिणत करेगी । जो जीवन की इस पवित्रतासे कोसों दूर हैं, जिन्हें इसकी लगन नहीं, साधना की इच्छा नहीं, प्रयत्न की पराकाष्ठा नहीं और योगकी युक्ति नहीं क्या वे अक्षरत्व को अपना सकते हैं ? सौभाग्यवश उन्हें मनुष्य की देह प्राप्त हुई । यह मनुष्यजन्म, उसका हेतु तथा लक्ष्य जो नहीं पहचानते वे सचमुच अभागी हैं । 'योग', 'योगयाग', 'यज्ञ' को वे क्या समझेंगे ? वहाँ विरक्ति कहाँसे आ टपकेगी ? वे मानो विरक्ति से विरक्त हो गये हों । विरक्ति, उपरम, उपरति, आदिका नामोनिशानही नहीं रहता । जहाँ स्वभाव विवेक के साथ

अनुशासित है वहाँ विरक्ति की उपस्थिति हैही। किन्तु जो स्वभाव तथा विवेक को नहीं अपनाते उनके यहाँ शुद्ध बुद्धिकी विद्यमानता कैसे संभव है ? शुद्धबुद्धि विवेक को ही वरण करती है। विवेक को शुद्धबुद्धिरूप सखी प्राप्त न होनेसे ज्ञानतरणिरूपमाला उसे कौन पहनायेगा ? विवेक तथा शुद्ध-बुद्धिका ब्याह संपन्न हो सकता है किन्तु दोनोंकी स्थिति स्वाभाविकता से योग्यतायुक्त होनी चाहिये। ऐसा न होनेसे जो केवल मनुष्य जन्ममें आकर संयम को नहीं अपनाते, जन्म पाकर भी संयमाग्नि की उपासना नहीं करते, क्या वे इस ज्ञानतरणी के किरण तक देख सकेंगे ?

बुद्धिका भी एक वैशिष्टय समझने योग्य है। उसे नित्यनूतन की तीव्र लालसा रहती है। उसकी जिज्ञासा बलवत्तर होती है, वह रोज नया नया चाहती है। उसे यह एक आदतसी है जिसके कारण जो नया है, लुभावना है उसकी ओर वह मुड जाती है। उसे नयी बातों के प्रति एक विलक्षण कुतुहल, एक अविकल प्यास, तथा तीव्र जिज्ञासा है जिसके कारण जीवन भी भूला भटकासा नयी नयी खोजमें ढूंढता है फिरता है। वहाँ स्थैर्य कहाँ रहेगा ? अन्तःकरण की यह अभीप्सा बुद्धि की चंचलता का परिणाम है। मन स्थिरता को नहीं पहचान सकता। बुद्धिही जहाँ अस्थिर है, बहिर्गत है, बहिर्मुख है, तब अन्तःकरण बाह्य, उपरी बातोंमें ही फँस जाता है। उसकी यह धारणा होती है कि यह नित्यनूतन सा दिखाई देनेवाला बहिर्जगत् ही जीवन का सार है। यही

धारणा है कि जिससे मन चक्कर में फँस जाता है, बाह्यजीवन के आकर्षण में घसीट लिया जाता है। उस फेरमें घूमता हुआ वह विश्रांति को अपनाताही नहीं। उसके अणुरेणु को एक प्रकार थकावट पैदा होती है। जो सचमुच विश्राँति है वह हाथ नहीं आती। जीवन आजन्म एक अविकल प्यास, विलक्षण थकावट तथा अतीव परिश्रम बना रहता है। जहाँ आत्माकाही प्रेमसर्वस्व स्थित है उस जगत् में विश्रांति रहती है, वहीं रम जाती है और मनुष्य व्याकुल होकर ढूँढता फिरता रहता है। बुद्धि उसके अपने विलक्षण परिश्रम के कारण अत्यन्त दुःखी बन जाती है और चाहती भी है कि कोई चारा मिल जाय! उस निरर्थक परिश्रम के बाद सच्ची विश्रांति तथा शांति प्राप्त होनेके लिये उसके मनमें विचार निर्माण हो जाते हैं। उन विचारों को कुछ आधार, आश्रय, उपाय, गति, दर्शन आदिकी नितांत आवश्यकता उत्पन्न होती है। वह चाहती भी है कि कुछ न कुछ उपाय जरूर हो। इसप्रकार अब जो प्रयत्नशैथिल्य निर्माण हो जाता है, नूतनता की चाह हट जाती है और एकप्रकार अवसाद युक्त उदास भाव निर्माण हो जाता है तब संतसंग का सुयोग प्राप्त होनेका मार्ग खुल जाता है। बुद्धिकी यह रुद्ध गतिही संतसंग की पूर्वपीठिका हो सकती है। ऐसी अवस्था में वह वह खूब समझती है कि जो भ्रम मैंने अनुभव किया, जो चंचलता अपनायी तथा निरर्थक नूतनता की खोजमें घूमती रही वह प्रयास सर्वथा अर्थशून्य, भ्रामक, ग्लानिप्रद हो गया

है। अतः स्थिरता की लालसा निर्माण होती है। यहाँ संतसंग को प्रेरणा है। वह एक महत्त्वपूर्ण पार्श्वभूमि तैयार हो जाती है। अगर वह संतदर्शन मिल जाय तो फिर भूलेभटके बच्चे को माँ बाप मिलने जैसा आनन्द उसे हो जाता है। जीवनाधार शक्तिका स्रोतही संतोके रूपमें प्राप्त हो जाता है। चित्तकी विश्रांति का विश्रामधाम, मनःपूत शांतिका प्रशांत भाव संतोके रूपमें साक्षात् अवतीर्ण है। परमोत्सुक बुद्धि को वहाँ विश्वास पैदा हो जाता है। वह आतुर हो उठती है इस देवोपम शांति के लिये, सुस्थिर आत्मनिष्ठा के लिये। जब संतोंसे इस संबंध में पूछा जाता है तब वे उत्तर देते हैं कि यहाँ और कुछ महत्त्व का नहीं। पहले पहल उन देवद्विजोंकी, श्रीगुरु की सेवामें लगे रहो। उनकी सेवाही सर्वार्थ साधन है। वहाँ चित्तकी चिरविश्रांति है। उसके लिये और उपायों की आवश्यकता बिलकुल नहीं। किस प्रकार कहना, किस प्रकार सुनना, कैसे बर्ताव, करना या उपचार, साधना, योग-याग आदिके बारेमें केवल शास्त्रबुद्धि का कौतुक करते रहने में कुछ अर्थ नहीं। बुद्धि इसी चर्चा में फिर फँसी रहती है। अतः वादो नावलम्बः। चर्चामें, बहस में शास्त्रकी अर्थधारणामें बहुतही थोडा है कि जिससे प्रत्यक्ष हाथमें कुछ नहीं आता। अतः आवश्यक है कि देवतास्मरण किया जाय। उसके ध्यान में रहे। देवतारूप श्रीगुरु का स्मरण, वन्दन, ध्यान, सेवा, आज्ञापालन इसमें मस्त रहे। उन्हींके चरणों में मन समर्पित हो, बुद्धिका निश्चय अब यहीं स्थिर रहे। वहाँ

प्रत्यक्ष गमनागमन मनकी कोरी कल्पना है। उसे त्यागही देना चाहिये। केवल श्री भगवन्नामानुसंधान में रहनाही उचित है। उसका अखंड स्मरण होता रहे। वह नामानुसंधान, नामधारणा सचमुच सच्ची साधना है, वही योग है, वही यज्ञ है उपासना है और सबकुछ है। जहाँ अहंभाव है वहाँ कष्ट है ही। देहस्थित अहंता देह को, देहबुद्धि को तथा देहात्मजीवन को सर्वथा व्याकुल बना देती है। अतः जब बुद्धि श्रीचरणों में अटकी रहती है, वहाँ संलग्न होकर श्रीका अखंड नामानुसंधान करने में एकाग्र रहती है तब श्री गुरुदेव के द्वारा यह सबकुछ सहजसुलभ, आत्यंतिक आसान हो जाता है। चित्तको उनके द्वारा शाँतताकी, स्थिरता की मुहरसी लगायी जाती है। मन प्रसन्न तथा प्रसादयुक्त हो जाता है। वहीं आत्मबल का उद्गम है, तेजकी संपन्नता है तथा स्थिरता की नित्यनूतन आभा है। वहाँ उस मनुष्य की आकृति सचमुच तेजोरूप, आत्मबलसंपन्न तथा प्रशांत भावसे ओतप्रोत दीख पडती है। विरक्ति का आविर्भाव हो जाता है। वह विवेक को वरण करती है। ज्ञानतरणी की माला पहनाती है। विवेक तथा विरक्ति के अनुराग का मंगलमय शृंगार जीवन में आल्हाद, उत्साह तथा विलास की वृष्टि करता है। उनके विलास में विरक्ति का अनुराग आँखोंमें तथा गालोंपर व्यक्त हो जाता है। प्रेम सर्वस्व का वह आत्मीय दर्शन सहजही नामस्थैर्य का विपाक है। धर्मकी धारणा वहाँ अनायास नियमनरूप हो जाती है। प्रयत्न किये बगैर जीवन योगयुक्त निश्चल तपस्यामें

मग्न रहता है। वहाँ जीव प्रेमरूप आनन्द की हिलोरे लेता हुआ आत्मरूप, आत्मक्रीड हो जाता है। जीवशिव की एकात्मता वहाँ अनुभूत है। दोनों का सामरस्य प्रेमकी चरमानुभूति का परिचायक है। वहाँ अपनेपन की भावनाही नहीं, प्रत्यक्ष अपनापा साकार है। उसमें आनन्दसमुद्र की लहरें उमडती रहती हैं जहाँ जीवन आनन्द से सुस्नात हो जाता है। उसका जीवनही आनन्दधाम बना। वहाँ दिव्यता है, देवताभाव है और विरक्ति को वैराग्यरूप घरमें आश्रय प्राप्त हो चुका है। कणकण में विरक्ति का परिणामक्षम प्रत्यय होनेके कारण वियोग की भाषाही नहीं रही। सर्वथैव आत्मानुशक्ति होनेसे वहाँ भक्ति है, विभक्ति नहीं, अनुरक्ति है आसक्ति नहीं, विराग है विकार नहीं, योग है वियोग नहीं। विरागही आत्मीयता में अधिष्ठित होनेसे वहाँ एक असीम आनन्द ही ओतप्रोत है, केवल आनन्द है। जीव सचमुच शिवरूप होकर धन्यता के गीत गाया करता है। जीवन की सफलता का वह आनन्दगीत स्वर स्वरमें आत्मीयता की तान है। शब्द शब्दमें उस अनुभूति का चरम प्रत्यय गुँज उठता है। वहाँ धन्यता साकार है। श्रीगुरु का सामरस्ययोग संपन्न है। यज्ञपुरुषका ही वह नारायणरूप तेजोमय दर्शन ही वहाँ उपलब्ध है। वही राघवराम है। इसी प्रकार ये अक्षरानुभवकी, चरम सफलता की बातें प्रसंगवशात् तुझसे कही गयी है। तेरा दिव्य भाव, तेरी दैवी निष्ठा तथा सत्त्वगुणसंपन्न भक्ति से कारण प्रेमको पुकार सका। उसके प्रतिसादरूप, केवल प्रेमवश होकर

ही इन्हींका वक्तव्य हुआ । और क्या ? ॥१५४-१५५॥

**एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।**
**कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२॥**

अर्थ :- एवं बहुविध यज्ञ श्रीब्रह्माजी के मुखसे विस्तार पा गये । वे सभी कर्मजा-कर्मसे उत्पन्न हुए कर्मफल हैं । यह जानकर तू कर्मसे मुक्त होगा ।

ऐसे बहुतेपरि अनेक । जे सांगितले तुज याग ।
ते विस्तारूनि वेदें चांग । म्हणिले आहाति ॥१५६॥
परि तेणें विस्तारें काय करावें ।
हेचि कर्मसिद्धि जाणावें ।
येतुलेनि कर्मबंध स्वभावें । पावैल ना ॥१५७॥

अर्थ :- विविध प्रकार के ये यज्ञ तुझे बतलाये हैं । वेदोंने उनको विस्तारपूर्वक अच्छा कहा है ।

किंतु उनके विस्तार से क्या लाभ ? क्योंकि ये सभी कर्ममूलक हैं । यही जानकर कर्मबंध से व्यक्ति दूर रहेगा ।

व्याख्या :- बात स्पष्ट है कि यज्ञोंके विविध प्रकार बतलाये गये हैं । उनकी अपनी स्थिति है, तथा वे सभी अपने में परिपूर्ण तथा अच्छे भी हैं । उनका अनेकत्व उनके अपने कर्मोंके स्वरूप में है । उनकी अनेकविधता ओझल करते हुए हमें उनकी एकता का प्रत्ययही कर लेना उचित है । उन सभी यज्ञोंका उद्देश्य वस्तुतः आत्मप्रकाशन है । अतः उनके बाहरी विधिविधान तथा अनेकविधता में चकराना अनुचित है ।

हमारी विद्यमानता कर्मबंधों के कारण पराभूतसी हो जाती है। वहाँ कर्मबंधका प्रभावकारी अमल है। वह हट जाना आवश्यक है। यद्यपि अनुष्ठान में इस बंधको दूर करनेकाही प्रयास है। किसी भी हालत में हमें कर्मोंके कारण पराभूत होना अनुचित है। उसके चक्कर में फँसना सर्वथा कष्टकारी है। अतः आवश्यक है कि यह कर्मविस्तार किस प्रकार सिकुडा जाय। उसका संकोच करने के लिये, उसका उपशम कराना आवश्यक होता है। कर्मसंकोच के साथ उसका उपशम भी होता रहे। फिर कर्मबंध शिथिल हो जायेंगे। उनकी कडाई कम होगी। और जब वह बंध सर्वथा शमरूप हो जाय तो फिर वहाँ उसकी प्रसन्नता देवताभावको ही अपनायेगी। वहाँ देवत्व स्थिर होगा। वह कर्म देवताभाव से ओतप्रोत हो जानेसे सफल हो जाता है। मानो मनौति परिपूर्ण हुई हो। कर्मकी बाधा हट जाती है। कर्मही प्रसन्न हुआ फिर कमी किस बात की? वहाँ दैव देवताबलयुक्त है, सेवा एकप्रकार मनौती का प्रसाद, और प्रकृति मायबंधसे विमुक्त एक सहजस्वाभाविक आविष्कार है। सर्वत्र देवत्व का प्रसाद है, इच्छाका सत्त्वयुक्त सफल दर्शन है। इच्छाकी देवत्वमें ही परिणति हो जाती है। और देवत्व का दूजापनही न रहने से वहाँ वह सर्वथा सिद्ध, चिंतामणीरूप, कामधेनु के समान फलद्रूप हो सकती है। एक देवताभाव के सिवा यत्र तत्र सर्वत्र और कुछ न होनेसे जो कुछ अपेक्षित है वह सिद्धही है। अतः देवताप्रसाद भी अनायास सुलभ है। श्रीब्रह्माजी ने

अपने मुँहसे इस वेदोनारायण के बारेमें जो कुछ कहा है, वे सभी यज्ञ याग वस्तुतः कर्मोंसेही उत्पन्न हुए हैं। वेदोंके द्वारा इन्हीं यज्ञोंको अच्छा कहा गया है। साथही ये यज्ञकर्म स्वयंसिद्ध होनेसे उनके द्वारा सफलता स्वाभाविक है। उनकी अनेकता एकताको ही परिपुष्ट करती है, स्थिरता लाती है। अतः वही एक विशेषरूपसे कर्तव्य है ।।१५६–१५७।।

**श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।**
**सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ।।३३।।**

अर्थ :- हे शत्रुतापन ! द्रव्यमय यज्ञों से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है। क्यों कि हे पार्थ ! सभी कर्म अन्तमें ज्ञानमें विलीन होते हैं।

अर्जुना वेद जयाचें मूळ। जें क्रियाविशेष स्थूळ।
जया नव्हाळियेचें फळ। स्वर्गसुख ।।१५८।।

अर्थ :- हे अर्जुन ! जिन यज्ञोंका मूल वस्तुतः वेद, उनमें बाह्याचार–क्रियाकर्म का प्राधान्य है और जिनकी अपूर्वता स्वर्गसुख में परिणत होनेमें है–।

व्याख्या :- यज्ञानुष्ठान के द्वारा वही सूक्ष्मातिसूक्ष्म अक्षर तत्त्व ज्ञानमें प्रतिष्ठित होता है। ज्ञानसंवेदन के रूपमें उसकी प्रतीति आ जाती है। जीवन का जो सही पुरुषार्थ उसे प्राप्त करने से वहाँ आत्मरूपा प्रीति प्रकट हो जाती है। उसका अपना महात्म्य वहाँ स्थिर हो जाता है। प्रीतिकी बातही यह है कि वह देवीदेवताओं को अतिप्रिय बना देती है। जीवन में प्रीतिका अधिष्ठान प्राप्त हो जानेके कारण उसमें सर्वत्र

देवताभावही जागृत होता है । इस देहकी अणुरेणुओं में उस वेदाक्षर संवेदन के द्वारा परमकल्याणकारी प्रेमकाही उदय हो जाता है । वहीं उस आत्मरूप प्रीतिका प्रकाश फैल जाता है । वहाँ यज्ञकी स्थूल क्रियाअें सूक्ष्म अनुभूति में परिणतसी होती हैं । उन्हें एक अपूर्व रंग प्राप्त होता है जिससे वह प्रेम मनुष्य देहकी सीमाको, लाँघकर समष्टि में व्याप्त हो जाता है । अतः उसकी महत्ता भी बढती है साथही वहाँ एक अपूर्व मोहन, अननुभूत आकर्षण पैदा हो जाता है जो मनको सर्वथा प्रसन्न रखते हुए अन्तर्बाह्य जीवन आनन्दमय, लावण्यरूप बना देता है । जीवन में कुछ कमी नहीं रहती । बाह्यविधि विधानों का भी वहाँ सत्कारपूर्वक आदर हो जानेसे तथा अनुष्ठान हो जानेसे वे सबोंके द्वारा अनुष्ठित हाते हैं और एक आदर्श भी उपस्थित रहता है । आत्मबोधसंपन्नता के कारण ये क्रियाएँ अपूर्व लावण्यवती होकर महत् दानका महापुण्य वहीं स्थिर है । मुक्तात्मा का चित्तही मानो जीवन का सारसर्वस्व अपनाकर आनन्दविभोर हो जाता हो । वहाँ स्वर्गसुख अपनी सुखमयता का अनुभव करता रहा हो ।।१५८।।

ते द्रव्यादि याग कीर होति ।
परि ज्ञानयज्ञाचि सरि न पवति ।
जैसी तारा तेज संपत्ति । दिनकरापासि ।।१५९।।
देखें परमात्म सुखनिधान । साधावया योगिजन ।
जें न विसंवति अंजन । उन्मेष नेत्रिचें ।।१६०।।

अर्थ :- द्रव्य यज्ञादि यज्ञ, यज्ञही हैं किंतु ज्ञान यज्ञ से

उनकी तुलना नहीं हो सकती। नक्षत्र ताराओं का प्रकाश सूर्य के सामने क्या विशेष है ?

परमात्मसुख का निधान प्राप्त करने के लिये योगीजन उन्मेष नेत्रोंमें ज्ञानांजन डालने में कभी भूल नहीं करते।

व्याख्या :– द्रव्यादिद्वारा किये जानेवाले यज्ञ यज्ञही हैं, किंतु उनकी तुलना ज्ञानयज्ञसे कदापि नहीं हो सकती। उनकी ज्ञानयज्ञ के साथ बराबरी भी असंभव है। उन यज्ञों की महत्ता कुछ कम नहीं, उनके उद्देश्य की एक मर्यादा है। उनके अपने विविध उद्देश हो सकते हैं तथा उनका अपना एक 'काम' भी है। सभी यज्ञों में उद्देश की एकरूपता होने पर भी विधि विधान तथा अनुष्ठान के हेतु बाह्यतः विभिन्न हो सकते हैं। अतः उन अन्य यज्ञों में केवल ज्ञान की अभीप्सा नहीं। उनका उद्देश केवल ज्ञान नहीं रहता। अतः जो ज्ञानयज्ञ है उसमें इस प्रकार ज्ञान के सिवा और कुछ भी नहीं। द्रव्यादि यज्ञों में ज्ञानके अतिरिक्त जो कुछ अधिक है, उसके कारण वे कुछ आढ्य, तथा अमर्याद से बन जाते हैं। ज्ञानयज्ञ की स्थिति बिलकुल अलग है। उससे जो ज्ञानसंतर्पण हो जाता है, जो ज्ञानदान होता है वह सर्वथा अपूर्व रहता है। जिसे प्राप्त करने में बुद्धि सर्वथा असमर्थ रहती है उस आत्मज्ञान की मौलिक संवेदना उस ज्ञानयज्ञ में सहजसिद्ध हो जाती है। उसका अनुष्ठान बुद्धिकी क्षमता का प्रकर्ष कराने को है। वहाँ बोधही मानो बोधव्य के साथ मूर्त होकर यज्ञस्थित हो गया। उसके बारेमें कुछ कहना असंभव है। वह अनुभूति अनिर्वचनीय है। वहाँ जो कुछ है, जो शब्द,

अक्षर या और कुछ वह वस्तुतः केवल ज्ञानही, जिसका केवल संवेदन है, शब्द नहीं, वक्तव्य नहीं। ऐसी स्थिति में सहजता अकस्मात् सुस्थिर हो जाती है, इसमें आश्चर्यही क्या ? मानो दैवही देवतारूप हो गया। आकाश में ग्रह, तारकाएँ तथा नक्षत्र भी हैं। उनके पास तेज है, प्रकाश है। तेज के संबंधमें, प्रकाश के बारेमें उनकी उपमा दी जाती है। किंतु तेजकी बात देखी जाय तो उनका संपूर्ण तेज भगवान् श्री सूर्यनारायण के सामने न के बराबर है। ग्रहनक्षत्रों के पास यह तेजोराशी नहीं। उनकी तेजसंपदा उस दिननाथ दिनकर के तेजका एक अंश, एक किरणमात्र है। उनकी प्रकाशमानता श्री सूर्यनारायण कीही है। अतः उनका तेज एक प्रकार सूर्य भगवान्का ही रूप है। यह ज्ञानसूर्य अत्यन्त संपन्न तेजोराशी है, उसका प्रकाश पाकरही शशीदीप या दीपिकातारका प्रकाशित होती हैं। उन्होंने इसीलिये श्रीसूर्य को अपने ही सान्निध्य में रखा है, या यों कहें कि वे उसके सान्निध्य में हैं। अतः उन्हें सहजही वह प्रकाशरूपता प्राप्त हो सकी। वहाँ सम्पत्ति है तेजकी, प्रकाश की। किंतु उसका स्वामी सूर्यनारायण है। उसके सन्निध रहनेसे ही लोहचुंबक के द्वारा जिस प्रकार लोह आकृष्ट होता है उस प्रकार वह संपत्ति इन सभी शशी, ताराओं को आकृष्ट सी करती है। मतलब स्पष्ट है कि विविध प्रकार के यज्ञोंके द्वारा विविध कामनाओं की सफलता देखी जाती है। उनकी अपनी अलग सत्ता दीख पडती है, परन्तु सही बात अलग है। वह तो एक ज्ञान यज्ञही है कि जो उन सभी यज्ञोंके

अन्तःस्तल में सुस्थित है। उन्हें प्रेरणा, गति तथा प्रसाद से संपन्न करता हुआ अपनी ज्ञानशक्ति से विद्यमान है। सभी यज्ञोंका अन्ततः तथा अन्तस्थ उद्देश इसी ज्ञानरूप संवेदन पर स्थिर है। ज्ञानयज्ञ मानो सूर्यभगवान् के समान है जहाँ अन्य यज्ञ ग्रह, नक्षत्र, तारकाओं के समान। यज्ञके द्वारा, पुरुषार्थ-सिद्धि महत्त्व की मानी जाती है। विविधता के कारण यज्ञोंके उद्दिष्ट में कुछ मर्यादासी बनी रहती है किन्तु ज्ञानयज्ञही एक ऐसा है जो केवल पुरुषार्थका, पुरुषत्व के ज्ञान का, तथा योगानुभवका ही उपासक है। अतः वही सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। पुरुष का स्वभाव ज्ञान है। प्रकृति तो मूलतः जडही मानी जाती है। जब पुरुषार्थ प्राप्तिमें प्रकृति साम्यता अपनाती है तब वह त्रिगुणातीत 'पुरुष' तत्त्व अपने ज्ञानविलास से समूचे जीवन में अभूतपूर्व उजियाला पैदा करता है। वहाँ पुरुष के संगी होकर प्रकृति भी ज्ञानरूपसी हो जाती है। वह अपने को पुरुषलक्षणयुक्त बना देती है। मनुष्य का अपनी देह पर जो प्रेम है वह इस साक्षात्कार के पश्चात् देहसे भी विशाल विश्वव्याप्त हो जाता है। अतः वहाँ उसकी देहात्मकता न होकर आत्मनिष्ठाही प्रकट होती है। वहाँ देहके व्यापार, क्रिया, कर्म आदिमें विनय की पराकाष्ठा है, परमात्मदर्शन के कारण नम्रता है, तथा श्री पुरुषोत्तम भगवान के चरणों में सर्वसमर्पण की भावना है। उसको केवल सदासर्वदा वन्दनही है। यह नमन, विनय तथा मर्यादा के कारण वहाँ प्रेम अत्युद्भुतता के कारण योग्यता को प्राप्त हो गया। वह

पुरुषतत्त्व, प्रकृति तथा यह देह सबकुछ इस उदात्त निष्ठामें एक प्रेमके सिवा और कुछ नहीं रहे। वहाँ नमन है मर्यादा। मर्यादा की अपनी माधुरी है, विशेषता है। वह अनुभव करते हुए, उसका आस्वाद लेते हुए जीवन के सामरस्य का विधि विधान परिपुष्ट बनाते रहे। वहाँ जीवभाव शिवरूप है। शिवत्व ज्ञानरूप है। ज्ञान प्रेमकी पीठिका है। उनके सामरस्य का सारसर्वस्व जो अननुभूत रसोत्कर्ष है, वह अमृतस्वरूप है। उसीमें मानवजीवन की सफलता, सांगता तथा संगति है। वहाँ अक्षरत्व नामरूपात्मक होकर बहुविधता का लुभावना सौंदर्य तथा विलास प्रकट करता है। उसकी समीपता देवदुर्लभसी हो जाती है। किंतु ज्ञानांजन के द्वारा जिनके नेत्रोंमें नया नया उन्मेष प्राप्त हुआ है। उन्हें वह बिलकुल समीप है। उनके अन्तर में स्थित है। उन्हें वह आत्मसुख-निधानही है। परमसुख का परमोत्कर्ष उन्होंने पाया है।

॥१५९-१६०॥

जे धांवतया कर्मांचि लाणि। नैष्कर्म्य बोधाचि खाणी।
जे भुकेलियाची धणि। साधनांची ॥१६१॥

अर्थ :- गतिमान कर्मकी वह अन्तिम स्थिति है, विश्रांति स्थान है, नैष्कर्म्य बोधकी खान (निधि) है। सुखके लिये प्रयत्न करनेवालों को प्राप्त साधनाओं की वह तृप्ति है।

व्याख्या :- यह आत्मप्रकाशन सोनेमें सुगंध के समान है। सुवर्णही अपने पैरों घर आया। यह ज्ञानयज्ञ मानो सूर्यरूप है। उसके समान तेजस्वी, प्रकाशक, ज्ञानदाता तथा नियंता है।

वही सच्ची संपदा है। जिन्होंने उसको अपनाया, उनके कर्तव्य-कर्म सर्वथा सफल हुए। अब कर्तव्य, साधना, तप आदिकी आवश्यकताही नहीं रही। सभी साधनाओं के कर्म यहाँ तृप्त हुए, सफल हुए। अत्र कर्मोंका विस्तार नहीं, उनका संकोचही होता है। उन्हें अब एक प्रकार नित्यतृप्ति के कारण विश्राँति प्राप्त हो गयी। वहाँ नैष्कर्म्य स्वभावसिद्ध है तथा 'बोध' का आगरही सबको सुख देता रहा है। जो केवल साधनाका ही पीछा करते रहे, जिन्हें साध्यका पता तक नहीं चला और जो इस ज्ञान प्राप्ति के लिये मानो भूखे रहे हैं, अतः केवल साधनाओं में ही अटके हैं उनको भी यहाँ ज्ञान प्राप्त हुआ और वे विश्रांत हो सकते। उनकी साधना का सत्कार हुआ और वे विश्रांति तथा शांति का अनुभव करते रहे ॥१६१॥

जेथ प्रवृत्ति पांगुळ झाली। तर्काचि दिठि गेली।
जेणें इन्द्रियें विसरलिं। विषयसंग ॥१६२॥

अर्थ :– जहाँ प्रवृत्ति पंगू बन गई, तर्कदृष्टि नष्ट होनेके कारण इन्द्रिय विषयों का संग भूल गये।

व्याख्या :– जहाँ ज्ञान है वहाँ कर्म की सत्ता नहीं। वहां एक नैष्कर्म्यभाव ही है। कर्मोंमें प्रवृत्ति होती है केवल ज्ञान के लिये। प्रवृत्ति का स्वभावही कर्मोंमें प्रवृत्त करने का है। उसके द्वारा प्रवृत्तियोग, कर्मयोग सिद्ध हो जाता है। कर्मयोग की साधना नैष्कर्म्यं प्राप्त होनेपर सफल है। नैष्कर्म्य सिद्धि के पश्चात् आत्मबोध का प्रकाश फैल जाता है। कर्मयोग के द्वारा अनेकविध साधनाओं का प्रयास जो करते रहते हैं,

उन्हें नैष्कर्म्य सिद्धि के कारण तथा आत्मानुभूति के बाद उनका प्रयत्न निरर्थक सा लगता है। वहाँ प्रवृत्ति अपंग हुई। ज्ञेयरूप ज्ञानकी पराकाष्ठा जीवन में परमशांति का स्रोता है। उसकी उपलब्धि के अनन्तर वृत्ति पूर्णतया ज्ञानरूप हो जाती है। फिर वहाँ प्रवृत्तिका तथा कर्मोंका बोझ कौन उठायेगा? वहाँ तर्ककी भी जरूरी नहीं। तर्कसे अनुमान हो सकता है। जहाँ वस्तु प्रत्यक्ष है वहाँ तर्क की बिलकुल आवश्यकता नहीं रहती। आत्मज्ञान जहाँ प्रत्यक्ष है, इसी देहमें जो साकार है उसके लिये तर्कद्वारा क्या साध्य है? तर्क का आधारही यहाँ नष्ट हुआ। उन्होंने उस ज्ञानरूपको, उसके अक्षररूप नाममहात्म्य को इसी देहमें अपनाया, अनुभव किया। अब इन्द्रियों के कर्म, उनका विषयसंग तथा उनकी वासनाएँ, विकार कुछ नहीं रहा। वहाँ विषयसंग की थकावट नहीं, अहन्ता का अस्तित्व नहीं तथा चंचलता तो हैही नहीं। इन्द्रियों को इन सभी बातोंका पूरा विस्मरण होगया ॥१६२॥

मनाचें मनपण गेलें। जेथ बोलाचें बोलकेपण ठेलें।
जयामाजि सापडलें। ज्ञेय दिसे ॥१६३॥

अर्थ :– मनका मनरूप नष्ट हुआ, शब्द का शब्दत्व नहीं रहा। अब तो ब्रह्मवस्तु प्राप्त हुई सी सर्वत्र प्रतीत होती है।

व्याख्या :– मनकी जो चंचलता है वह अब निश्चिलतामें, स्थिरतामें परिवर्तित हुई। परमात्मभाव की उपलब्धि प्राप्त हो जानेसे उनके सारे संकल्प, विकल्प, विकार, वासना नष्ट हो गये। वह अब उस अमर तत्त्व का ज्ञाता होनेसे

"इन्द्रियाणां मनश्चास्मि" होकर अपनी गुरुता का प्रत्यय दिलाता रहा। उसका स्वभावही बदल गया। उसका मनपन न रहकर वह अमनीभाव को प्राप्त हो गया। अत्यन्त श्रेष्ठ अनुभव के कारण वह अब भीष्मपितामह के समान आदर तथा सन्मान का अधिकारी हो गया। देवाधिदेव की धारणा उसमें निहित हो गयी। उसकी वाणी जो केवल बोलनाही पसन्द करती थी, अब निःस्तब्ध हो गयी। मौन हो गयी। उसकी मुखरता अब नहीं रही। ब्रह्मवस्तु की उपलब्धि के कारण वह अन्तर में विलीन हो गयी, और उसमें डूबकर केवल ब्रह्मानुभूति के विचार में निमग्न रह गयी। वस्तु का ज्ञान हो जानेके कारण, उसका अपना ज्ञेय उसे प्राप्त होनेके कारण उसे सबकुछ प्राप्त होगया। और इसीलिये वह मौन हो गयी ।।१६३।।

जेथ वैराग्याचा पांग फिटे। विवेकाचाहि सोस तुटे।
जेथ न पाहतां सहज भेटें। आपणपें ।।१६४।।

अर्थ :– वहाँ वैराग्य के श्रम परिहरित हुए। विवेक की वांछा तक न रही। यहाँ अनायास अपने आपको, न देखते हुए भी दिखाई देता है।

व्याख्या :– परमार्थ में वैराग्य की स्तुति की जाती है। वह एक ऐसा साथी है जो जीवनभर योग देता है। उसके द्वारा जीवन के यच्चयावत् लोभ, मोह, विकार आदिसे सर्वथा विरक्ति निर्माण होती है। जहाँ अहंता है वहाँ ममता जरूर है। ममत्व के कारण इच्छा, द्वेष, लोभ, मत्सरादि विकार

जरूर रहते हैं। यह ममता जब आत्मनिष्ठ तथा आत्मीय हो जाती है तब वैराग्य का कार्य परिपूर्ण हो जाता है। इस ममत्व का जो विस्तार, जो व्याप है वह आत्मीयता में लीन हो जाता है। वैराग्य के ही द्वारा अत्यन्त परिश्रम के बाद मनोलय संभव होता है। वहाँ अक्षरत्व का विवेक के साथ स्नेह पैदा होता है। अक्षर का सांगाती बनकर विवेक जीवनभर उसके योगमें रहता है। उसे अन्य किसीभी बातकी जरूरी नहीं रहती। वह अन्य बातोंकी ओर सर्वथा दुर्लक्ष करता है। उसकी इच्छाही नहीं रही। विवेक को वैराग्य के कारण जो अनुपमेय वस्तु उपलब्ध हुई है, उससे उसे अपनी गरिमा का प्रत्यय सहजही आता है। उसके गुरुत्वकी महिमा सर्वत्र विस्तार पाती है। विवेक तथा वैराग्य दोनोंकी भी सुविधा रही कि उन्हें अपने योग्य उपलब्धि हो सकी। जीवकी परमप्रिय सखी विरक्ति का सख्य यहाँ अनुभूत है। उन्हींके द्वारा मनुष्यत्व की उपाधि, मनुष्यस्वभाव की विकारवशता, उसके जीवन की थकावट, श्रम, क्षोभ आदिका साक्षात् अनुभव करने के कारण, वे श्रीगुरु के चरणों में एक प्रकार विनन्तीही करते रहे। उस विनन्तिका ही यह कार्य सफलता के रूपमें-वस्तुकी उपलब्धि में सिद्ध है। यहाँ कर्तव्यही पूरा हो गया। श्रीगुरुसे की गयी यह विनंति सर्वथा संतोषप्रद है। वेही एक ऐसे हैं जो जीवभाव को शिवरूपता दिला सकते हैं।

श्रीगुरु का प्रसाद इसप्रकार जिसे प्राप्त हुआ, उन्हें प्रसन्नताही स्वयं मिलने आयी। ज्ञानलालसा अब विश्रांत

हुई। लालसा तो रही नहीं किंतु ज्ञानमात्र पाया गया। हम अपनेको ही मिल गये। हमें अपनापा, आत्मीयता प्राप्त हो सकी। यहाँ ब्रह्मही ब्रह्मसे मिल गया। जीव शिवस्वरूप हो गया। सहजसुख की उपलब्धि है। इस जगत् में ये ज्ञानरूप संत प्रकाश को फैलाते हुए रातका घनांधःकार दूर करते हैं। उनके द्वारा जीवन का व्यामोह हट जाता है, तिमिर का दोष दूर होता है। दिन का प्रकाश इस ज्ञानसूर्य के कारण है। रातमें भी दिन जैसा प्रकाश इस ज्ञानदीप का ही है। जीवन की दिनरात यथार्थता उपलब्ध कराने के लिए संतोके सिवा और मार्ग नहीं। नेत्रोंमें उन्हींके द्वारा ज्ञानांजन डाला जाता है। फिर येही नेत्र ज्ञाननेत्र हो जाते हैं और उनकी तेजोमयता जीवनभर प्रकाश फैलाती है। दिनकरनाथ श्री भगवान् सूर्य-नारायणही एक तेजोराशी है ज्ञानराशी है। उसके पास सकलज्ञान का संभार है। दिव्यनेत्रों का दान उसके द्वारा ही दिया जाता है। उन दिव्यनेत्रों के कारण अज्ञानांधःकार नहीं रहता। वहाँ दिन उदित है, प्रकाश फैला हुआ है। वहाँ एक दीप–ज्ञानरूपदीप–प्रज्वलित है। उसकी अखंड तेजोमय दीप्ति सूर्यके समान तमोराशीका, अज्ञानका विनाश करती है। यह ज्ञान यज्ञका स्वरूप है। वहाँ ज्ञानसूर्य उदित है। संतोंकी महत्ता इसीमें है कि वे इस परमश्रेष्ठ उपाधि को प्राप्तक होगये हैं। वे स्वयं ज्ञानसूर्य, यज्ञस्वरूप हैं। उनके द्वारा यह ज्ञानयज्ञ योग्यता प्राप्त है। उनके पास संपत्ति है बोधरूप। वे सूर्यके समान तेजस्वी, तथा ज्ञानसंपन्न है। यों कहें कि वे ही दिनकर का

साक्षात् वास्तव्यस्थान है। उनकी महान् विभूति, अगाध तेजोराशी तथा अथाह ज्ञानसंपदा सर्वथा अतुलनीय है। वे केवल ज्ञानरूप ही होनेके कारण, प्रत्यक्ष सूर्यभगवान द्वारा उन्हीं के पास ज्ञानकी तेजोराशो निक्षिप्त है। परमगुह्य ज्ञानस्रोत की अखंडता उनके चरणों में स्थिर है। ज्ञानही उनकी संपदा। गायत्री का साक्षात् स्मरण उन्हीं के रूपोंमें हैं। यज्ञपति का साक्षात् वास्तव्य उनके यहाँ होनेके कारण उनकी महती अवर्णनीय है। संतस्वरूप का महिमान वर्णन करने के लिये उनके सिवा और कौन योग्य है? संतही संभव हो वर्णन करेंगे और कोई नहीं। ज्ञानका प्रत्यक्ष साक्षात्कार उन्हींके रूपमें देखा जाता है, अनुभव किया जाता है। जो ज्ञानेच्छु हैं, उन्हें उनकीही सेवामें प्राप्त होगा। वे दिनरूप प्रकाश के नेत्र हैं। उपनेत्रोंकी दिव्यता का उगम उनकी तेजस्विता है। देवाधिदेवों का देवतास्वरूप तथा केवल ज्ञान वे ही हैं।।१६४।।

**तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।**
**उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः** ।।३४।।

अर्थ :- वह ज्ञान नम्रता से प्राप्त कर ले। प्रश्नद्वारा तथा सेवा करने पर तत्त्वदर्शी ज्ञानी तुझे उसका उपदेश करेंगे।

तें ज्ञान पैं गा बरवें। जऱ्हि मनि आथि जाणावें।
तऱ्हि संतातें भजावें। सर्वस्वेंसि ।।१६५।।

जो ज्ञानाचा कुरठा। तेथ सेवा हा दारिवटा।
तो स्वाधीन करि सुभटा। वोळगोनि ।।१६६।।

तरि तनु मन जिवें । चरणासि लागावें ।
आणि अगर्वता करावें । दास्य सकळ ।।१६७।।

अर्थ :– अगर उस भले ज्ञान को जानने की कांक्षा हो तो आवश्यक है कि अपने सर्वस्व के द्वारा संतोंकी सेवा करे ।

संत ही ज्ञानका घर है, वहाँ सेवाभाव अन्दर जानेका मार्ग- द्वार–है । अतः हे सुभट, संतोंको अपनाने की चेष्टा कर ।

इसलिये तनु मन तथा प्राणोंसे बिलकुल निर्गर्व भावसे– निरहंकारतासे–उनकी सकल चरण सेवा करें ।

व्याख्या :– ज्ञानही सर्वोत्तम है । उसकी तुलना अन्य किसीसे नहीं हो सकती । जीवन का चरमलक्ष्य ज्ञान पाना ही है । अज्ञानी को किस प्रकार सफलता प्राप्त होगी ? अतः ज्ञानकी इच्छा पुरुषार्थ की इच्छा है । अगर ज्ञान प्राप्त करने की तेरी इच्छा है तो आवश्यक है कि तू इन संतों को सर्वस्वी अपना बना ले । उनके अन्तर में तुम्हारे संबंध में आत्मीयता निर्माण हो । ज्ञानका उपदेश होना कोई आसान बात नहीं । किंतु संतोकी वह क्षमता है कि जो ज्ञानामृत का दान सहज आसानि से करायेंगे । ज्ञान की इच्छा हो तो सर्वथा संतोंकी सेवा करना यही एकमेव मार्ग है । नान्यः पंथः । अपने घरमें उस ज्ञानका आश्रय होनेके लिये, उनकीही शरणमें जाना चाहिये । श्रीगुरुकाही आधार सफल होगा । और कोई नहीं कि जो इस अनन्यसाधारण ज्ञान का दान कर सकेगा । श्रीगुरु का आधार प्राँप्त होनेके लिये सेवाविधान का स्वीकार अत्यावश्यक है । श्रीगुरु ज्ञानका साक्षात् गृह है, निवास है ।

वहाँ सेवाविधान उस निवास में प्रवेश करने का द्वार है। वहाँ का प्रवेश चतुर्विध मुक्तिका सोपान प्राप्त करना है। उनकी सेवा, उनके द्वारपर वास्तव्य भी महान् योग्यता दिला सकता है। मुक्तिकाही वह प्रवेशद्वार है। वहीं वह महत् सेवन है, महत् की सेवा है। अतः सत्संग तथा संतोकी सेवा आत्मीयता से अपनायी जाय। उन्हें उपास्य माना जाय। हे अर्जुन! तुम्हें चाहिये कि तुम्हारा 'सर्वस्व', संपूर्ण 'व्यक्तिमत्व' उन्हींके चरणों में अर्पण करो। उससे ही वह ज्ञानामृत प्राप्त हो सकेगा। पृथक् सत्ता रखकर किसीने भी ज्ञानको नहीं पाया। अहंता ज्ञानके लिये निःसंदेह बाधक है। अतः आवश्यक है कि अहंताको, अपनी पृथक् सत्ताको, अपने व्यक्तिमत्वको ही श्रीचरणों में समर्पित कर देना उचित है। संपूर्ण समर्पण में सामरस्य, आत्मानुभूति है, ज्ञानकी उपलब्धि है, जीवन की सफलता तथा संपन्नता है। उसमें विलीन होनेपर ज्ञानोदय है। दिव्य जीवन का विलास है। वह ज्ञानरूप मातृका उस परमप्रेम में अमृत पिलाती हैं। प्रेमकाही एक प्रभाव है कि जो सर्वस्व विलीन कराने में समर्थ है। वहाँ उस सर्वसाक्षीरूप श्रीगुरु के चरणों में प्रेमसे समर्पित हो जाओ। फिर उन्हींकी कृपासे ज्ञानामृत का योग संपन्न होगा। तनसे, मनसे तथा जीवभाव की संपूर्ण आत्मीयता के साथ उनकी सेवा होनी चाहिए। वहाँ कहीं भी संदेह न हो। जी चुराना नहीं। मनकी निरतिशय श्रद्धा तथा पूरी आस्थासे उनके चरणों में सेवाके लिये सादर हो जाओ। अगर्वतारूप सकल दास्यही ज्ञानकी सच्ची साधना

तथा उपासना है। किसी भी प्रकार का अभिमान न हो। फिर वह सेवाचातुर्य ही चतुर्विध मुक्तिका योग सुलभ कर सकेगा। इस ज्ञानसेवाविधान की गहनता अगर्वता में अभिप्रेत है। निरभिमान हो जानेसे ही सेवा की गहनता संभव है। फिर केवल आज्ञाप्रमाण रह जाती है। मनुष्य का पुरुषार्थ स्वामी की आज्ञाके कारण विनम्र भावसे उपस्थित रहता है। उसके लिये अन्य किसी उपासना की कतिपय जरूरी नहीं। श्रीगुरु की आज्ञाकाही यह प्रभाव है कि वह ज्ञान ज्ञानदशा को प्राप्त हो जाता है। मनुष्य उसे अपना सकता है। मनुष्य अपना जो सर्वस्व उन्हींके चरणों में समर्पित करता है, उसके बदलेही मानो श्रीगुरु का सर्वस्व उसे प्राप्त हो जाता है। कितना महान् भाग्य है यह ? वह महान् भाग्य, तन मन धन से तथा जीवन सर्वस्व के समर्पण के बादही संभव है। अतः आवश्यक है कि उन्हीं के चरणों में नम्र हो जाओ ॥१६५-१६७॥

मग अपेक्षित जें आपलें। तेंहि सांगति पुशिलें ॥
जेणें अन्तःकरण बोधलें। संकल्पा नये ॥१६८॥
जयाचें वाक्य उजियेडें। जाहलें चित्त निधडें।
ब्रह्माचेंनि पाडें। निःशंक होयें ॥१६९॥

अर्थ :– उससे जो अपना इप्सित हो वह पूछनेपर वे जरूर कहेंगे। एक बार भी अगर वे तुम्हारे अंतःकरण में अपना प्रबोध निर्माण करेंगे, तो फिर प्रापंचिक संकल्प सदा के लिये मिट जायेंगे।

जिनके वाक्यरूप प्रकाश से अन्तःकरण निर्भय होगा।

वही मानो ब्रह्मकी योग्यता निःसंशय पा गया ।

व्याख्या :– इस प्रकार हमारा जीवन संतोंकी सेवाका एक भाग मात्र होनेपर, हमारा जीव सर्वस्वी उनके चरणों में समर्पित हो जानेपर, वे सचमुच परितुष्ट हो जायेंगे, वे मनःपूर्वक प्रसन्न होंगे । वस्तुतः विश्वकी यच्चयावत् वस्तुकी गति, प्रगति या परागति तथा उसके स्थिति–विकास या विलय की पूर्णतः शक्ति उनके पास होनेसे अब हम तो अर्पण क्या करेंगे ? किंतु हम जिसे अपना कहते हैं, उस चीजके साथ साथ हमारा अपनापनही उन्हें अर्पण करना है । वस्तुतः वे तो जीव–जगत् के स्वामी हैं । किंतु हम अपनी पृथक् सत्ता रखने के कारण हम उनसे अलग रहते हैं । उनके चरणों में इसीलिये हमारा 'अपनापन' विलीन करना आवश्यक है । फिर वे जरूर संतुष्ट होंगे और उनका अपना विश्वात्मक स्वामीत्व हमें प्रसादरूप देंगे । तुम अपना जीवनसर्वस्व उनकी उपयोगिता के लिये अर्पण करोगे तो उनके साथ तुम्हारा इतना घनिष्ठ संपर्क निर्माण होगा कि वे तुम्हारे सिवा एक क्षण नहीं रहेंगे । वे तुम्हें ढूँढते आयेंगे । तुम्हारी राह देखेंगे । इस प्रकार परिपूर्ण दास्य होगा, सेवा होगी, प्रत्यक्ष की जायेगी तो फिर जीवन में परिवर्तन होनेमें देर कहाँ ? मनकी वासनाअें, उसके संकल्प, विकार विचार आदि सब जाल एक झटके में तोडा जायगा । उसे देर नहीं होगी और फिर उनकी कृपासे जीवन का वरद योग आसानी से प्राप्त होगा । वहाँ उनकी शरण जानेको अवसर प्राप्त होगा । उनका हमारे घर वास्तव्य होगा । वे

हमारे बनकर रहेंगे। उनके आश्रय के कारण हमारे जीवन में वह ज्ञानप्रकाश अन्धेर नष्ट करेगा, उजियाला देता रहेगा। हमारा जीवन संपूर्ण तथा उन्हींका आश्रित होकर रहेगा। इस प्रकार हमारा संकल्पही नहीं रहा। उनके संकल्प के कारण हमारा जीवनविकास होगा। अतः यह संकल्प किसी भी विकल्प से युक्त न होकर अपनी मौलिकता का परिचय देगा। अपनी मूलप्रकृति की ओर अग्रसर होगा। वहाँ उसका अपना सौंदर्य प्रकट होगा। सुन्दर चीजोंमें जो सौंदर्य है वह एक प्रकार तेज है, ज्ञान का-प्रकाश का छोटासा किरण है। उसकी दीप्ति अग्निके समान, उसकी लौ के समान तेजोरूप है। यह एक मनुष्यप्रमाण है। मनुष्य में पाये जानेवाले सौंदर्य का किंचित्मात्र संकेत है। उसका जो मूर्त, महामूर्त स्वरूप उसपर वह अवलंबित है। किंतु श्रीगुरु के प्रसाद के कारण प्राप्त होनेवाला तेजोमयी ज्ञानराशी सूर्य की बात क्या कहें? उस महान योग का मुहूर्त जब है तब साधक के चिदाकाश के पूर्वमें तप्त कांचन के समान अत्यन्त तेजोरूप सूर्य उदित है, वहाँ संलग्न है। ज्ञानसूर्य का यहाँ उदय है, तेजकी अपार राशी, सौंदर्य का साक्षात् रूप तथा ज्ञानकी पराकाष्ठा उस मनुष्य की मूर्तिमें प्रत्यक्ष हो जाती है। यह महान् योग, श्रीगुरु का परमपावन प्रसाद उसकी प्रसन्नता का यह आयुत्व यहाँ श्रीगुरु के द्वारा ॐरूप दर्शन में सुस्थिर हो जाता है। उसे अपना सब कुछ वितरण हो गया। तुम्हारी बुद्धि को जहाँ जहाँ सन्देह है, जहाँ जहां प्रश्न हैं और व्यामोह निर्माण हैं,

उन सभी स्थलों पर ज्ञानसूर्य का प्रकाश फैलाकर पूर्णतया निःशंक बनायेंगे। बुद्धिगम्य बातें अब किसी भी प्रकार अज्ञेयसी नहीं रहेंगी। अज्ञेयवादही अब अज्ञात हो जायेगा। केवल ज्ञान और प्रकाश की जीवनश्री हँसती रहेगी। साथही मनके विविध संकल्प, उनके अपने भिन्न भिन्न विकल्प तथा बुद्धिभेद का दर्शन अब नहीं होगा। वहाँ एक श्रीगुरुकाही संकल्पमात्र होनेसे अन्य संकल्प, बुद्धिभेद और मनकी विकारवशता सर्वथा मिट जायेगी। वहाँ श्रीस्वामीं के अनुग्रह के कारण चित्तका वेदोरूप संकल्प है, ज्ञानरूपताका ही अविष्कार है। इस प्रकार चित्तकी परिपूर्ण विलीनता वहीं होनेसे एक ब्रह्ममय दीप्ति ही प्रकाशमान है। ब्रह्मही मानो साकार हो गया। संतोका यह अनुग्रह, उनका यह उपदेश, उनका प्रसाद! और ऐसा कौन है कि जो यह मौलिक परिवर्तन कर सकेगा? संतोंका वाक्य वेदवाक्य है, वेदकी क्षमता है। उनकी समर्थ आत्मीयता के कारण किसीका भी जीवन आत्मवान् करने की महान् शक्ति वहाँ क्रियाशील है। उनका वाक्य, मानो उदित दिन है। जहाँ दिन है वहाँ रात कहाँ? दिन तथा रात का सुरसत्वही उन्होंने निर्माण किया है। दिन है तो ज्ञानरूप सूर्य हैही, रात हो तो भी ज्ञानदीप का प्रकाश है। फिर प्रकाशका ही साम्राज्य रहा। अंधेरा, नहीं रह सका। अंतःकरण में बोध सुस्थिर हुआ। आत्मबोध का ज्ञानसूर्य निरन्तर प्रकाश देता रहा, जीवन को भास्वर बनाता रहा। वह बोधरूप सत्त्व चारों ओरसे सौंदर्य, सत्य, शिवत्व का साक्षात्कार कराता है। यह

संतोकी देन है जो त्रिभुवन के दान को भी तुच्छ बनायेगी। उनके द्वारा दिया गया दान अक्षय है, अधूरा नहीं रहता। उसमें किसी प्रकार अपूर्णता नहीं होगी। जीवका जीवभाव वहाँ विलीन हो गया है। उसकी जीवदशाका स्मरण तक नहीं रहा। ज्ञानरूप श्रीगुरुमें ही उसका विलय हो गया है। अतः वह भी ज्ञानरूप शरणगृहही बन बैठा। ज्ञानकी शरण जहाँ ली जाती है वह श्रीगुरुका निवास उसने अपनाया। वहाँ सेवा हो जाती है और मनोलय भी उनके चरणों में हो जाता है। वहाँ मन इतना विलीन हो जाता है कि वहाँ अद्वैत की पराकाष्ठा है। अक्षर के सिवा वहाँ दूसरा अक्षरही नहीं। वह अक्षरभावको ही अपनाता है और अक्षर होकर रहता है। निर्भयता की परिसीमा वहाँ है। इस जगत में डरने लायक क्या है ? जहाँ देखें वहाँ उस असीम की आत्मीयता है, आत्मीय अनुभूति है, अपनापा है। परायेपन की, द्वेष की, मत्सर की, वैरत्व की भावनाही वहाँ नहीं फिर वह क्योंकर किसे डरेगा ? वह स्वयंब्रह्म हो जाता है, ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। आकाश में उदित ज्ञानसूर्य के समान उसके चित्तमें नीललोहित ज्ञानकी दीप्ति प्रकट है। भयका सर्वथा अभाव है। चित्तकी ब्रह्मरूपता चिदाकाश में व्यक्त हुई नीललोहित तेजोमयताही है। यह योग्यता क्यों कोई दे सकता है ? किसी भी प्रकार योग्यता कहींसे नहीं प्राप्त होती। इस जगत् में उसका दान नहीं दिया जाता। कितने भी संकल्प करनेपर मनके द्वारा उसकी प्राप्ति असंभव है। प्रत्युत् मनके अनेकविध

संकल्पों के कारण असमाधान बढ़ताही रहता है। जब इच्छा संकल्पात्मक स्वरूप लेकर बैठती है तब जन्म जन्म तक, युग युग तक उसकी तृप्ति असंभव है। संकल्पोंका अत्यन्त प्रभावकारी जाल जीवदशा को घिरकर रहता है। उसे तोडना किसी ऐरेगैरे का काम नहीं। उसी जाल के कारण जीव वासनामें अटका है। वासना नदीके प्रवाह में बहता जाता है। वहाँ नामरूप केवट मिलना कठीन हो जाता है। वासनाओं में डूबा हुआ यह जीव दुःख की जडता का अनुभव करता हुआ विषादपूर्ण जीवन बिताता है। वहाँ प्रसन्नता कहाँसे प्राप्त होगी ? वहाँ स्वभावगत आढचता है, अहंतारूप मद है, लोभ मोह आदि विकारों का निवास है। जीवन संपूर्णतया गर्वरूप, अभिमानस्वरूप हो जानेसे वहाँ लीनता, विनय आदि देवताभाव जागृत करनेवाला नमनही नहीं रहता। वहाँ वंदन नही। वंदनीयता तो कदापि नहीं। अपने झूठे अभिमान के कारण अपनी अहंता को देवतारूप समझकर वह स्वयं वंदन स्वीकार करता है। फिर संतकरणों में विलीन होनेकी बात कोसों दूर रहती है। उसके सपने में भी यह नम्रता, उदात्तता, विलीन वृत्ति असंभव रहती है। फिर वहाँ योग्यता काहेकी ? कौन उसे योग्यता दिला सकेगा ? योग्यता प्राप्ति सर्वथैव अशक्य हो जाती है। मानो सातों समुद्रों के पार दूर दूर गये आदमी का पुनरागमन जो सर्वथा असंभव। दिवंगत हुआ कभी लौटता है ? योग्यताही इस प्रकार निरालंब होकर नष्ट हुई। यहाँ इच्छा विषयों को अपनाती है। वासना परमार्थ रूप

अन्नपर नहीं रह सकती। वह उससे भाग जाती है। वांछा सर्वथा व्यामोहित होकर ज्ञानाज्ञान का भेद तक नहीं जानती। इस प्रकार सर्वथैव अनवस्था है। यह उनकी खुशी कि जहाँ नम्रता नहीं, मरण है। मनुष्य में वही एक अमृत है जो नम्रता का परिपाक है। अमृत कभी मार नहीं डालता। किंतु जहाँ नम्रताही नहीं फिर अमृत की बात क्यों कर? साथही इस सगुणरूप मायाका खेलभी उनके लिये विचित्र सा होता है। वह तो इन्हें लुभाती हुई चकराती हुई इधर उधर बुभुक्षित सा बनाकर भटकाती है। उसका स्वरूप यों विचित्र है। वृत्तिका अध:पतित विलास पूरा करने के लिए उसे वह मनचाहा नचाती है। उसके कार्यकलाप पर क्षणक्षण पर तरंगित होनेवाली वृत्तियों को भी न्योछावर किया जाय। वह माया उन वृत्तियों का विश्वासस्थान है। वह उन्हें असफलता के सिवा और क्या देगी? उसके द्वारा जो अकुशलता प्राप्त होती है, और महामाया के कुशल जालमें अटकने पर जो असहायता है, उससे वह जीवन एक हास्यास्पद खेल बन जाता है। और जो इस प्रकार मायाका आधार लेकर रहेगा, नम्रता छोड देगा उसके जीवन की मजाक क्या कहें? उसे विश्रांति कैसे होगी? उसकी निरन्तर दौड धूप बनी रहती है, आशानिराशा का उन्मत्त खेल उनकी जीवनशांति नष्ट कर देता है। अत: परिश्रम से अतिदु:ख प्राप्त हो जानेपर जब जीवन नम्रता को अपनाता है, संतोंकी सेवामें लगा रहता है तब संभव होता है कि वे इच्छाअें, वासनाअें, विकार अपनेआप स्वाभाविक

परिवर्तन कर देते हैं। उनमें मौलिकता अपनाने की दृष्टि आ जाती है। नम्रता के कारण जीवभाव का भयानक खेल वे समझ सकते हैं और उनकी मनोदेवता अहंतारहित होकर श्रीगुरु चरणों में स्थिर होनेको लालायित हो उठती है। नरदेह की उत्तमता का परिचय यहीं संभव है। वासना का व्यामोह, मनकी गंदगी और मायाका मोह आदि सबकुछ नष्ट हो जाता है। अमृतस्वरूप प्रदान करनेवाली संतोकी कुशलता वैकुण्ठ का द्वारही खोल देती हे। मनुष्य का मनुष्यत्व वस्तुतः देवतारूप ही है। वह अमरपद काही अधिकारी है। किंतु इसका साक्षात्कार सब नहीं कर सकते। यह तो संतोंको देन है कि मनुष्य देवतारूप हो जाता है। परब्रह्मरूप ही बनाते हैं। इस देह के वैभव का, वह आत्मरूप का साक्षात्कार प्रत्यक्ष विष्णुपद की प्राप्ति है। प्रत्यक्षतः प्राप्त साधुदर्शन, संतदर्शन इसप्रकार उन्हींकी ही योग्यता दिलाता है। वहाँ मन उन्मन है, विष्णुपद में सुस्थित है, ज्ञानामृत में सुस्नात है। संतोंके वाक्यद्वारा प्राप्त यह देवदुर्लभ योग चित्तकी आत्यंतिक निर्भयता अपनाता है। वहाँ सर्वत्र अतिरम्यता का विलास है कि जहाँ देवता का आनन्दघन साक्षात्कार पगपग पर अनुभव किया जाता है। रम्यताही वहाँ रममाण होती है ।।१६८-१६९।।

**यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।**
**येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ।।३५।।**

अर्थ :- हे पाण्डव ! वह ज्ञान एकबार हो जानेसे तुझे इस प्रकार का मोह कभी नहीं होगा। उस ज्ञान के कारण तू

अपनेमेंही, जैसा कि मुझमें तूने देखा था–सब भूतमात्रों को देखेगा।

> ते वेळि आपणपेनि सहितें। इयें अशेषेंहि भूतें।
> माझ्या स्वरूपिं अखंडितें। देखसि तूं ।।१७०।।
> ऐसें ज्ञानप्रकाशें पाहिल। तैं मोहांधकार जाईल।
> जैं श्रीगुरुकृपा होईल। पार्था गा ।।१७१।।

अर्थ :– उस समय अपने साथ यह समूचा विश्व तथा समस्त भूतमात्र मेरे स्वरूप में तू देखेगा।

इस प्रकार जब ज्ञानरूप प्रकाश से तू देखेगा तब मोहरूप अन्धेरा झट नष्ट होगा, उसी समय हे पार्थ, श्रीगुरु की कृपा हुई है, होगी ही।

व्याख्या :– यह परमात्मतत्त्व भूतोंका अत्यन्त मौलिक तथा अवशिष्ट भाग है। वह जीवन का तथा यच्चयावत् सृष्टि का अन्तिम अक्षर है। उसीसे सब निर्माण होते हैं और उसीमें सब विलीन हो जाते हैं। हे पार्थ! उस अक्षर में तुम्हारी स्थिरता हो जानेके कारण अब तुम उस देवात्मभावको, अक्षरत्वको अपना सके। तुम अपने साथ सभी विश्वको उस अक्षररूप मुझमें देख सकोगे। यह अनुभूति भूतज्ञान का प्रतिपालन है। क्योंकि वही इस सृष्टिका मौलिक आधार तथा अर्क है। व्यक्ति को भूतमात्रों के द्वारा प्राप्त यह अक्षरभाव अपने रूपमें विश्राम पा चुका। उसी जगह जीवनसर्वस्व सुस्थिर करने का प्रयास भूतमात्रों का पालन तथा परिपोष है। वस्तुतः इसके पहले इस पंचमहाभूतात्मक संघात की

मौलिक सत्ता नहीं पहचानी गयी। अतः उसके संबंध में किये गये संकेत उपरी, अनावश्यक, असमान रहे। वह संघात इसीसे असंतुष्टसा रहा। किंतु जब संतोके वेदवाक्यरूप 'अक्षर' के कारण जीवन का आत्मभाव स्पष्ट हो सका। उस सर्वगत परमात्मतत्त्व का अनोखा अपनापन समझमें आ सका। जीवनभर सर्वत्र एक निर्भयताका, आत्मीयता का प्रेमभाव प्रकट हो गया। जीव आत्मरूप होकर माताके समान सभी भूतोंका परिपोष करता रहा। भूतमात्र को इसी कारण इष्टप्राप्त हो जानेसे अतीव प्रसन्नता हुई। पांचभौतिक विस्तार तथा बल प्रचंडसा दीख पडता है। किंतु उसमें आत्मसत्ता की पहचान नहीं। आत्मिक बलका अभाव होनेसे पांचभौतिक प्रचंडता परिणाम की दृष्टिसे अत्यन्त क्षुद्र है। किंतु वह प्रचंडता न होनेपर भी आत्मवान्‌का सामर्थ्य, ज्ञानरूपता के कारण असीम है। उपर से दुबलापतला शरीर अपनी आत्मसत्ता का प्रभाव बेहद बढाता है। अतः पांचभौतिक जीवन की अज्ञानरूपता की अपेक्षा उपर से प्राकृतिक दुर्बलता होनेपर भी ब्रह्मरूपता, ब्राह्मण्य सर्वथा श्रेयस्कर है। यह ज्ञानगम्य तथा ज्ञानजन्य विचार भूतसृष्टि का गौरवही बढाता है। पंचमहाभूतों का तथा इन्द्रियों के संबंध सुव्यवस्थित हैं। वे इन्द्रियों के ही विषय हैं। अतः उन्हींसे मनुष्य की वासना निर्माण होती है। वासना की अनिवार्यता भूतमात्रों में निहित है। जब वे ही आत्मसत्ता की पहचान के कारण संतुष्ट होंगे तब उन्हें वासना की आवश्यकताही नहीं रही। वे फिर उसकी

ओर नहीं देखेंगे । जहाँ वासनालय है, वहाँ मोह का पता नहीं । मोह सदाके लिए ओझल हो गया । निर्लोभ बढता रहा । वहाँ ज्ञानका निवास है, सलोकता है । श्रीगुरुकृपा का अभय-दान है । ज्ञानदृष्टि का अपूर्वयोग है । योगकी महत्ता स्वाभाविक रूपसे बढ़ती जाती है । वह अपने स्वभाव को प्राप्त होती है । यह केवल संतोंकाही महिमान है कि जो इस चित्तका अतिरम्य रंजन है, योगभाव का प्रसादपूर्ण अनुभव है । चित्तकी जडता पूर्णतया नष्ट हो जाती है । अब वह ज्ञानस्वरूप, चैतन्ययुक्त हो जाता है । संतोकी कृपादृष्टि के कारण वह जीवसृष्टि का रंजन हो जाता है । जीवदशा को वह प्रसन्नता का योग देती है, या प्रसन्न बनाती है । जीवभाव की विस्तृत सी आत्मीयता यहाँ फिर प्राप्त हो जाती है । भूला हुआ श्रेयस, अब श्रेयोरूप होकर फिर सुप्रतिष्ठित हुआ । इस रूपस्थिरता के कारण, आत्मप्रतिष्ठा के कारण जीवदशा अत्यन्त उच्चतम अवस्था को प्राप्त हो जाती है जहाँ केवल आनन्दघनता है । उसकी उपलब्धि के बाद सभी प्रकार का दुःख दूर हो जाता है, विनष्ट होता है । वहाँ विलक्षण आत्मीयता सुस्थिर होनेके कारण गुरुके इस महाप्रसाद का ऋण लौटाने की इच्छासे वह अपना जीवनसर्वस्व फिर वहीं समर्पित करता है । उसीमें लीन होता है । अपने स्वभावमें, आत्मरूपतामें मानो आत्मार्पण करता है ।।१७०-१७१।।

**अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।**
**सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ।।३६।।**

अर्थ :- यद्यपि तू सभी पापियों में मानो अत्यन्त पापी है

तो भी तत्त्वज्ञानरूप नौकाकी सहायतासे वह पाप तू सहजही पार करेगा ।

जरि कल्मषाचा आगरु । तुं भ्रांतिचा सागरु ।
व्यामोहाचा डोंगरु । होऊनि अससि ।।१७२।।
तऱ्हि ज्ञानशक्तिचेनि पाडें । हें अवघेंचि गा थोकडें ।
ऐसे सामर्थ्य असें चोखडें । ज्ञानिं इये ।।१७३।।
देखे विश्वभ्रमा ऐसा । जो अमूर्तिचा कडसा ।
ते जयाचिया प्रकाशा । पुरेचिना ।।१७४।।
तया कायसे हे मनोबळ । जे बोलताचि अति किडाळ ।
नाहीं येणें पाडें ढिसाळ । दुजें जगीं ।।१७५।।

अर्थ :– यदि तू पापों का आगर है, या भ्रांति का सागर है या व्यामोह का पहाड है। तो भी–ज्ञान शक्ति का सामर्थ्य प्रचंड है, उसके सामने पाप बिलकुल नगण्य है, ज्ञानके पास यह महान् सामर्थ्य है।

"यह विश्व सत्य है" यह बडा भ्रम भी परमात्मज्ञान के उदय के साथ नष्ट होता है, उस (ज्ञान) प्रकाश के सामने मन के विकार तो अत्यन्त तुच्छ हैं। मनोविकारों के समान तुच्छ इस जगत में और कुछ नहीं।

व्याख्या :– यह परमात्मस्वरूप वस्तुतः कहनेयोग्य नहीं है। उसका वर्णन परिपूर्ण रूपसे कभी हो नहीं सका। उसके स्वरूप के बारेमें कुछ कहना मानो एक प्रकार पाप सा है। क्योंकि वह कथन आत्मस्वरूप से सर्वथा दूर है। आत्मस्वरूप से अलग ऐसी दूसरीं कोई चीज हो तो वह भ्रम, भूल अतएव पाप है। चित्तकी अव्यवस्थिति भगवत् स्वरूप से सर्वथा वंचित

करती है। और वहाँ किस बातका कथन होगा ? भगवत् स्वरूप के सिवा चित्तकी जो और बकवास है वह अर्थशून्य, ऊपरी तथा अनात्मरूप है, झूठी है अतः पापरूप है। इस जीवदशा की आधारशिला ज्ञानके विसंवाद में है। वह अविद्याजन्य विकृति है। उसकी स्थिति का यथार्थ ज्ञान हो जानेमें यह स्पष्ट होता है कि वह जीवनदशा की आधारभूत भावना अनेकों के पास कथन हो जानेसे अनेकरूप हो जाती है। हरेक की व्यक्तिगत विकारिता पर आधारित यह भावना, कहने सुनने के कारण, व्यक्तिनिविष्ट अनेकों की होकर विकार-वशता के कारण मनको प्रसरणशीलताही बढ़ती है। मनकी यह व्यस्त तथा व्यग्र अवस्था विकारवशताका ही परिपाक है। अतः इन विकारों का कथन करते रहना, याने पापके सिवा और क्या है ? वह तो एक प्रकार मनको विषाद दिलानेवाली, उद्विग्न बनानेवाली, मत्सर निर्माण करनेवाली विकारग्रस्त हिंसाही है। मनकी व्यग्रता विकारवशता की परिचायक है। 'द्वितीयाद् भयं भवति' के अनुसार मन अपनीही दूजी सृष्टि, जो अनात्मरूप है, निर्माण करता है। फिर वहाँ मत्सर को आश्रय मिल गया। जहाँ मत्सर है वहाँ विषाद अवश्यमेव हैं। यहाँ मनकी विशालता नहीं रहती किंतु उसका झूठा प्रभाव है। वह तो अपनी विशालता को मानता हुआ अपनेही मनमें अकडता हुआ, ऐंठता हुआ रह जाता है। वह भूला भटकता है। अपने मनको विशाल समझता है और बडे आदमी की व्यग्रता अपनाता है। बात यह होती है कि एक विषाद के

सिवा उसके हाथ कुछ नहीं आता। वहाँ उद्विग्नताही आसन जमाये रहती है। जहाँ सच्ची विशालता है नहीं वहाँ मनका संकुचित स्वभाव आनंद को तथा आनन्द के प्रसार को कैसे प्रेरणा देगा? वहाँ उद्विग्नता मनको अधिकाधिक कृश, कृपण बना देती है। शरीर की कृशता यहाँ अभिप्रेत नहीं। मनकी कृशताही उसका दुर्बलपन है। मनकी दुर्बलता के कारण शरीर तथा सृष्टि दोनों ओर देखने की उसकी दृष्टि संकुचित, व्याधियुक्त, विकारवश बन जाती है। जहाँ विकार है, संकुचित वृत्ति है वहाँ कृपणता जरूर होगी। कृपणता के कारण मन विशाल औदार्य की कल्पना तक नहीं कर सकता। औदार्य के सिवा वह परमपावन पुण्य कहाँसे प्राप्त होगा? जीवनभर जो केवल अपनेलिये झगडता रहता है, जिसके मनमें स्वार्थ के सिवा और कुछ शेष नहीं रहा और योगलिप्सा के कारण झूठी अहंताका ही जिसने दास्य स्वीकार किया, क्या वह दूरदर्शित दानशूरता का महात्म्य समझ सकेगा? क्या मन उस विशाल अनुभूति का आस्वाद पानेको पात्र है? जहाँ औदार्य नहीं वहाँ विशालता कहाँसे आ टपकेगी? विकारवशता के कारण मनकी कृशता और बढ़ती है। वह सभी बातोंमें उल्टा अर्थ देखता है। जो सर्वथा नहीं उसकी विद्यमानता उसे प्रतीत होती है। उसे जीवन का विपरित अर्थ समझता है। फिर चित्तकी स्थिरता तथा स्वभाव की स्वाधीनता से व्यक्ति वंचित रहता है। चित्त धीरे धीरे अध:पतित हो जाता है। यह अध:पात विना रोकटोक अहंता के जाल में अपनेआप फँस

जाता है। पारधीद्वारा रचाये गये जालमें अनायास फँसनेवाले हिरन की तरह अहंता के फाँसेमें यह मन हार जाता है। अटकता है। यह केवल अहंता का दुष्परिणाम है। फिर अहंता पर आधारित नयी सृष्टि, नये संकल्प विकल्प शुरु होते हैं। अहंता का विस्तार, व्यामोह क्षणक्षण अधिकाधिक हो जाता है और मन अपने धर्मके साथ उसमें डूब जाता है, अपने को भूल जाता है। जिस प्रकार पारधी अपने पारध को फँसाने के लिये जाल फैलाकर बैठता है, उसी प्रकार मनके द्वारा यह विकारवशता का जाल फैलाया जाता है, जिसमें बुद्धि फँस जाती है। विकारों में वह सर्वथा डूब जाती है। इसके विपरित संतवाक्य का प्रभाव है। वेदवाक्य के समान वह निःसंदेह तथा सर्वथा श्रद्धेय है। जो उसे निष्ठा के साथ अपनाता है, उसके विकारों की संभावना नहीं रहती। जो कुछ प्राकृतिक विकार होंगे उनकी व्याप्ति भी मर्यादित होती है। चंचल मनमें, अश्रद्ध अन्तःकरण में यह असंभव है। श्रद्धावान् की विकारवशता प्रबल तथा विश्वव्यापक सी कभी नहीं हो सकती। उसे उसकी अपनी सीमा है। सीमा लाँघकर वह बाहर चाहे वैसी नहीं दौड सकती। माँ बापकी आज्ञा जिस प्रकार बच्चेसे पूर्णतया पाली जाती है, उसी प्रकार, संतवाक्यों के कारण, विकारवशता का नियमन होता है। आज्ञाकारी बालक बुरी राहपर नहीं चलता। वैसेही आज्ञाकारी मन भी विकारवशता की ओर नहीं झुकता। संतोंके प्रसादरूप नामधारण सर्वथा श्रेयस्कर हो जाता है। उसके द्वारा

अखंडानुसंधान होकर जीवकी शिवरूपता का महात्म्य अनुभव किया जाता है। वहाँ एक महती प्रेमही परमोत्कर्ष को पहुँचता है। संतोंके द्वारा जीवपर इस प्रकार महदुपकारही किये जाते हैं। वह उनका सदाके लिये ऋणी हो जाता है। यह जीव अपने भावको, स्वभाव को, आत्मरूपता को पहचानता है। फिर उससे कभी भूल नहीं होती। वस्तुतः वह तो स्वयं ईश्वरही है, किंतु मायामोह के कारण इस प्रकार हीनदीनसा बना, विकारोंमें डूबा, लाचार होकर दुःखी बन गया है। जब उसे अपनी स्वाभाविक योग्यता की सुस्थिति प्राप्त होती है तब वह सचमुच नम्रता से झुका रहता है। जिसके द्वारा यह महत् कार्य हो गया, उसके प्रति एक अटूट स्नेहबंध, अखंड नम्रता तथा आजीवन स्मरण रहता है। यह बात उसकी कृतज्ञता का परिणाम है। ईश्वरभावना उसका मूल स्वभाव है। जीवदशा विकारवशता के कारण प्राप्त हो जाती है। जीवकी ईश्वरीयता स्वतःसिद्ध है, किंतु उसकी पहचान होना आवश्यक रहता है। आत्मबोध द्वारा यही होता है। जीव शिवका यह सामंजस्य तथा सामरस्य उसकी श्रद्धा, भक्ति तथा ज्ञानका अन्तिम फल है। किंतु यह स्थिति प्राप्त होनेके पूर्व जीवकी अवस्था अत्यन्त हीनदीनसी हे। वह माया उसे बेचैन बनाती है। लाचार, विवश बनाकर विकारों के घर घर घुमाती है। मनकी वह अत्यन्त विचित्रसी सृष्टि है जिसका ब्यौरा। क्या कहा जाय ? उसके बारेमें थोडेही में कहा जा सकता है कि वह तो पापोंकी खनि है, भ्रांति का सागर है।

भ्रम का महान् पर्वत है। उसकी अथाहता, अमर्यादशील उर्मियाँ तथा विमनस्क वृत्तियों को जो अनुभव कर रहा है, उसकी रामकहानी सुनने योग्य नहीं। वह अभागी सदाके लिये व्यग्र, व्यस्त तथा विमनस्क रहकर सुख, शांति, विराग आनन्द से कोसों दूर है। उनकी कोरी कल्पना करता हुआ, मायाके पीछे दौड धूप करता हुआ यह उस परमात्मतत्त्व से सर्वथा वंचित रहता है। उसका सुख कोरा भ्रम है। उसका उल्हास अन्तमें निराशा में परिणत होता है। वहाँ जो भला है, ऐसा कहा जाता है, वह केवल कहने के लिये हैं, वास्तविकता से वह कथन दूर है। सत्यका वह अपलाप है। किंतु वे जहाँ सत्यकोही नहीं समझते, फिर सत्यके अपलाप को क्या समझेंगे। संपूर्णतया अन्धेरे में पडें हुए ये जीव ज्ञान, प्रकाश, परमात्मसुख आदिकी काल्पना तक नहीं कर सकते। यह भ्रम तथा उनके साथ रहनेवाला पाप दोनोंका यह विलक्षण कर्तृत्व है। अगर किसीके पास श्रद्धा का एक किरण मात्र हो तो उसके आधार पर एक न एक दिन इस भ्रमका निरास जरूर हो सकता है। जो अपने स्वत्वसे, निष्ठासे तथा बुद्धि के निश्चय से संतो के चरणों में स्थिर है उसे ही यह बुद्धिका भ्रम, मनका व्यामोह वाधित नहीं कर सकता। यह तो साफ साफ स्पष्ट है कि इस देह की, इस जीवन की विकारवशता अत्यन्त विचित्र है। वहाँ वैचित्र्य तथा वैविध्य का अमर्याद फैलाव है। अपने देहमें उसकी विद्यमानता एकप्रकार अकार्यक्षमता का ही द्योतक हो जाती है। अर्जुनजी के मनमें मी व्यामोह निर्माण हुआ, फिर

ऐरेगैरेकी क्या बात । अर्जुनजी, जो स्वयं भगवान श्रीकृष्ण का निष्ठावान भक्त उसके मनमें भी मोहजनित भ्रांतिका कुछ परिणाम दीख पडा था। सामान्यतः जीवन में यह अमूल्य श्रद्धा नहीं दीख पडती । क्षणक्षण उस परमात्मभाव का अखंड नामानुसंधान जिसके जीवन में है वहाँ श्रद्धा, स्वबल, संपन्नता तथा शारण्य भी है। किंतु जहाँ यह दृढ़ता नहीं, विश्वास नहीं वहाँ मन की विकारवशता के साथ नयी सृष्टिसी निर्माण हो जाती है, जहाँ अभाव है, विकार है तथा अधःपात भी। दोनोंकी विभिन्न अवस्थाऐं मनकी श्रद्धा तथा अश्रद्धापर अवलंबित रहती हैं। अश्रद्ध जींवन का सचमुच दुर्भाग्य है कि वहाँ कहीं आधारही नहीं। दुर्दैव के एकही आघात में वह पूर्णतया नष्टभ्रष्टसा होता है। वहाँ सत्त्वहीन निर्बल विषण्णता उदासी बढाती है। यह कुछ नयी बात जरूर नहीं। जो चाहेगा वह स्वयं उसका अनुभव कर सकेगा। हरेकने इसका कुछ हदतक अनुभव भी किया होता है। वहाँ आत्मग्लानि है, धैर्य कहाँ ? यह दुःख व्यक्त नहीं होता। आदमी का मन इससे बधीर हो जाता है। वह दुःखकी वेदना को भी समझ नहीं पाता। जब कभी वह ज्ञात होता है, उस पार जानेकी चाह निर्माण होती है, परमात्मदर्शन की लालसा हो जाती है, तब मन उत्सुक होता है किंतु यह पहला बडा भारी बोझ उसके सिरपर पडा रहता है। वह ऊठ नहीं सकता। अश्रद्धा के कारण संतोकी ओर उसका ध्यान नहीं जाता। फिर बरबस मन अपनी विवशता लिये उसी दुःखमें दबोचा जाता है।

उसकी थकावट, उसकी ग्लानि, उसकी लालसा प्रयत्नशून्य, निरर्थक हो जाती है। उसके पैर पीछे खिचे जाते हैं। उसका मन मौन हो जाता है। अतः आवश्यक है कि इसपर अत्यन्त परिणामक्षम उपाय देखें। जिससे मन दृढ हो जायगा, वीर्यवान् होगा, पुरुषत्व को स्थायी करेगा। अतः उसपर एकही उपाय है कि हम उस नामरूप सखीसे मित्रता करे। नामानुसंधान का आश्रय लें। वहाँ दौर्बल्य हट जायेगा। वहाँ सफलता तथा सुमुहूर्त प्राप्त होगा। जीवन की शिथिलता, ग्लानि, विवशता नष्ट होकर वहाँ एक सबल प्रामाण्यही, नामाधारशक्ति प्रभावित करेगी। मनका मोह हट जायेगा। उसकी अमूर्तता नष्ट होकर वहाँ पुरुषार्थ की मूर्ति प्रसन्नता दिलायेगी। यह नाममहात्म्य है। संतोंका यह प्रसाद है। उनकी यह कृपा है। वह साक्षात् पुरुषतत्त्व है। धीरज बढानेवाला अमृत है। उसके सेवन में लगे रहो। उससे विस्मृत मत हो ।।१७२।।

ज्ञान शक्तिका सामर्थ्य महान् है। उसकी श्रेष्ठता निर्विवाद है। उसके सामने पाप, विकार, मोह, व्यामोह, मत्सर, लोभ, कामक्रोध आदि सब बिलकुल नगण्य हैं। अत्यन्त महान् तथा प्रचंड सामर्थ्य ज्ञानशक्ति में निहित है, जिसकी तुलना में और कोई नहीं। विश्व की सचाई सब मानते हैं। यह विश्व का आभास सत्यरूप मानकर हमारी जीवनयात्रा चलती रहती है। विश्वरूप आभास को सत्य समझने का जो भ्रम हममें है, उसे ज्ञानोदय के पश्चात् अस्तित्वही नहीं। ज्ञान के उदय में विश्व का आभास नष्ट हो जाता है। यह महान् भ्रम

एक झटके में नष्ट हो जाता है । इतना बडा भ्रम भी दूर हो जाता है, फिर आत्मज्ञान के सामने उस मनोबल का महात्म्य ही क्या है ? उसकी महत्ता नगण्य है । मनोजन्य विकार, पाप, लोभ सबकुछ आत्मज्ञान के सामने हट जाते हैं । उनकी स्थिति अत्यन्त क्षुद्र है । ज्ञानशक्ति के समान दूसरा सामर्थ्य इस जगत में सर्वथा नहीं । उसका उदय विश्वभ्रमको, विश्वके सारे भ्रमको दूर करता है । विश्वभी सत्यका आभासमात्र है । ज्ञानोदय के बाद आभास रहताही नहीं, सत्यही रहता है और एक ज्ञानशक्तिही सर्वत्र बिराजमान रहती है ॥१७३-१७५॥

**यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन ।**
**ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥**

अर्थ :- हे अर्जुन ! जिस प्रकार अग्नि इन्धनों के भार भी जला देता है, उसी प्रकार ज्ञानस्वरूप अग्नि कर्मोंको पूरा पूरा जलाता है ।

सांगे भुवनत्रयाची काजळी । जे गगनामाजी उधळली ।
तिये प्रळयिये वाहुटुळी । काई अभ्र पुरे ॥१७६॥

अर्थ :- यह बता कि त्रैलोक्य प्रज्वलित होनेपर गगन में व्याप्त प्रलय की आँधी के सामने क्या मेघ तुच्छ नहीं होते ?

व्याख्या:- यहाँ जो एक एक विकार है उसकी क्षमता प्रचंडसी जरूर है । उसके द्वारा मानो त्रैलोक्यको भी आग लग जाती है । देहकी स्वाभाविक सुस्थिति में विकारों का उद्भव बहुत कम रहता है । किंतु जब विकारोंका ही प्रभाव बढ़ता है तब देहकी सुस्थिति रहती नहीं । वहाँ विघटनसा होता रहता है ।

देहको विकारवशता देहका पूरा घात है। सहज स्वाभाविक आत्मकाम या इच्छा, जो विश्वकी स्थिरताको भी बाधा नहीं पहुँचाता, अगर विघटित हो जाय तो त्रैलोक्यको भी मानो आग लग चुकी हो। इस विशाल गगन में धुआँधःकार भर गया। प्रलयकाल की तुफान आँधी के समान आकाश व्याप्त तथा मलीन हो गया। उसके सामने इन तुच्छ अभ्रोंकी क्या कथा? अगर देह द्वारा कुछ विदग्धता को अपनाया हो, तो इस विघटनामें भी वह अपने को सुस्थित करनेकी क्षमता रखता है। जप, तप, वैराग्य, उपासना आदिके द्वारा इस देहको कुछ पुष्टि, तुष्टि या स्थिरता प्राप्त होचुकी हो तो संभव है कि इस तुफान में भी वह अपना आसन जमाता रहेगा। उसके जीवन की विघटना नहीं होगी। वैराग्यरूप अग्निके द्वारा कुछ ज्ञानसंपन्नता प्राप्त होना इसीलिये आवश्यक है अन्यथा विकारों की अधीनता स्वीकार करनी पडती है। मनकी मलीनता प्रालयकाल की आँधीके समान सबकुछ विघटित कर देगी। हाँ! वहाँ विकारों का होना केवल कल्पनाविलास है। वास्तविकताका, सत्यका वहाँ पता तक नहीं। वह कोरी कल्पना है। आकाश में सफेद अभ्र जिसप्रकार भिन्न भिन्न प्रकार धारण करके गंधर्वनगर की निर्मिति करते हैं, कि जिसे कुछ अर्थ नहीं। क्योंकि न तो वह नगर है, न उन अभ्रोंके द्वारा वृष्टि की शक्यता है। उनकी उपयोगिता शून्य है। जब येही अभ्र कोरी शुभ्रता छोडकर जल से ओतप्रोत होकर काली घटामें बदल जाते हैं, तब जीवन बरसता है, बारिश हो सकती

है। वहाँ सचमुच सत्यका कुछ स्पर्श है। जीवन की संपन्नता है। अतः जब जप, तप, अभ्यास, नामधारणा, आस्था, प्रेम प्रीति आदिमें उत्कटता न होगी तो उनके द्वारा शुभ्र अभ्र के समान कुछ लाभ नहीं है। किंतु जब इनमें लगन, आस्था, उत्कटता आदिका उत्कर्ष है तब वहाँ ज्ञानरूपता का आविर्भाव है। मन की प्रसन्नता बढाने की क्षमता है। जीवन को संपन्न करने की शक्ति है। वहाँ मनमें मलीनता निर्माण नहीं होगी। विकारवशता नहीं रहेगी। अतः इसलिये थोडाबहुत करने से क्या पर्याप्त होगा ? आवश्यक है कि आस्था की, प्रीति की पराकाष्ठा होनी चाहिये। तब संभव है कि कर्मबंधनों के द्वारा, विकारवशता के कारण जो इस देहकी विघटना हो रही है, उसे नियंत्रित किया जायगा। उसकी स्थिति को आत्मभाव को जागृत किया जायेगा और जीवन के प्रमाद को सदाके लिये दूर किया जायेगा ॥१७६॥

कि पवनाचेनि कोपें। पाणियेंचि जो तळपे।
तो प्रळयानळ दडपे। तृणकाष्ठें कायी ॥१७७॥

अर्थ :– प्रत्यक्ष पानी को भी जलानेवाला वह प्रलयानल– पवन के प्रकोप पर–क्या केवल घासद्वारा बुझाया जायेगा ?

व्याख्या :– जहाँ वैराग्यवन्हि प्रदीप्त है वहाँ विकारों की आँधी परिणामशून्य है। उस वैराग्य के कारण नामधारक जीव शिवस्वरूप बन जाता है, उसे अपनी योग्यता का अनुभव आ जाता है। महान् संकटों को परास्त करने का सामर्थ्य उसे प्राप्त हो जाता है। उसकी विदग्ध कांति वैराग्य से

तपोपुनित रह जाती है। देह तथा देहस्थित आत्माकी शांति, तुष्टि किसी भी कारण ढ़लती नहीं। जीवन की द्वंद्वात्मकता को नष्ट करनेवाले प्राणवायु का प्रकोप होनेपर मनकी विकारिता, बुद्धिकी अस्थिरता, अहन्ताकी आढचता तथा जीवन की मलीनता नष्ट हो जाती है। जीवभाव को शिवस्वरूप प्राप्त होता है, जो उसकी अपनी सहजस्वाभाविकता है। अतः नामानुसंधान का आश्रय कदापि नहीं छोडना चाहिए। नामस्मरण के द्वारा यह योग्यता प्राप्त होती है। वह एक असाधारण, असामान्य तथा अनन्य शक्ति है कि जो वैराग्यरूप अग्निकोही प्रज्वलित कर सकेगी। ज्ञानसंपन्न बना देगी। अन्यथा प्रलयाग्निको किसी तिनके से बुझाने की चेष्टा करने के समान सब व्यर्थ है। यह प्रलयँकर वायुप्रकोप, यह विनाशकारी आँधी, यह समूचे जगत् को भस्मसात् करनेवाला अग्नि, कि जो पानीको भी जलाता है, क्या तिनकेसे परितृप्त होगा। यह कदापि संभव नहीं। उसे शमन करने का उपाय दूसराही है। उसके लिये इस देहकोही तपाना होगा। वैराग्य के द्वारा उसे विदग्ध करना चाहिये। नामधारणासे उसे एकरूप किया जाय। तब कहीं यह वीरभाव, आत्मभाव जागृत होगा। पुरुषार्थ का प्रत्यय प्राप्त होगा। वहाँ कामज्वर प्रशांत होगा। देह तथा विश्वका विनाश करनेवाले इस काम-क्रोधिग्नि का उपशम होगा। अतः इस वैराग्यसंपन्न ज्ञान काही आश्रय लिया जाय। यहीं सर्वस्व खर्च किया जाय। इस ज्ञानमें समर्पित भाव रहे। यह ज्ञानही तुम्हारा जीवितसर्वस्व है, उसे भूलो

मत । उसे ठीक ठीक रूपसे समझ लो । व्यर्थ भ्रममें मत पडो । ।।१७७।।

**न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।**
**तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ।।३८।।**

अर्थ :- इस जगत् में ज्ञानके समान पवित्र दूसरी वस्तु हैही नहीं । वह ज्ञान, वह स्वयंयोग यथाकाल अभ्यास के द्वारा अपनेमें ही जाना जाता है ।

म्हणोनि असो हें न घडे । तें विचारितांचि असंगडें ।
पुढ़ति ज्ञानाचेनि पाडें । पवित्र न दिसे ।।१७८।।
येथें ज्ञान हें उत्तम होयें । आणिकहि तैसेंचि येक आहे ।
सांगे चैतन्य कां नोहे । दुसरें गा ।।१७९।।

अर्थ :- विचार करनेपर यह असंमतही दीख पडता है । वस्तुतः ज्ञानके समान पवित्र और कुछ भी नहीं ।

यहाँ ज्ञानही एक सर्वोत्तम है । वही केवल है । वही सचमुच चैतन्य है ।

व्याख्या :- वैराग्याग्नि के कारण जिसने अपनी देहको विदग्ध किया है, जिसका मनसंयमन परिपूर्ण है, जहाँ बुद्धिकी निश्चलता है तथा विकारों का सर्वथा अभाव है, वहाँ उस ब्रह्मचैतन्य का निवास तथा विलास है । यह होनेमें सुसंगति है, पावित्र्य है, धर्म है । अन्यथा केवल विकारवशता, उसका वक्तव्य क्या पावित्र्य है ? वहाँ एक विसंगति है, जीवन सर्वथा भाररूप है । बडा भारी बोझ है । अतः जीवचैतन्य को जिससे ब्रह्मचैतन्य की उपाधि प्राप्त होती है, जब यह देहधारणा

योगरूप होकर अपनी आत्मसत्ता का प्रकाश दिलाती है तब नाम सामर्थ्य प्रकट हो गया। उसे नामकी सच्ची योग्यता प्राप्त हो चुकी। वह स्वयं नामानुसंधान में मग्न रहता है तथा अनेकों को उसीमें परिणत करने की क्षमता रखता है। कर्मयोग में प्रधान बाधा है बुद्धिभेद की। बुद्धिकी निश्चलस्थिति नहीं होती। वह अपनी अनेकविधता का फैलाव, अस्थिरता का नृत्य करतीही है। जब नामसूत्र के द्वारा जिह्वाभेदन हो जाता है, जिह्वा को नियमित किया जाता है। वैखरी नामस्मरण में एकरस होकर अन्तर्मुख होती है। तभी संभव है कि अन्तर्मुखता का उदय होकर आत्मचैतन्य की ओर मन मुडता है। पावित्र्य की धारणा स्थिर हो जाती है। वहाँ ब्रह्मचैतन्य की शिवरूपता प्रकट है। कल्याणमय जीवन की उषा वहाँ मुसकराती है। ज्ञान दीप्तिसे जीवन पूर्णतया प्रकाशित है। वहाँ प्राकृतिक प्रपंच की उपाधि नाममात्र रह जाती है। केवल नामरूप ब्रह्मचैतन्यका ही वह आविष्कार है। वहाँ सांसारिक उपाधियुक्त प्रसरण हैही नहीं। यह विश्वाकार संभव, समभावन, वस्तुतः ब्रह्मचैतन्य विलास है। उसकाही आंगिक भाव है। प्रकृति की साम्यावस्था है और त्रिगुणातीत सत्ताका स्पंदन पलपल में अनुभव किया जाता है। वहाँ विषयोंमें विराग है, कोई किसीका मिंधा नहीं, किसीके सामने लाचार नहीं। उस आत्मस्पर्श से सर्वात्मदर्शी प्रेम तथा विराग प्रकर्ष को पहुँचता है। वहीं ब्रह्मचैतन्य का दर्शन है, जीवित जिंदा है। नामरूपता का साक्षात्कार है।

सरूपता का अनुभव है। विश्वसंभावन की लुभावनी ईश्वरी महामाया है। शिवस्वरूप कल्याणमय साक्षीत्व है। अतः जीवित में सेवाभाव का निरभिमानतासे स्वीकार करके, अपनी महत्ताका, आत्मसत्ता का अनुभव करते हुए, निरर्थक विषयों को पराभूत करते हुए अपनी यथार्थ योग्यता का परिचय पानेमें ही पुरुषार्थ है। जीवन का सच्चा प्रयोजन है। जो उसकी साधना में मस्त है वह पुरुषार्थ की ओर अग्रसर होता है। अतः इसी चैतन्य में अग्रसर हो, उसमें समा जा। उसका विस्मरण मत होने दे। वही जीवित सेवन है, जीवित का सेवाभाव है, उपासना है। वहीं ज्ञानका उद्भव है। श्रीगुरु का दर्शन भी वहाँ, केवल वहीं है। वही गुरुता है। वहीं रह जा। उसके आश्रय में रह। अन्य बातें सर्वथा निरर्थक हैं, वाणीकी केवल थकावट है। जीवन का सैरवैर संभ्रम है। अतः आत्मसत्तावान हो जाना आवश्यक है। परब्रह्म चैतन्यही सच्चा आधार है। वह ब्रह्मचैतन्य सच्चा साथी, मित्रभाव तथा अनुग्रह है। वही सुखद है, सुख देनेवाला है। जीवन के अमरभाव को प्रकट करनेवाला श्रीगुरु वही है। उसका विस्मरण मत होने दे। वही देवता है, गुरु है। जो उसे अपनाता है, वह आत्मचैतन्य से ओतप्रोत हो जाता है। वह अपनी गुरुता पाता है ॥१७८-१७९॥

यया महातेजाचेनि कसें। जरि चोखाळ प्रतिबिंब दिसें।<br>
कां गिवसलें गवसें। आकाश हें ॥१८०॥

अर्थ :- इस महान् तेजकी कसौटीपर उत्तम प्रतिबिंबरूप

तेज अनुभव किया जाय तो प्रत्यक्ष आकाश को भी अपनाया जायेगा।

व्याख्या :- यह तो एक ऐसा जीवित है, ऐसा सद्भाव है कि उसकी तुलना में और कोई नहीं। उसे उपमा दी नहीं जाती। उस ब्रह्मचैतन्य की बराबरी करनेवाला एकभी प्रमाण जगत् में नहीं है। वह सर्वथा अनन्वय अलंकार है। सभी प्रमाणों का प्रमाण उसके पास है। वे सभी उसके अंगभूत हैं। प्रमाण का प्रामाण्य भी वहाँ आश्रित है। उसकी सारी संपदा वस्तुतः उस ब्रह्मचैतन्य की है। ज्ञान का विशुद्ध पावित्र्य वहाँ विराजमान है। मूर्तिमंत पावित्र्य का आविष्कार वहाँ होनेसे अशुद्धता का तनिक भी अस्तित्व नहीं। अतः उस ब्रह्मचैतन्य का अंकित होकर नामधारणा में दृढ़विश्वास करोगे तो तुमभी यही अनुभव करोगे। इसमें किंचित् भी संदेह नहीं। इस प्रकार करनेपर श्रीगुरु के मनमें तुम्हारे प्रति आत्यंतिक प्रेमका प्रादुर्भाव होगा। वे तुम्हें अपना प्रेमास्पद बनायेंगे। उनके महन्मंगल आशीर्वाद तुम्हें प्राप्त होंगे। उनकी वरद दृष्टि तुम्हारे जीवन का कमलपुष्प खिलायेगी। वे तुम्हें अपना सच्चा सुहृद समझेंगे। अतः इसप्रकार निरतिशय आत्मीयता के साथ उनकी सेवामें अंकित होना चाहिये। यह नैष्कर्म्ययुक्त, प्रेमरूप सेवा उनके अंतःकरण में भी आस्था का उदय करेगी। जब हम अपनी योग्यताको, आस्थाको, बढायेंगे, उनके अनुरूप जीवन का परिवर्तन करेंगे, उनके अंतःकरण के योग्य आत्मीयता का उत्कर्ष करेंगे तब माताके समान सहृदय वात्सल्य वहाँ प्रकट

होगा। अनन्त स्तन्यधाराओं से वे तुम्हें सुस्नात करेंगे। तुम्हें मनचाही तृप्ति देंगे। उन्हें भी परमानन्द प्राप्त होगा और उसका आगमन उन्हें सर्वथा आनन्दरूप बनायेगा। अतः आवश्यक है कि हमें उसी चैतन्य की शरण में जाना चाहिए। जीवन में हरक्षण, हर प्रसंगमें, काम करते हुए, खाते हुए उन्हींके स्मरण में लगे रहना चाहिये। उनके विस्मरण में परम व्याकुलता अनुभव होनी चाहिये। केवल उनका स्मरण, उनका अनुसंधान, उनकी सेवाका विधान बनकरही हमें अपना जीवनयापन करना होगा। चैतन्य की सत्ताका एक आविष्कार मात्र होकर, निरहंकारिता से उनके जीवनरूप बन जाना चाहिये। वहाँ 'मैं' तो नहीं चाहिए, केवल 'तू' ही चाहिये। उन्हींके नामका अंकित होकर रह जा। वह नामही ब्रह्मचैतन्य है, ब्रह्मचैतन्यही वह नाम है। नामरूप है। श्रीगुरु की कृपारूप अंजन वहाँ अपनी बुद्धिकी दृष्टि विशुद्ध करेगी। उसकी दिव्यता अपनायेगी। वह चैतन्य में रसलीन होगी। अतः उसकी भूल नहीं पडनी चाहिये। यही बार बार कहना है। यह ब्रह्मचैतन्य साक्षात् ज्ञानदीक्षा प्राप्त श्रीगुरु की नामधारणा है। ज्ञानही ब्रह्म है, चैतन्य है, ब्रह्मचैतन्य है। क्या कोई साधक सिद्धस्वरूप श्रीगुरु की बराबरी कर सकता है? बिंबके सामने प्रतिबिंब की क्या महत्ता? सिद्धके सामने साधक की क्या श्रेष्ठता? महातेजोमय ज्ञानसूर्य क्या कभी उसके प्रतिबिंब की समानता में योग्य है? क्या प्रतिबिंब की उसके साथ तुलना हो सकेगी? यह सर्वथा असंभव है। प्रत्यक्ष तेजोराशी

सूर्यकी महत्ता उसके प्रतिबिंब को सर्वथा अप्राप्त है। श्रीगुरु की योग्यता अतुलनीय है ॥१८४॥

नातरि पृथ्वीचेनि पाडें। कांटाळें जरि जोडे।
तरि उपमा ज्ञानिं घडे। पांडु कुमरा ॥१८१॥

अर्थ :- हे पंडु कुमर ! केवल पृथ्वीकी गुरुता की बराबरी ज्ञान के साथ होगी। फिरभी वह केवल उपमा मात्र है।

व्याख्या :- परमात्मदर्शन का योग जिसके जीवन में संपन्न है. उसके यहाँ जीवन का महान् अर्थ स्पष्ट हुआ है, जीवन का रहस्य खोला गया है। उसकी सत्ता क्या क्षुद्र होगी ? उसकी गुरुता भी प्रचंड है। मानवी देहकी महत्ता इस साक्षात्कार में है। वह तो कालीघटा के समान जीवनसंपन्न है। उसकी अनन्त जलधाराऐं तथा विपुल जलराशी सचमुच गुरुता का वैभव है। अपनी गुरुता के कारण जो घर्षण हो जाता है वही ज्ञानरूपा विद्युत्शक्ति है। अपने नृत्यद्वारा जीवन की अंतर्बाह्य धारणा को तेजोमय बनानेवाली वह असाधारण शक्ति गुरुता के आश्रय में मेघोंमें छिपी है। सहस्र जलधाराओं के द्वारा यदि कहीं संतुलन करने का प्रयास हो तो सफलता संभव है। वह केवल गुरुता की योग्यता है, गुरुता का सामर्थ्य है। पृथ्वीकी भी तुला इन्हींके द्वारा संभव है अन्यथा नहीं। क्योंकि पृथ्वीको गुरुता भी इन्हींकी शक्ति है। पृथ्वीकी तुला करने के लिये पृथ्वीकी गुरुता के समान या उससे भी बढचढ कर गुरुता होनी चाहिये। उसके समान कोई हो तो वह तुला कर सकेगा। कोई चाहेगा तो भी उसके योग्य तुला उसे प्राप्त नहीं होगी !

पृथ्वीकोही संतुलित करनेवाली, तौलनेवाली तुला अब तक निर्माण नहीं हो सकी। वह सर्वथा असंभवसी बात है। उसी प्रकार उस ज्ञानयोगी की बराबरी करनेवाला, उसकी तुलना में दूसरा कोई नहीं, कभी हुआ नहीं, हो नहीं सकता ॥१८१॥

म्हणोनि बहुति परि पाहता। पुढ़ति पुढति निर्धारिता।
ज्ञानाचि पवित्रता। ज्ञानींचि आथी ॥१८२॥

अर्थ :- और गौरसे देखनेपर, ठीक ठीक निश्चय करनेपर ज्ञानकी पवित्रता केवल ज्ञानकी ही है।

व्याख्या :- यह तो स्पष्टही है कि ज्ञानसूर्य की बराबरीं करनेवाला, उसके समकक्ष कोई नहीं। उसकी बराबरी करनेवाला वही है, ज्ञानसूर्यही है। ज्ञान ज्ञानके साथही तौला जाता है। अन्य किसी बातोंसे उसकी तुलना अर्थहीन और असंभव है। यहाँ जो ज्ञान है वह सर्वथा मौलिक, धर्मधारणा का आधार, प्राकृतिक विस्तार का बीजभूत तथा ज्ञानाज्ञान का भी ज्ञान है। अर्थात् यह ज्ञान केवल एकही है। वह तो एक अंकसा एक है। वह तो ऐसा शब्द है कि जो अपने सामर्थ्य से पृथ्वीको ही तौल सकता है। उसकी गुरुता महान है। यही शब्द, वह अक्षरत्व अगर इस मिट्टीके योग्य-देहके योग्य बन जाय, या यह देह उसकी योग्यता को अपनाये, तो वहाँ जीवन को तौलनेवाली तूला यहाँ है। यह तुला पुरुषार्थ सिद्धि का फल है। पुरुषत्त्व की प्राप्तिका यह महानयोग उस शब्दकी कृपा है। उसका अनुग्रह है। अक्षरत्व की यह गहनगति है कि जो पुरुषतत्त्व-सदृश बन जाती है। पुरुषार्थही अपनाती है। अतः इस समय

वह मिट्टीको, पृथ्वीको इस देहको तौल सकेगा। उसकी तुलना कर सकेगा। यह संभव होगा तो फिर ज्ञान को उपमा है। देहस्थित आत्मतत्त्वही अपनी प्रकाशमानता के कारण जीवन तौल सकता है। देहकी तरलता या जडता केवल कहने सुनने की कोरी बात नहीं। वह तो एक ऐसी क्षमता का संकेत है कि जहाँ देहधारणा सर्वथा आत्मतत्त्व की अंकित बन जाती है। जिसने अपनी सत्ता के कारण देहको भी तौला, वह उसी ज्ञान के कारण इस मिट्टीको, पृथ्वीको भी जीत सका। वहाँ उस वेदोरूप प्रणव शब्दद्वारा सर्वार्थवाही नामसंकेत सिद्ध होता है। यह नामरेखा सर्वथा अनुल्लंघनीय है। नामस्मरण का महात्म्य जड मिट्टीमें रत्नकी उपलब्धि के समान है। उसकी संलग्नता, आस्था अगर थोडीसी हो तो फिर उसका परिणाम भी बहुतही कम रहेगा। किंतु जब वह नामरूपता अपनी सारी सुगुणता के साथ, विश्वात्मक अनुभूति का माध्यम बन जाती है, तब पृथ्वीकी तुला करनेका सामर्थ्य भी उसमें निहित रहता है। उसकी विशालता, गहनता तथा चिरंतन प्रत्यय-कारिता साधक को सिद्धरूप कर देती है। उसके अर्थ में यह पुरुषार्थ है, यह महान् गुरुता है। फिर वहाँ सिद्ध साधक जैसा भेदही नहीं रहता। केवल एकरस अद्वितीय अनुभव में सब मग्न है। नैष्कर्म्य के द्वाराही इसकी तुला है, साधना है, सिद्धि है। वह परमात्म अक्षर अपनी महत्ता का पुरुषार्थ सर्वथा सिद्ध कराता है। वहाँ एक एक शब्द, एक एक अक्षर अपनी ज्ञानसत्ता के कारण समुद्र की गहनता लिये है। अगाधता

का प्रमाण उसपर अवलंबित है। अतः यहाँ उसको अपनाना एक सामान्य बात नहीं। वह सहजसिद्ध होकर भी दुष्कर है। युगयुग अनेक वर्षोंतक तप करते रहनेपर भी यह महती साधना सिद्ध नहीं हो सकती। यहाँ श्रीगुरुकृपा एकमात्र आधार है ? वह संतोंके द्वारा स्वतःसिद्ध है, सिद्धोंकी यह साध्यता है। फिर वह यथार्थ प्रमाण प्रकट हो सकता है। अतः ज्ञानकी तुलना असंभव है। भाषणद्वारा यह मोह बढ सकता है। वस्तुतः वह अनिर्वचनीय है। उपमा, उत्प्रेक्षादि अलंकारों के द्वारा उसका साम्य स्पष्ट करने का प्रयास है किंतु वह सदाही असफल रहा। सभी उपमाओं का सौंदर्य, ज्ञानकी संपूर्ण जानकारी तथा वाग्विलास उसके सत्स्वरूप को प्रकट नहीं कर सकता। उपमा अधूरी रह जाती है। जानकारी संदिग्ध है और वाणी मौन हो जाती है। अतः ज्ञान ज्ञानके समानही है। वह स्वयं शक्तिमान है, प्रभावकारी है। प्रत्ययसंपन्न है। उसकी अद्वितीयता सभी लक्षणों से युक्त होकर भी अपूर्व है। आकाश के आकार को हम क्या कहें ? उसके आकार की तुलना नहीं। वह सर्वथा अतुलनीय। गगन गगनाकार है। उसीप्रकार ज्ञान ज्ञानमेव है। उसका पावित्र्य, उसकी स्थिति उससेही तौली जाय ।।१८२।।

जैसी अमृताचि चवि न निवडिजे।
तरि अमृताचि सारिखि म्हणिजे।
तैसें ज्ञान हे उपमिजे। ज्ञानेंसींचि ।।१८३।।

अर्थ :– अमृत की रुचि कही नहीं जा सकती, तो भी वह

अमृतही की रुचि है। वैसेही ज्ञानको केवल ज्ञानकी ही उपमा दी जा सकेगी।

व्याख्या :– जो कभी नहीं मर सकता, जो तेजकाही तेज है, जो अमरत्वही है उसका आस्वाद लेनेके लिए उस अमृत में ही डूबो रहना चाहिये। अमृत के बाहर होकर अमृतत्त्व की अपेक्षा किस प्रकार सफल होगी ? जिसे तैरना है उसे पानीमें ही पडना होगा। पानीके बाहर रहकर वह किस प्रकार तैरता रहेगा ? यहाँ आवश्यक है कि हम उसीमें डूबे रहें। आत्मसुख की माधुरी कही नहीं जाती। वह साक्षात् महातेजही है। वही निर्भयता का आविष्कार है। डर तो कहीं नहीं। उसकी निर्भयता उसकी चौडी छातीमें छिपी है। सृष्टि की सभी वस्तुओं ने मानो उसे अभय दिया हो। वह उनसे सर्वथा निर्भय हो गया। वेदवाक्य का प्रकाश उसके अंतःकरण में स्थिर है अतः वह निःसंदेह बन गया है। किसीके बारेमें उसके मनमें आशंका नहीं, भय नहीं। मनकी निर्भयता भीष्मपितामह के समान महान् है। वह आत्मसत्ता अब प्रसन्न होकर अपनी शक्तिका स्रोत उसमें बहा करती है। वहाँ पुरुषत्त्व की सर्वगत सत्ता अपने सभी सुखों के साथ उपस्थित है। जिसने पुरुषार्थ पाया है, पौरुष दिखलाया है उसे वह अनादि अनन्त वेदोरूप शब्द, वह अक्षर नामधारण, वह प्रणवकार उसके अंतरंग में, कणकणमें प्रतिष्ठित है, सुप्रतिष्ठित है। अतः उसके अधिष्ठान में प्रकृति का रम्यविलास है। प्रकृति पुरुष का सामरस्य है, सामंजस्य है। वहाँ विकारवशता नहीं। विलासिता का आतुर

प्रदर्शन नहीं। किंतु वहाँ एक संयत, अतिरम्य, रंजनशील, वेदोरूप प्रसन्न आविष्कार है। वहाँ कामरूपता नहीं, मदनका मोह नहीं। नामधारणा के कारण वहाँकी सारी कुटिलता सरल हो जाती है। अमृत के आस्वाद में मन रम जाता है। अमृतभाव अपनाने कारण वह अमर्त्यभाव को स्थिर हो गया। अमृतही अमृत हो गया। क्या आत्मतत्त्व अमृत नहीं? फिर वही अमृत के कारण अमरत्व पा गया। उसने क्या पाया? जो पाया वह जीवन का अमरभाव! ज्ञानकी सर्वंकश सत्ता जो इसके पहले ओझल हुई थी। ज्ञानकी तुलना ज्ञानसे ही हो सकती है। अगर हमारी जिह्वाही अमृतस्वरूप बन जाय तो फिर रुचि सदाके लिये अमृतस्वरूप होगी। मधुर रहेगी। ऐसी अवस्था में वह तो नटीके समान होगी। उसकी रुचि बदलने की क्षमता देखकर वह नटीके समानही होगी। विश्वनट को अपने रूपमें, अपनी रुचिमें परिणत करनेवाली यह विश्वनटी वस्तुतः महामाया प्रकृतिका ही एक प्रवेश है। विश्वनियन्ता पुरुष को-विश्वनट को अपने चरणों का अंकित करानेवाली यह प्रकृति विश्वनटी सर्वथा महान् शक्तिशाली निश्चित है। किंतु उसकी साम्यावस्थामें यही प्रकृति-विश्वनटी-अपनेको उस पुरुष के-विश्वनट के-चरणोंपर समर्पित करने को लालायित हो उठती है। यह विलक्षण दांपत्यभाव जो सर्वथा अद्वयमें, अद्वैतमें परिणत है, या उसकाही आंगिक आविष्कार द्वैतमें दीख पडता है। जो इस सामरस्य की समाराधना अनुभव करता है उसकी जिह्वा सचमुच अमृत का रसास्वाद

करती है, उसकी वाणी अमृत में भिगे शब्द मुखर करती है। ज्ञानस्वरूप अमृत में डूबा हुआ वहाँ प्रतीति का साक्षात्कार है। वह सर्वथा ज्ञानमें, सुखमें, अमृतमें ही लीन है। उसेही अपना मर्त्यभाव अर्पण करके उसमें विलीन हो जाता है। ज्ञान, अमृत तथा नाम के सिवा अन्यत्र मन मुडताही नहीं। वह उन्हींका दास बन चुका है। आत्मसत्ताकी आत्मीयतामें, अपने प्रेममें परिपूर्णतया डूबकर किसी भी प्रकार विवशता नहीं रहती। वहाँ सर्वथा स्वावलंबन है। वहाँ वाणी उस ज्ञानकलामें प्रविष्ट होती है। ज्ञानरूपा होती है। स्वयंसिद्ध ज्ञानकोही अंकित होकर वह एक नामकोही स्वीकार करती है। नामोच्चार में रत रहती है, नामानुसंधान में मस्त रहती है। यहीं अचल श्रद्धा निर्माण होनी चाहिये। परमात्मतत्त्व का वह विशाल पुरुषोत्तमरूप तथा ईश्वरी प्रकृति का वह कुलदेवतारूप, दोनोंके प्रति अतीव निष्ठाके साथ उनकी एकता का साक्षात्कार कर लेना तथा उनके प्रति एकात्मनिष्ठा का अनुभव करना सर्वथा आवश्यकही नहीं, महत्त्वपूर्ण भी है। उनकी एकात्मता तथा अपनी आत्मीयता का एकरस अनुभव अपनेमें चिरस्थायी करने का प्रयास हो। इससे सभी विषयों के प्रति पूर्ण नैराश्य तथा विराग निर्माण होगा और फिर जो अनुभव किया जायेगा वह ज्ञानके सिवा और कुछ नहीं होगा। वहाँ एकमेव ज्ञानका साम्राज्य है। आनन्द का विशाल स्रोत है। प्रसन्नता का पर्जन्य है, उल्हास की वसंतश्री है। ज्ञान का ज्ञानकेही साथ सुसंवाद है। अमृतस्वरूप की–अमर्त्यभाव की

दृढ़ता, निश्चिति यहीं अपनायी जाती है। तब वह विश्वनटी–वह जिव्हारूप सरस्वती–वह ईश्वरीय वाग्देवता–अपना प्रेम-सर्वस्व उस श्रद्धामें समर्पित करती है। अमृतत्त्व की आकांक्षासे अपनी अचल श्रद्धाके द्वारा वह योग्यता अपनाती है, अमृतत्त्व को प्राप्त कर लेती है। फिर वाणीमें अमृत है, संजीवनी है, सुखसंवेदन है, मधुरिमा की पराकाष्ठा है, प्रेमकी बारिश है। अन्यत्र हमारा मन विषयों का अंकित होता है, उनकी दासता स्वीकार करता है, उसमें डूबा रहता है। किंतु उसे संयमित करते हुए, निर्विषयों की दृढ़ता अनुभव करनेपर, श्रीगुरु की उदारता पनपती रहती है। वहाँ उनका औदार्य सहजसुलभ प्रेम के साथ हमे प्रसन्न करता है। उनकी उदारता उसी अवस्था में हम अनुभव कर सकते हैं। अन्यथा हम विषयों का अंकित होकर इस महती उदारता का लाभ नहीं उठा सकते। ये विषय हमें अपने ध्येय से च्युत करते हैं। ध्येय से दूर दूर ढकेल देते हैं। विषयों का यह कर्तृत्व वस्तुतः हमारी कमीके कारण होता है। मनुष्य अपनी महत्ता कम कर बैठता है और उन विषयोंको ही अपनाता है, उनका स्वयं दास बन जाता है। अतः इसमें प्रतिरोध की, निरोध की संयम की नितांत आवश्यकता है। विषयों को अपनाने की, अपेक्षा अपनी सच्ची महत्ता की ओर ध्यान देना आवश्यक है। आत्मसत्ता का प्रभाव कम नहीं करना चाहिये। निरीच्छता, वैराग्य तथा ज्ञान को प्रतिष्ठा देना, उनको अपनाना किसी भी हालत में बुरा नहीं। मन को इसी तरह संयमित करके विषयों से

पराङ्मुख करना चाहिये तथा ज्ञान, विराग की आत्मीयता बढानी चाहिये । फिर दुःख के समुद्र में डूबने की नौबतही नहीं आयेगी । ज्ञानसुख का जो आनन्द वही हिलोरें लेता हुआ सर्वथा साफल्य का योग प्राप्त करायेगा । उसका मौन भाव गहरे आनन्दका, विशाल अनुभूतिका, परतत्त्व स्पर्श का परिचायक है । वहीं अपनी देहकी समरसता होनी चाहिये । तादात्म्य होना उचित है । फिर यही देह ज्ञानरूपता काही दर्शन होगा । उसकी विदेही अवस्था होगी । परमात्मसामर्थ्य का उर्जस्थल स्रोत उसमें उछलता रहेगा । वहाँ अन्य किसीकी बाधा नहीं होगी । ज्ञानानन्दको ही अपनाती हुई वह देह विदेहिता का साक्षात्कार कर लेगी । उस आनन्द का वर्णन असंभव है । वहाँ अद्वितीयता का आविर्भाव है । अद्वैत की एकात्मता है । वहाँ मानो प्रेमकी प्रत्यक्ष मूर्तिही देहरूपमें विद्यमान है । तप्तकांचन के समान अत्यन्त तेजोमय ज्ञानराशी अन्तर्बाह्य अवस्थित है । वहां आनन्द है ज्ञानकला की एक धारणा । ज्ञानकी प्रिया प्रकृतिरूपा शक्ति अपनी एकात्मता का शृंगार मना रही है । अक्षररूपता का नामोच्चार मानो प्रणवरूप प्रणय का विदग्ध विलास । वहाँ प्रेम अलौकिक है । मनुष्य को उसके प्रति स्वाभाविक आस्था होनी चाहिये । जो उसे नहीं चाहता वह सचमुच अभागी है, अज्ञानी है । उसकी विषय लिप्सा विद्यमान है । वस्तुतः ऐसे प्रेम में आत्मसत्ता का उदय है, आत्मीयता की प्रतिष्ठा है । जीवन का सर्वोत्तम योग है । उसकी ओर आँखें मूंदना निश्चितही गलत है । मनुष्य

अपनेपर प्यार करता है। वह समझता है कि उसका प्यार इस देहपर है। देहकी शाश्वति बहुतही कम है। उसकी आत्मा नश्वर है, अमर है। उसपर जो प्यार है वही उसके मूलमें है। किंतु भोला आदमी यह समझ नहीं पाता। अपनी महत्ताको खो बैठता है। उमरी प्रेमपर सन्तुष्ट हो जाता है। उसकी प्यास फिर अविकल बनी रहती है। उसे तृप्ति नही मिल सकती। अतः अपनी महत्ताका, अपनी सत्ताका यथार्थ ज्ञान करते हुए मनुष्य को चाहिये कि वह ज्ञानको अपनाये, उस अमरप्रेम का साथी हो। फिर वह स्वयं मनुष्य की सार्थकता पायेगा। आत्मबल के कारण मनुष्यत्व से देवताभाव को प्राप्त होगा। अमरत्व का प्रसाद उसे प्राप्त है। वस्तुतः ज्ञान ब्रह्मचैतन्यरूप है। देहमें प्रत्येक अवयव को, उसके अणुरेणु को वस्तुतः देहद्वारा ही पुष्टि मिलती है, उनका परिपोष होता है। यह देहका ऋण है। वह ऋण उतारने के लिए देहकी सत्ता देहपर सौंपकर उस आत्मतत्त्व काही आधार स्वीकार करना, देहकी विदेहता है। उन पांचभौतिक तत्त्वोंका परिपोष तथा उपशम है। वहाँ फिर देवत्वही स्थिर होगा। अमरत्वही प्रदान होगा क्योंकि उनकी आधारशिला अब नश्वरदेह नहीं किंतु आत्मा है, ज्ञान है। ज्ञानकी विद्यमानता आनन्दभुवन है, आनन्द का भवन है। वहीं प्रेम है, सच्चा जीवित है, उसकी सफलता है। यह होनेमें अमरपद की यथार्थता है, अपनी योग्यता का परमोत्कर्ष है। अमरपद की सहजस्वाभाविक स्थिति अपनाता है। अपनी योग्यता बढ़ाता है। वहाँ आत्मीयतासे ओतप्रोत रहना होगा।

उससे निष्पन्न प्रीति का परिपोष प्रगाढ आस्थासेही करना होगा। उसके बीजारोपण के बाद उसका प्रेमपौधा निर्माण होगा। पौधेसे महानवृक्ष की निर्मिति है। उसकी पुष्टिमें प्रयत्नशील रहकर उसकी दृढतासे रक्षा करनी होगी। पनपता हुआ यह प्रेमवृक्ष, ज्ञानवृक्ष अपनी घनी छायासे मनुष्य के जीवन का सच्चा आधार बन जायेगा। संसारत्रस्त मनुष्यको, त्रिविध तापोंसे दग्ध मनको यहाँ सुखद शीतल विश्रांति है। वह प्रेमवृक्ष, ज्ञानरूपता का घना आविष्कार है। उसकी छायामें संपूर्ण जगत् प्रेममय दीख पडता है। ज्ञानमय प्रेममय जीवन की साधना परिपूर्ण होनेके लिये पहले पहल अपने महत्त्व को, अपनी सत्ता को स्थिर करो, सुप्रतिष्ठित करो। विविध शारीरिक क्रियाओं की परिसमाप्ति अपनीही देहमें करते हुए उन्हें नियमित कराना आवश्यक है। उनके संयमन द्वारा मनःसंयमन का आविर्भाव है। इस संयम का फल नामधारणा को स्थिर करेगा। उसका सौंदर्य प्रतीत होगा। मनुष्यत्व का देवताभाव में परिणयन होगा? वह पौरुष सगुणता का साक्षात्कार करके स्थिरतासे आत्मसत्तावान् बनायेगा। फिर नामसौंदर्य का आस्वाद लेते हुए, नामधारणामें, देवत्वकी अनुभूति जीवन को सदाके लिये परितृप्त बनाती रहेगी।

॥१८३॥

आतां यावरि जें बोलणें। तें वायांचि वेळ फेडणें।
तंव सांचचि हें पार्थ म्हणे। जें बोलतसा ॥१८४॥

अर्थ :– तिस पर भी कुछ कहना हो तो खाली समय

गँवाना है । अर्जुनजी ने कहा आप जो कुछ सविस्तार कह रहे हैं, जो अपना कथन है, वह निःसंशय यथार्थ है ।

व्याख्या :– तिसपर भी अधिक कुछ कहने के माने है समय व्यर्थ गँवाना । जो कुछ कहने योग्य था वह इसके पहलेही कहा गया है । वह संपूर्ण कथन अत्यन्त आस्थाकाही है । उसीमें अभ्यस्त रहना सर्वथा आवश्यक है । इस कथन के अनुसार अनुष्ठान हो जानेपर निःसंदेह प्रगति हो सकती है । यह संपूर्ण कथन मौलिक है, जगत् की जडकी ओर ले जानेवाला है । विभिन्न तत्त्वोंको अनुभवगम्य स्पष्टीकरण है । अनन्तर भी जो कुछ कहना होगा वह जगत् से संबद्ध होनेके कारण तथा उसका साक्षात् संबंध सांसारिक परिश्रम से होनेसे वहाँ केवल विस्तार है । बुद्धिका उन्मेषही वहाँ दीख पडेगा । उसमें ज्ञानकी, आत्मसत्ता की बात बहुतही कम है । बुद्धिकी विस्तार-वादिता का यह परिपाक होगा । वह अपने कथनको ही ज्ञानसर्वस्व समझती है । उसका अभिमान जागृतसा हो जाता है । वह अपनेही प्रभाव में दंग रहती है । बुद्धिका यह विलास गुणदोषोंसे युक्त रहता है । वह तो त्रिगुणों का महत् है, साथही अभिमान के कारण वहाँ दोषोंका तथा विकारों का प्रादुर्भाव रहता है । वह अपने गुणोंसे नयापन निरखती हुई, नयी लालसामें नयी उमंग में दौडधूप करती रहती है । कर्मविपाक का रहस्य उसके साथमें प्रकट होता है । कर्मोंका प्रतिफल स्पष्ट करते हुए वह स्वयं उसके अनुसार रंगरूप धारण करती है । नटी बन जाती है । वह समझती है कि इस प्रकार का

वाग्विलास, शृंगार वस्तुतः उस ईश्वरकी सेवा है। किंतु वास्तव में यह बडी भारी भूल है। बुद्धिका यह भ्रम अपनी महत्ता बढाने के सिवा और कुछ महत्त्व नहीं रखता। उसकी सुरसता या प्रगल्भता यहाँ कुछ कामकी नहीं। अतः और कुछ कहने से केवल बुद्धिविलास होगा किंतु मार्गदर्शन नहीं। इसलिये जो कुछ कहा गया है उसकाही मनन निदिध्यासन हो। जब वह परमात्मतत्त्व अपने प्रकाशद्वारा जीवन उज्वल बनायेगा, जब उसकी सत्ताका साक्षात्कार होगा तब चाहे तो कुछ समय तक यह बुद्धिका रंजन देखना हो, तो जरूर देखो। उसी बुद्धितत्त्व के द्वारा सगुण साक्षात्कार का आलोक किस प्रकार रंजक बन जाता है वह देखना भी एक प्रकार रंजन है। किंतु उसके पीछे पहले पहल दौडना अयोग्य है।

आत्मसाक्षात्कार के दिव्य आलोक में अन्तरंग का मौलिक परिवर्तन हो जाता है। वहाँ उस अनादिअनन्त ज्ञानकी विद्यमानता प्रतिष्ठित हो जाती है। उसके 'अक्षर' का गुंजारव मनको मोहित करता है। उसके कलरव में प्रणवकी मुद्रा सिद्ध है। वहाँ संतत्व का साक्षात्कार है। उन्हींके द्वारा भोजन प्राप्य है, वह मंगल शुभप्रद प्रसाद नितांत कल्याणकारी है। अतः जो कुछ कहा गया है उसेही अपनी योग्यता का आश्रय दिला दो। हे कुंतिकुमर, पार्थ! यह जो कहा वह सहजही है, ठीक ठीक अवधान देता जा! ॥१८४॥

परि तेंचि ज्ञान केविं जाणावें । ऐसें अर्जुनें जंव पुसावें ।
तंव मनोगत देवें । जाणितलें ।।१८५।।

अर्थ :– "किंतु वह ज्ञान किस प्रकार प्राप्त होगा ?" यह प्रश्न अर्जुनजी के मनमें निर्माण हुआ । श्रीभगवान ने यह जान लिया ।

व्याख्या :– श्री अर्जुनजी ने भगवानसे प्रार्थना की, हे भगवन् ! कृपा करके मुझे बताइये कि यह ज्ञान किस प्रकार प्रत्यक्ष किया जाय ? आपने तो विचार व्यक्त किया है, उसे ज्ञानरूप करके केवल ज्ञानरूप बनाकर, उसमें किस प्रकार मैं प्रविष्ट हो सकूंगा ? वह ज्ञान मूझमें किस प्रकार स्थिरता पायेगा ? एक तो केवल कथन या संवाद फलदायी नहीं। कहने सुनने से अनुभूति असंभव है । उसके द्वारा मैं ज्ञानस्वरूप नहीं हो सकता । यहाँ तक वस्तुतः बुद्धिके द्वारा आक्रमित प्रवास है। वह सब कुछ बुद्धिगम्य है अतः जो बुद्धिसे भी परे है, उस आत्मतत्त्व के प्रकाश के लिए यह बुद्धिगम्य संवाद अकार्यक्षम है । अतः कृपया कहिये कि उस ज्ञानकी पात्रता मैं कैसे पाऊँगा ? किस प्रकार मैं ज्ञानस्वरूप बनूँगा ? वह ज्ञानमयता मेरे अन्तर्बाह्य जीवन को किस प्रकार अपनायेगी ? हे कृपानिधि, अगर आपसे यह होगा तो आपके अनन्त उपकार हैं। आपके द्वारा फिर कृपा का पहनावा दिया गया। वह ब्रह्मचैतन्य एक ज्ञानदेहही है जो इस पांचभौतिक देह के भीतर है । वही हमारा सच्चा साथी, आत्मीय सुहृद है । अतः मैं ज्ञानरूप किस प्रकार हो जाऊँगा यह कृपया बताइये । आपसे बारबार प्रार्थना है ।।१८५।।

मग म्हणतसे किरीटि । चित्त देईं इये गोष्टी ।
सांगेन ज्ञानाचिये भेटी । उपाय तुज ।।१८६।।

अर्थ :– तब उन्होंने कहा 'हे अर्जुन ! इस बातकी ओर अवधान दे । ज्ञान पाने का उपाय मैं तुझे कहूँगा ।'

व्याख्या :– श्री भगवान ने अर्जुन की विनन्ती को जान लिया । उसके मनकी बात समझ ली । उसके हेतु की प्रांजलता अनुभव की । उन्होंने कहा, हे अर्जुन ! तुम्हारा विचार मैं समझ सका । उस ब्रह्मचैतन्य को अपना करनाही एक विशेष प्राप्ति है । उस प्राप्तिमें अर्थ है, पुरुषार्थ है । उसको प्राप्त करना, उसको अपनाना महत्त्वपूर्ण है । वह किस प्रकार होगी ? यही तेरा प्रश्न होगा । उस संबंधमें मैं जरूर कहना चाहता हूँ । उसको ठीक ठीक सुन ले । वह साधना अवधान-पूर्वक समझ ले । पहलेपहल ध्यान देने योग्य बात यह है कि उस ज्ञानके बारेमें आस्था निरन्तर बनी रहनी चाहिये । उसकी उत्कटता न घटे । वह सदा तीव्ररूप होनी चाहिये । वह लगन निरन्तर बनी रहनी चाहिए । चाहे तो तुम्हारा भोजन, खाना पीना रहने दो किन्तु उस ज्ञानके बारेमें जो लगन है उसमें किसी भी प्रकार कमी मत आने दो । अगर यह तुझसे होता जायगा तो मैं मानूँगा, तुम्हारी आस्था सही है, तुम्हें ज्ञानके प्रति उत्कट प्रेम है । जिस प्रकार हमारा महत्त्वपूर्ण काम हम जिस आस्थासे करते हैं उसी प्रकार अत्यन्त उत्साहसे, आदरसे इस ज्ञानके प्रति प्रयत्नशील रहना चाहिये । तभी संभव है कि उसकी प्राप्तिका योग आ जाय ।

उसके बारेमें तुम्हारी लगन, आस्था अत्यन्त उत्कट होनी चाहिए। तुम्हीं को आस्थारूप बन जाना चाहिये। इसीसे तुम्हारी बुद्धि ग्रहणक्षम, शुद्ध होगी। और वह अपनी शुद्धता के कारण उस आत्मीयता को, आत्मसत्ता को अपना सकेगी। वहीं रत हो जायेगी ।।१८६।।

**श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेंद्रियः ।**
**ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ।।३९।।**

अर्थ :– श्रद्धावान को ज्ञान प्राप्त होता है। ज्ञानसाधना में दक्ष तथा इन्द्रिय निग्रही को भी वह प्राप्त होता है। उसे ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् अविलंब परा शांति–मुक्ति–प्राप्त होती है।

तरि आत्मसुखाचिया गोडिया। विटे जो कां सकळ विषयां।
जयाचे ठाचिं इन्द्रियां। मान नाहिं ।।१८७।।

अर्थ :– आत्मसुख की रुचि के कारण जो सभी विषयों से ऊब जाता है, जिसके पास इन्द्रियों को सन्मान नहीं– ।

व्याख्या :– पांचभौतिक सृष्टिमें विषयों का आविष्कार नितांत रम्यसा हुआ है। उसकी ओर मन तथा इन्द्रिय बरबस आकृष्ट होते हैं। इन इन्द्रियों के विलास, उनकी शोभा तथा विषयों के संयोगसे होनेवाला सुख आदिके कारण इन्द्रियों के मनमें विषयसुख की अभिलाषा सदा बनी रहती है। विषयों का आकर्षण सचमुच दृढ है। उसका पनपता विलास दिलचस्प होता है अतः मन तथा इन्द्रिय उनके अंकित हो जाते हैं। विषयों के द्वारा सजाया गया–यह त्रिभुवन मनको लुभाता है,

नचाता है, अपनी ओर बरबस खिचता है। इन सभीसे विराग होना चाहिये। मनका निरोध करते हुए इन्द्रियों को संयमित करना चाहिये। इन्द्रियों की माधुरी उनकी अपनी नहीं है। वह तो विषयसंग के कारण निर्माण होती है। विषयों का उपभोग सर्वथा बहिर्मुख वृत्तिका परिचायक है। मनकी बहिर्मुखता निरन्तर आनन्द का अधिष्ठान नहीं हो सकती। वहाँ बाह्य सृष्टिका ऊपरी वैभव सा दीख पडता है। जहाँ अन्तर्जगत की ओर झुकाव नहीं, आस्था नहीं वहाँ ज्ञानोदय की बात निरर्थक है। अतः अन्तर्मुख होकर आत्मसत्ता का अनुभव करते हुए आत्मसुख की स्थिरता अपनानी चाहिए। वहाँ सुखका जो आविर्भावसा दीख पडता है वह वस्तुतः सच्चा नहीं। बहिर्जगत के सौंदर्य के अन्तःस्तल में आत्मीयता काही संनिवेश है। वह लक्षित नहीं होता यह बात अलग। किन्तु बाह्य जीवन में भी वही माधुरी है जो आत्म-सुखका ही एक अज्ञात आविष्कार है, जिसे बहिर्मुख व्यक्ति जान नहीं सकता। अतः उस आत्मसुखको ही अपनाने का प्रयत्न करना उचित है। उस सत्य, शिव, सुन्दर का जो परमसौंदर्य है वह सर्वथा अन्तरंग में स्थिर है, उसके लिए अन्तर्मुख होकरही अवधान देना चाहिए। वह सौंदर्यंही सुख-सर्वस्व है। वही तुझमें स्थिर होगा। तू स्वयं सौंदर्यरूप, सुखस्वरूप होगा। फिर यह बाह्यजगत् भी तेरा सुख बढाता रहेगा। तुम्हारी सत्ता वहाँ स्थिर होगी। आत्मसत्ता के कारण बाह्यजगत् में भी तुम्हारा कर्तृत्व स्वीकार होगा। तुम

सम्मानित होगे। लोगों से तथा लौकिक जीवनसे तुम्हें परमसुख मिलता रहेगा किंतु उसका अधिष्ठान अन्तर्जगत में स्थित आत्मसत्ता है। इसी प्रकार अन्तर्बाह्य जगत् की एकात्मकता का प्रत्यय दिलानेवाला ज्ञान स्वयं संपन्न है। अतः इस ज्ञानका स्वीकार कर! उसमें समा जा। केवल ज्ञानरूप बन! फिर सभी सौंदर्य का स्वामी तुम होगे। लौकिक तथा अलौकिक सौंदर्य का साक्षात्कार तुम्हारे जीवन में प्राप्त होगा। आत्माही सर्वांग सुन्दर है। उसका दर्शन बहिर्जगत् में अनुभव किया जाता है। वह तो ऐसा है कि सुन्दर व्यक्ति द्वारा अपनाही सौंदर्य आयने में निरखता जाता हो। आत्माही अपनेको, अपने सौंदर्य को इस विश्वमें निरखती है। इन्द्रियों का विलास, अभिलाषा, विषयों से आस्था दृढ़सी है। अतः उनसे एक प्रकार विराग निर्माण होना चाहिए। विषयोंसे उनकी भेंट न होनेपर लालसा कम होगी। निरोध, संयमन तथा ज्ञानके बारेमें आस्था होनेपर इन्द्रियों का गर्व, उनका बढता हुआ विलास, उनकी उत्कट विकारिता नष्ट होगी। वस्तुतः उस आत्मसुख पर इनका भ्रमजनित सुख परिपुष्ट होता है। किंतु उन्हें याद नहीं। वे अपनेमें ही मस्त हैं। आत्मीयता का अभाव है। विषयों का निरक्षर तथा अभावात्मक अभिलाष सर्वथा अनिष्ट है। अतः विषयों से तथा इन्द्रियों से संपूर्ण विरक्ति होनी चाहिये। उन्हें अपनापा मत दिलाता जा ॥१८७॥

जो मनासि चाड न सांगे। जो प्रकृतिचें केलें नेघे।
जो श्रद्धेचेनि भोगें। सुखिया जाला ॥१८८॥

अर्थ :- जो मनको अपने दुःख नहीं कहता, प्रकृति के

गुण कर्मोंको अपना कहकर स्वीकार नहीं करता, और जो केवल श्रद्धासे ओतप्रोत होकर सुख पाता है– ।

व्याख्या :– अतः तुम अपने मनको कुछ भी मत कहो। उससे छिपाकर रखो। विषयोंका संग, इन्द्रियों की लिप्सा तथा उनकी अभिलाषा आदिकी कल्पनाही उस मनको मत दो। मनको सर्वथा अज्ञात रखो। इंद्रियादि के प्राकृतिक विलासको सदा दूर रखो। तुम्हारी इच्छाशक्ति पुरुषतत्त्व की होनी चाहियें। उसके अंकित रहकरही उसका कल्याण है। मनःसंकल्प का पीछा करनेसे कुछ भी हाथ नहीं आयेगा। पुरुषतत्त्वका ही अनुसंधान महत्त्वका है, उसको विस्मृत मत होने दो। इच्छा तृप्ति मनको छिपाकरही संभव है। मन बडा विकारयुक्त तथा संकल्पविकल्पात्मक है। वह तृप्तीको भी अतृप्त बनायेगा। अतः ज्ञानका अनुसंधान मनकी दृष्टिसे ओझल होकरही हो जाय। अतः मनका अंकित मत रहो। क्योंकि उसके द्वारा बहिर्मुख वृत्तियाँ निर्माण होती हैं, उनकी अभावात्मक तृप्ति है, अविकल प्यास है। मनका ऊब जाना सर्वथा कष्टकारी होता है। अतः मनकोही संयमित करो ! !

॥१८८॥

तयातेंचि गिवसित। ज्ञान पावे निश्चित।
जयामाजि अचुंबित। शांति असे ॥१८९॥

अर्थ :– उसकी खोज करते हुए ज्ञान स्वयमेव उसके पास आ जाता है यही निश्चित ! उसके पास संपूर्ण शांति विद्यमान रहती है।

व्याख्या :– वह परमात्मसुख बिना श्रद्धाके प्राप्त नहीं होता। आत्मसुख का आसन श्रद्धापर जमा हुआ। यद्यपि जीवन की वास्तविक सत्ता आत्मामें निहित है तो भी उसके ज्ञानके लिये 'श्रद्धा' की सहायता जरूर है। वह महत्त्वपूर्ण आधार आत्मसुख के लिये आवश्यक है। जब कहीं श्रद्धावान होकर आत्मबल को तुम आवाहित करोगे उसके साथ आगे बढते जाओगे तब ज्ञानही स्वयं तुम्हें खोजता हुआ तुम्हारे पीछे आयेगा। फिर वहाँ सच्ची, परिपूर्ण शांति प्रकट होगी। उसका तुम्हारे हृदय में निवास होगा। इस प्रकार श्रद्धा, शांति, स्नेह आदिसे सुस्थिर होनेवाला वह ज्ञान अन्तःकरण में भी स्थायीरूप पायेगा। वह ज्ञानबीज अन्तःकरण में परिपूर्णतया अंकुरित होता जायेगा। वह पनपता रहेगा। जिससे वहीं आत्मबोध दृढ़ होगा। ज्ञानकी स्थिरता में आत्मबोध है। वहाँ ब्रह्मपद के आधार से यह ज्ञानस्वरूप आत्माको आत्म-सामर्थ्य की प्रतीति दिलाता है। वहाँ मनका लय है, बुद्धि बोधरूप है। आत्मबोध संपन्न है। ऋणसे उत्तीर्ण करने के लिये संचित-प्रारब्ध तथा क्रियमाण मनुष्यजन्म को देते हैं। मनुष्यजन्म में उन्हींका ऋण चुकाना पडता है। जन्मकी सफलता पायी जाती है। वहाँ जीवन का अणुरेणु, रजःकण भी आत्मिक सुखसे परिपूर्ण हो जाते हें। ज्ञानरूपता का यह प्रभाव है। ब्रह्मचैतन्य का यह आनन्दघन विलास है। आत्मबोध के अंकित होकर देहकी गति नियति का यहाँ नियन्त्रण हो जाता है। महोबोध का वोधिसत्त्वरूप ज्ञानराज

प्रत्यक्ष ज्ञानरूप होकर जन्म पाता है। उस मनुष्य की योग्यता क्या कही जाय ? वह बोधही उसके रूपमें प्रत्यक्ष है, प्रत्यक्ष व्यवहारसा करता रहता है। यहाँ दूसरी बातही नहीं। अन्य किसीकी सत्ता नहीं। मनुष्य का सहज स्वाभाविक आत्मबल यहाँ सक्षम है। कार्यशील है। उसका ही सौंदर्य है, शृंगार है। वहाँ न मैं हूँ, न मेरा कुछ है। 'मैं' और "मेरा" का अस्तित्वही नहीं रहता। वहाँ अद्वयता के कारण परायेमन का अस्तित्वही नहीं। 'एकमेवाद्वितीयम्' जैसा स्नेह केवल अपनापा को ही पनपता है। वही स्नेह शांतरसयुक्त है। जहाँ देखें वहाँ शाँतिका चरमोत्कर्ष, नित्यत्वकी नूतनता, समरसता तथा सरसता !! वहाँ बुद्धि अगर कुटिलता का विचार करेगी तो भी उसके लिये यह असंभव है। क्योंकि वह तो ज्ञाननिधान बन जाती है। एक ज्ञानके सिवा उसके पास भी क्या रहता है ? वह ज्ञानमय होकर सर्वथा सुखासीन हो जाती है। बुद्धि उसी ज्ञानको अपनासा करके उसमें सुप्रतिष्ठित सी होकर आत्मबोध की प्रीतिमें रसलीन रहती है। ज्ञानकी संगिनी, सखी बनकर उसके साथ सानंद विहार करती है ॥१८९॥

तें ज्ञान हृदयीं प्रतिष्ठे। आणि शांतिचा अंकुर फुटे।
मग विस्तार बहु प्रगटे। आत्मबोधाचा ॥१९०॥
मग जेउति वास पाहिजे। तेउति शांतिचि देखिजे।
तेथे अपारापार नेणिजे। निर्धारिता ॥१९१॥
ऐसा हा उत्तरोत्तर। ज्ञानबीजाचा विस्तार।
सांगता असे अपार। परिसे आता ॥१९२॥

अर्थ :- वह ज्ञान हृदय में सुप्रतिष्ठित होता है—मानो

अहं ब्रह्मेति, अहं ब्रह्मास्मि यही प्रतिष्ठा–वहाँ शांति को अंकुर आ जाते हैं–जैसे दृष्टिको नया दर्शन प्राप्त हुआ हो–और आत्मबोध का विपुल विस्तार पग पगपर प्रकट होता है। फिर जहाँ देखें वहाँ एकही शाँति है, वहाँका निश्चय अपना परायासे पार, ममत्वरहित और केवल शांतियुक्त है, सचमुच वह अनिर्वाच्य है।

इस प्रकार उत्तरोत्तर वृद्धिगत होनेवाला ज्ञानबीज का यह विस्तार कि जो क्रमबद्ध होकर भी अपार, मर्यादारहित समुद्र जैसा, कि जिसके पार होना कठीन है। अतः सुन ले–

व्याख्या :– बुद्धिकी शक्तिका परमोत्कर्ष उसकी आत्मनिष्ठामें है। जब वह आत्मवान् होकर अपने उत्कर्ष को प्राप्त होती है तब उस प्रतीति के कारण वह देवताभाव कोही अपनाती है। उसका कर्तव्य अब प्रमाणशुद्ध, प्रांजल तथा आत्मनिष्ठ होता है। उसका निश्चय सुनश्चित, व्यग्रतारहित तथा स्थिर रहता है। वह स्वयं ज्ञानमय होकर अपने पराये का भेद भूल जाती है। या उस भूलसे जागृत होती है। आत्मबोध का उदय बुद्धिकी शक्तिकी चरमसीमा है। वह बोधरूप बुद्धि परायी भावना छोड देती है। एकही आत्मीयता का अनुभव करती रहती है। सर्वत्र फैले हुए उस अगाध, अथाह परमतत्त्व का साक्षात्कार हो जानेसे उसे प्रसन्नता वरण करती है। वहाँ सर्वसंपदा की संपन्नता मानो उसपर प्रसन्न हुई हो। ज्ञान का यही बीज है। उसका चाहे वैसा अंकुर पनपता रहे किंतु ज्ञानकी यह धारणाही मौलिक

है। बीजका विस्तार हो जानेपर, वृक्षरूप में वह परिणत होनेपर या उसके वर्णन काही व्याप हो जानेपर, वहाँ केवल ज्ञान काही वक्तव्य है, एकही शब्द है, क्यों एकही अक्षर है। उसकीही वर्णमाला है, वर्णन है। उसमें एक ज्ञानके सिवा अन्य कुछ भी नहीं। विशाल व्याप हो जानेपर भी ज्ञान ज्ञानही है, और वह एकही, एकरस अखंड !! बुद्धिरूप में वह महत् है, सर्वत्र व्याप्त होता है। उसकी प्रीति बढ़ती रहती है। ज्ञान स्वयं परमप्रेमरूप होनेसे, मूर्तिमंत प्रियत्व-प्रीति-होनेसे उसकी उत्कटता कम नहीं हो सकती। प्रीति हरदिन हरक्षण वर्धमान होनेवाली अक्षर सत्ता है। जितना हम वर्णन करते रहेंगे उतना उसका विस्तार बढता है, साथही उस प्रेम की परमोज्ज्वल ज्योति अधिकाधिक निर्मल, कांतिवान हो जाती है। उसका कथन सचमुच अगाधता का समीकरण है। उसकी सीमा कोई समझ नहीं सकता, उसकी गम्यता स्पष्ट नहीं होती। उसकी परिधि विशाल तथा दृष्टिसे बाहर है। ऐसे अगाध प्रेमकी मूर्ति मनुष्यत्व में स्थिर होती है। मनुष्यत्व देवताभाव में परिणत होता है और वहीं मनुष्य का प्रेमोज्ज्वल शृंगार अवश्य द्रष्टव्य है। वह दृश्यही विलोभनीय है। उसका महत्त्व भी महान्तासे बढकर है। मनुष्यजीव इसी कुतुहल में रम जाता है, उसमें स्थिर होता है। वहाँ वह अपनाही रूप देखता है। अपनाही कर्तृत्व, सत्ता, प्रेम अनुभव करता है। यहाँ इस आत्म पदके कारण आश्चर्यही व्यक्त होता है। और मनुष्य के द्वारा श्रवण सत्कारपूर्वक हो जाता है। श्रवण

सुखकी सहज सिद्धता यहीं है। वह सर्वथा चाहता है कि येही ज्ञानकी, आत्मसुख की बातें सुनी जाय। उसकी यह प्रबलतम इच्छा रहती है। अतः यह वक्तव्य एक महत् प्रेम है। वहाँ महान्, सौंदर्य छिपा हुआ है, एक महान् कौतुक, कुतुहल विद्यमान है। वहाँ प्रेम प्रेमको पाया गया। यह नित्य देखा जाता है कि मनुष्य अपनेपर प्यार करता है। उसकी अपने उपर बहुतही प्रीति रहती है। उसे अपने प्रेमके सामने संपूर्ण जगत् तुच्छसा होता है। उसका अपना प्रेम उसे सर्वोपरि रहता है। यह मनुष्य का प्रेम, उसका भाव देवतारूप होगा, यही प्रेम देवतारूप हो जाय, उसका आलंबन अपनी देह, बुद्धि, वासना, विकार न रहकर उसकी अपनी आत्मा रहेगी तो वह जरूरही दिव्य भावको अपनायेगा। यह आत्मप्रेम विश्वात्मक प्रेमकी योग्यता पाता है क्योंकि उसी आत्मप्रेम में आत्मौपम्यभाव है। विश्वको एकात्मरूपमें देखने की क्षमता है। अन्तर्बाह्य जीवन उसकी आत्मप्रीति से ओतप्रोत रहेगा। वहाँ मनुष्यत्व का सच्चा कौतुक है। वहाँ उस दिव्य जीवन की सचाई है। यह सत्य, यह दिव्यजीवन न कहाँ गायब रहता है। उसे ढूँढकर, उसकी खोज कर उसे अपने में ही लीन करने में ज्ञानसौंदर्य का प्रकाशन है। वहाँ ज्ञानही ज्ञान है। उसकाही परमप्रकाश है, चरमसौंदर्य है, प्रज्ञानघन आनन्द है। मनुष्य जीवन की इतिकर्तव्यता है। मनुष्य जीवन में जिसने इसे अपनाया उसको हम मनुष्य भी कैसे कह सकेंगे ? प्रत्युत् जो इस ज्ञानका अधिकारी नहीं, जिसने ऐसी साधना से सदाके

लिए जी चुराया है और जो केवल मनुष्य की प्राकृतिक लालसा काही शिकार बन गया है, क्या वह मनुष्य कहने योग्य है ? उसकी जिंदगी असफल रहती है। जो अपने को नहीं जानता, अपने जन्महेतु को परिलक्षित नहीं करता, जीवन के उदात्त बोध के प्रति उसे आस्था नहीं, और अज्ञान-जन्य अंधेरेमें ही जो लिपटा हुआ है, उसे प्रकृति का केवल दासही समझना चाहिए। उसके द्वारा जीवन का उत्कर्ष नहीं अपनाया जायेगा। वस्तुतः मनुष्यजन्म में मनुष्य को अपनी बीजभूत मौलिकता को पहचाननी चाहिए। अपने कर्तव्य का योग तथा आत्मज्ञान का बोध प्राप्त करने के लिए उसे प्रयत्नशील, तपोरूप, साधनायुक्त होना चाहिए। जो इस बीज रूपता को ज्ञात कर लेता है, वहाँ सच्चे अर्थ में मनुष्यत्व की उदय है। जन्म की सफलता है। महान् बुद्धिके कारण मनुष्य की श्रेष्ठता है। अन्यप्राणियों में यह नहीं पायी जाती। इस प्रकार विश्वको अपनी सीमामें बाँधनेवाली यह महत्‌बुद्धि जिसे प्राप्त है, उस मनुष्य को अपने स्वभाव के प्रति सजग रहना चाहिए। अपनी सत्ताका अनुभव करना चाहिए। जो यह नहीं कर सकता उसका मनुष्यत्व न के बराबर है। जो उसे छोडकर अन्यत्र भटकता है वहाँ विफलता के सिवा और क्या है ? मनुष्य की महत्ता, उसकी बुद्धि, श्रद्धा तथा आत्मा उसके अपने पास है। उन्हें पहचानकर ही प्रयत्नशील होना चाहिए। उस असीम ज्ञानको, उसकी सत्ताको जानने की बात कमसे कम मनुष्य के मनमें होनी चाहिए। वह इच्छा, आस्था,

आकांक्षा, उत्कट होनेपर जरूर प्रतिफलित होगी। मन केवल कोरी कल्पना की बातें न करे। कमसे कम मनमें इनके प्रति उत्कंठा, प्यास, प्यार जरूर होना चाहिए। यह सत् की इच्छा है, सत्स्वरूप है। उसकी इच्छा विफल नहीं होगी। कालांतर से क्यों न हो किंतु वह अंकूर जरूर पनपेगा। यथाकाल बारिश होगी, हरेभरे पत्ते हिलोरे लेंगे, फूलोंकी सुषमा तथा सुगंध प्रसन्नता देगी और मोक्षश्रीरूप फल वहीं साकार होगा। यह बीज भूत इच्छारूप बेली प्रयत्नपूर्वक बढानी चाहिए। वही इच्छा पूंजी (मुद्दल) होकर रहेगी। और हलके हलके सूद के कारण उसमें वृद्धि होती रहेगी। कमसे कम मनुष्यत्व की भावना केवल प्राकृतिक न रहे। वहाँ प्रकृति से बढकर और कुछ प्रिय हो। यह आस्था यथावकाश अवसर पानेपर ईशेच्छा का अंशसी बनकर, मनकी तरलता में संचरित रहती है। जहाँ ज्ञानरूप प्रियदर्शन उसे प्राप्त होगा, उस श्रीगुरु के–संतके सामने अपनी एकात्मकता का मानो परिचय दिलाता हुआ वह अंश, ज्ञानभिक्षा का आवाहन करता है। वहाँ लीनता की पराकाष्ठा रहती है। श्रीगुरुके मनमें दयाका भाव सदाके लिए है। उनकीही कृपा उसके संपन्नता को अन्तमें कारण हो जाती है। पांचभौतिक जीवन में यह प्रेम, यह आस्था या सदिच्छा भूतदयाका ही आवाहन करती है। अपने तत्वोंका पोषण करती हुई वह प्रकृतिमाता यहीं अन्तर में कुछ पिघल जाती है। प्रकृति पुरुष का सामरस्य, इस ब्रह्मांड का अधिष्ठान होनेसे वहाँ ईशेच्छा का वह छोटासा अंश भी समर्थ होता है।

उसके द्वारा इच्छित पंचतत्त्वों का परिपोषण, समीकरण यहाँ पुरुषार्थ का प्रयोग हो जाता है। यही मौलिक क्षमता जब प्रकट होती है, तब उस मनुष्य का भाग्यही मानो जाग उठा। वहाँ स्थितप्रज्ञता स्वतःसिद्ध हो जाती है। ईश्वरी प्रकृति का परमप्रेम उसे उत्कंठित करता हुआ, आत्मनिष्ठ बना देता है। उसके जीवन में इस प्रकार सफलता की संपन्नता आजाती है। मनुष्यत्व की दिव्यता अनुभव की जाती है। अन्यथा प्राकृतिक जीवन का जो मनचाहा विलास, यह हँसना, रोना, खाना-पीना आदिमें केवल अहंतुष्टि है, अहंपुष्टि है। वहाँ अहंता ठूँस ठूँस ठोसकर भरी हुई है। फिर वह अपनेको ही भूल जाता है। उसका जीवन बुद्धि की व्यग्रता में बिताया जाता है। ज्ञानके सिवा बुद्धि सर्वथा अन्धी है। फिर वह बोझ किस प्रकार उठा सकती है ? जो जीवनभार से सर्वथा दबी हुई है, परिश्रमसे थकी हुई है और जो केवल अहंता की दासी बनकर मनचाहे रास्तेपर दौडती है वहाँ स्थितप्रज्ञ की अवस्था कैसे संभव है। इस देहकी विदेहिता अनुभव करने की क्षमता उसमें कहाँ होगी ? वह अपने में चूर, अश्रद्ध तथा ज्ञानहीन अंधी है। वहाँ तो सर्वथा चंचल और अस्थिर रहता है और उसे भी चाहे वैसा नचाता है। अतः पहलेपहल मनको संयमित करना पडता है। उसको ठीक रूपसे संयमित करके बुद्धिके आगे रखना होगा। तब वही मन बुद्धिको भी सजग कर सकता है। सचेत करने का सामर्थ्य उसे प्राप्त होगा। वह बुद्धिको भी जागृतसा करता हुआ ज्ञानकी ओर संकेत

करता है। मन बुद्धिका यह प्रबोध ज्ञानरूपता की पहली सीढी है। अतः हर प्रयत्न से तुम इस ज्ञानके बारेमें आस्थायुक्त हो जाओ। उसकी प्रीति मनमें रखो। उसकी वांछा करते रहो। इस ज्ञानके कारण मनुष्यजन्म की सफलता है। अतः वह प्राप्त होनेकी इच्छा सदैव बनी रहे। वही ज्ञानको जन्म देगी। मनुष्य का हेतु, उसकी एकात्मता तथा आत्मनिष्ठा की संपन्नता इसी इच्छापर निर्भर रहेगी। कमसे कम मनमें इसकी चाह जरूर जरूर बनी रहे। फिर वही ज्ञानबीज होगा। वह अंकुरित करने का कार्य तुम्हारा मन यथावकाश जरूर जरूर सफल बनायेगा ॥१९०-१९२॥

**अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।**
**नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥**

अर्थ : जो संशयी, मूढ़, अज्ञ तथा अश्रद्ध है, वह नष्ट होता है। उसकी न इस लोकमें प्रगति है, न उस लोकमें गति। उसे सुख भी नहीं है ॥

आईके जया प्राणियेच्या ठायी । ज्ञानाचि आवडि नाहिं ।
तयाचें जियालें म्हणीं कायि । वरि मरण चांग ॥१९३॥

शून्य जैसें गृह । कां चैतन्येंविण देह ।
तैंसे जीवित संमोह । ज्ञानहीन ॥१९४॥
अथवा ज्ञानकीर आपु नोहे ।
परि ते चाड एकि जरि वाहे ।
परि तेथ जिव्हाळा आहे । प्राप्तीचा पैं ॥१९५॥

वांचुनि ज्ञानाचि गोठि कायसि ।
परि तेंहि आस्थाहि न धरि मानसि ।
तरि तो संशयरूप हुतांशीं । पडिला जाण ।।१९६।।
जें अमृतहि परि नावडे ।
ऐसें सावियाचि अरोचक जैं पडे ।
तैं मरण आलें असे फुडें । जाणों ये कीं ।।१९७।।
तैसा विषय सुख रंजे । जो ज्ञानिसीचि माजे ।
तो संशयें आंगिकारिजे । येथें भ्रांति नाहिं ।।१९८।।
मग संशयीं जरि पडिला । तरि निभ्रांत जाण नाशला ।
तो ऐहिक परत्रा मुकला । सुखासि गा ।।१९९।।

अर्थ :– सुनो, जिस मनुष्य में ज्ञानविषयक बुद्धि नहीं, चाव नहीं, उसके जीवित को क्या कहें ? वह क्या जीवन है ? ज्ञानहीन जीवित की अपेक्षा मृत्यु ही श्रेयस्कर ? निर्जन गृह या चैतन्यहीन शरीर के समान ज्ञानहीन जीवित संमोहयुक्त है । (याचना से ओतप्रोत, विवेकहीन, विवश)

यह भी संभव है कि कोई ऐसा होगा कि जिसके पास ज्ञान नहीं, किंतु ज्ञान पानेकी उसे तीव्र इच्छा है । उसे ज्ञान प्राप्तिका संभव है और यथावकाश वह ज्ञान पायेगा भी । ज्ञान न होनेपर उसकी चर्चा व्यर्थ है । ज्ञानके बारेमें मनमें आस्था भी न हो तो वह मनुष्य संशयरूप अग्निमें पड गया ।

जिसके मनमें अमृत की लालसा नहीं है उसके पास अरोचकता सहजही प्राप्त है । यह अरुचि और कुछ नहीं किंतु सचमुच मृत्युही !!

विषय सेवन से प्राप्त हुए थोडेसे सुख के कारण जो ज्ञानसे भी स्पर्धा करता है, उन्मत्त होता है, उसे संशयने ही मानो अपनाया यही सही ।

जो भ्रांतिमें डूब गया वह निःसंशय नष्ट हुआ । इह तथा परलोक से वंचित हुआ । सुखसे विमुख रहा ।

व्याख्या :- जहाँ ज्ञान प्राप्तिकी चाह नहीं वहाँ देवता का आश्रय भी कहाँ होगा ? दैव भी उससे दूर रहेगा । उसके देवता उससे दूर रहेंगे । वस्तुतः ज्ञानप्राप्ति के लिये श्रीगुरुकी कृपा नितांत आवश्यक तथा अनिवार्य है । किंतु जिसे ज्ञानकी आस्था नही उसके बारेमें श्री गुरुदेव को भी क्योंकर आस्था रहेगी ? जो उन्हें अपनाता नहीं, उसके घर वे क्यों जायेंगे ? वह अक्षरभाव वहाँ सच्चा आश्रय है । आत्मनिष्ठा वहाँ पनपनी चाहिये । बुद्धिको सर्वथा उसकी शरण हो जाना चाहिए । ब्रह्मचैतन्य को अत्यन्त प्रिय ऐसा वह नामाक्षर, नामरूपसखी, उसेही यहाँ प्रवेश नहीं दिया जाता, उसे घरमें नहीं लिया जाता, फिर सुख कहाँसे संभव है ? जो नामधारणा श्री गुरुसेवा, ज्ञानसाधना के बारेमें सर्वथा उदासीन है वह क्या अपना हित जानता है ? उसके विचारही रुद्ध से हो जाते हैं । वहाँ केवल भोगलिप्सा है । हितके बारेमें उसके मनमें निर्देश तक नहीं, निश्चय भी नहीं । उसके सभी विचार रुद्ध से हो जाते हैं । फिर हितकी धारणा असंभव है । जिसके द्वारा इस जीवन की सच्ची सफलता है, उसके प्रति अगर यह देह उदासीन रहती है, तो फिर अहित लेकर जीवनयापन करने में क्या अर्थ है ?

उस कल्याणरूप दृष्टिको हम ओझल बना देते हैं। उसके बारेमें लगन नहीं, आस्था नहीं। ऐसी अवस्था में मनुष्य जन्म का हेतु सफल होना दूरही रहा, किंतु बडा भारी बोझ लिए हम फिरते रहते हैं। मनुष्य के जन्म की व्यर्थता यहीं दिखाई देती है। जीवभाव स्वयमेव बन्धनरूप है। यह जन्म बन्धन से मुक्त होनेका सुवर्ण अवसर है। शिवरूप होनेका प्रयास यहीं सफल हो जाता है। जीवका यह बन्धन, विरुद्ध भाव उसे बद्ध करकेही रखता है। उसे अपनी मर्यादाका ही प्रत्यय आता है। असल में वह शिवरूप होकर भी मनुष्यजन्मके कारण बद्धसा रहता है। उसका जीवित उसका अपना नहीं। वहाँ किसी दूसरे द्वारा-प्रारब्ध, क्रियमाण-उसके जीवन को गति है, नियन्त्रण है। वह स्वतन्त्र नहीं। उसकी देह किसी दूसरे के हेतुके लिए बोझसी ढोती है। अतः उसका अपना जीवित मानो मृत्युके आवर्तमें ही फँस जाता है। वहाँ इसी कारण बहिर्मुखता है जीवात्मा की ज्ञानमयता यहाँ लिप्त है। उसकी पहचान भी यहाँ नहीं।

यहाँ और एक बात है कि बुद्धिकी सूक्ष्मगति भी इस देहपर प्रेम कराने को उद्युक्त करती है। वह वहाँका जीवभाव त्यागने को तैयार नहीं होती। वही अहंनिष्ठ प्रेम तथा अहंपोषणयुक्त जीवित इष्ट मानती है। उसके लिए प्रयत्नशील रहती है। बुद्धि अपने को महत्त्वपूर्ण बनाने के प्रयत्न में ही फँसी रहती है। वहाँ बुद्धिकी व्यामोहता है, उसमें रहना उसे पसन्द है। इसी व्यक्तिमत्व के विकास के लिए, अहंपोषण

के लिए बार बारका आवर्त भी उसे प्रिय है। जन्म जन्म तक उसका घूमना, और जीव को घुमाते रहना जारी है, उसकी सीमा नहीं। जन्मजन्मों में पाये गये गुणसंस्कार, बार बार जन्म के कारण हुए गृहसंस्कार तथा इसी अहंपोषणयुक्त देवता का उपचार आदिसे जीवात्मा भी इसी जीवन का आदी हो जाता है। जीवात्मा का जीवभावही उसे मानो प्रियसा लगता है। वह अपने इस जीवभाव परही प्यार करता है। उसकीही अभिवृद्धि की जाती है जो वस्तुतः सेवाधर्म का अन्त है, वहाँ भी गहनता है, गूढ़ता है किंतु वह अन्धेरे से और कुछ नहीं। वहाँ अभावात्मकता होनेसे सर्वथा लोपही है। केवल गूढ़, अन्धःकारयुक्त होनेमें आत्मवान का प्रकाश नहीं हो सकता। अपने लोप के साथ इस देहका भी लोप हो जाय, उसकी स्वतन्त्रता न रहे, यही बुद्धिकी विवर्तयुक्त धारणा होती है। वह अनेकविधतामें फंसी हुई है, नानात्वका मोह उससे छूटा नहीं फिर एक लोप के सिवा उसके पास और क्या रहेगा ? वह उसकीही—जडता की प्रतीति इष्ट समझती है।

किंतु बुद्धि की गति कभी अत्यन्त सूक्ष्म रहती है मृत्यु के आवर्तनों के बाद कभी उसकी गुणात्मकता विकासोन्मुख होती है। वहाँ जीवित का सच्चा अर्थ स्पष्ट करने के लिए उसका कुछ निश्चय हो जाता है। केवल मृत्यु और मृत्यु की बात अब नहीं रहती। वह अपने आत्मीय प्रेमकी प्रतीति देखने को उत्सुक रहती है। गुणोंके अनेकविध संस्कार, बारबार के आवर्तों में हुए गृह्यसंस्कार तथा देवता का उपचार आदिसे

उस जीवात्माको भी अपनी आत्मसत्ता का, आत्मप्रेम का प्रत्यय हो जाता है । अपने प्रेमकी विकासोन्मुखता वह अनुभव करने लगता है । वहाँ मानो दैवही अनेक जन्मजन्मों के बाद उस पर प्रसन्नसा होता है । दैवका वहाँ नया संस्करण है, उसकी अभिवृद्धि सेवाधर्म की सीमा देखती है । उसकी गहनता निगूढताको भी समझ सकती है । विवर्तका नानात्व, अनेकविधता होनेपर इस देहकी मर्यादा पूरी हो जाती है । वह देह अपने आप विदेही बनने की प्रेरणा मात्र है । वही एक आशाका किरण कि अनेक आवर्तोंके बाद, अनेकविधता की लोप हो जाती है, और फिर उस एकात्म, एकविध अखंड अनुभूति का परिचय प्राप्त हो जाता है ।

वहाँ केवल देहकाही लोप नहीं तो उसके आश्रय में रहनेवाला अभ्यास, योग उसका भी लोप हो जाता है । जहाँ अभ्यास नहीं, योग नहीं, साधना नहीं वहाँ जीव एक बाह्यांगही बन जाता है । उसकी अंतरंग शक्ति मानो नष्ट हो जाती है । वह केवल बहिरंग की ओर झुकता है, और अधिक कुछ देखता नहीं । वह अपनी स्थूलता को, बहिर्जगत् को महत्त्व देता है । उसके परे और कुछ महान् तत्त्व होगा, उसकी उसे कल्पना तक नहीं रहती । वह अपनी बहिर्मुखता में मस्त रहता है । यह संपूर्ण जीवन एक स्वप्नमय सृष्टि है, उस पर इस जीवभाव का ही एक संस्कार है । वस्तुतः जीवित्व में देवतादर्शन का योग प्राप्त करना, उसकी सार्थकता है । उस देवतादर्शन के प्रति सर्वथा अनादरसा रहकर मनुष्य बहिर्जगत

की भूलभुलैया में फँस जाता है। उसे अपनी अहंता का अभिमान है, अपने सौंदर्य का गर्व है। अत: वह अपनेमें ही मस्त रहकर बुद्धिके जाल में फँसा रहता है। उसके अधीन होकर जीवन के कालावधि को सुखोपभोग में व्यस्त करने के सिवा उसका कुछ काम नहीं रहता। इस प्रकार जीवित की विद्यमानता जन्ममृत्युका चक्र है, जो अनादि अनन्त रूपमें चलता रहता है। किंतु वहाँ इसका पता तक नही चलता कि इस जन्मके कारण, इस देहमें वही परमात्मतत्त्व विद्यमान रहता है, उसीके कारणही इस देहका चैतन्य है। वह परमात्म चैतन्य यहाँ सर्वथा ओझलही रहता है। जहाँ वह ओझल है, और उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्नशून्यता है वहाँ वही परमात्म-तत्त्व जीवभाव की दुर्दशामें, दूसरे के लिएही उपजीवन करता है, दूसरे के लिए अपना जीवित गँवाता है। फिर बार बार जन्ममृत्युकाही चारा है। जीवभाव की दुर्दशा में फँसा हुआ वह जीव अपनी तडपन कह नहीं सकता। वह भी मानो जीवनमृत्यु से बधीर होकर अपनी सत्ताको भूल सा बैठता है। फिर जो जैसा चलता है वैसाही चलने देता है। उसकी अस्वस्थता जीवन में प्रतीत होती है। वह अपनी कामनापूर्ति के लिए कुछ कर नहीं सकता। वह तो प्रारब्ध के अधीन होकर, जीवन के मौलिक सुखसे वंचित रहती है।

यह तो सर्वसामान्य लोगोंकी दशा है। वहाँ जीवन के विकसन का, आत्माके उन्नयन का विचारही नहीं होता। जीवभाव के कारण आत्मा सचमुच पराधीन, हीनदीन हो

जाती है। वहाँ काम धर्म के अधीन नहीं। धर्म तथा काम दोनों भी जीवन के लिए अनुकूल हैं किंतु काम को धर्म के अधीनही होना चाहिए। उसका धर्मसान्निध्य श्रीगुरु की उपलब्धिके बाद है। जहाँ धर्म है, वहां श्रीगुरु हैं, वहाँ काम भी उनके अधीन रहता है। श्रीगुरु का सान्निध्य, उनकी कृपाप्रचुर दृष्टि सहज स्वाभाविकता लानेमें समर्थ है। वही सहजस्वाभाविकता जीवभाव को अपनी अन्तःकला की ओर ध्यान देनेको उत्कंठित करती है। यहाँ दशाकी दुर्दशा समाप्त होती है। उसका मूलभाव जागृत होता है। रमणीयता की दिव्यानुभूति अन्तर साधना के कारण साकार होती है। जीवचैतन्य का मौलिक भाव रामरूप है। उसकी प्राप्तिके लिए अन्तस्साधना का ही योग है। वहाँ आनन्द है, प्रज्ञानघन आत्मसौंदर्य है। वहाँ गुणोंकी विविधता होनेपर भी उनमें एकात्मदर्शन अनुभवगम्य है। विविध गुणोंका प्रकर्ष केवल आत्मानन्द की अनुभूति के लिए ही है। वहाँ पराधीनता नहीं स्वाधीनता है। वहाँ संपदा सिद्ध है, आत्मा संनिध है, ज्ञानका मौलिक सुखसंवेदन है। इससे मनःकला जीवित अपनाती है। वहाँ उसकी ज्योत्स्ना शीतल करती हुई आल्हाद कोही बढावा देती है। चन्द्रमा के प्रशांत किरण वहाँ जीवन में अमृत रसास्वाद प्राप्त कराते हैं। वहाँ अज्ञान रहा हो, तो भी वह आत्मीयतासे ही परितृप्त है। प्राणीमात्रों की जीवधारणा इस अज्ञानके ही कारण है। अज्ञान न होता तो जन्मकी आवश्यकताहो नहीं रहती। अतः वह अज्ञान, द्वैत जीवमात्र को अनेकविधताकी ही अनुभूति दिया करता

है। 'द्वितियाद्भयं भवति' यह उसका आदेश है, यह उसका उपदेश भी है। अतः जो कोई इस अज्ञान को जानता है, वह अद्वितीय हो जाता है, निर्भय हो जाता है, अद्वैतानुभव को अपनाता है। फिर वहाँ अन्तर्बाह्य जगत् में एकही प्रज्ञानघन परमात्मदर्शन है। मनुष्यत्व की जगह ईश्वरत्व का उदय है। वहाँ सर्वत्र ऐश्वर्यभाव का प्रदर्शन है। ऐसे ईश्वरत्व प्राप्त मनुष्य में सर्वाधिक नम्रता है। सर्वत्र ईशदर्शन के कारण वह नम्र है। उसकी पूजा जारी रहती है। वह तो अद्वितीय रह जाता है साथही सगुणका गुणातीत रूप उसने अनुभव किया है। वह सभी प्रकार के कर्म करता है किंतु वह नैष्कर्म्य योग से संपन्न है। अतः उन कर्मोंसे योगयुक्तही हो जाता है। वहाँ केवल आत्मदर्शनही है। वस्तुतः जीवदशा दुर्दैवकाही एक भोग है। उसे दुर्दशाही कहना चाहिए। वहाँ 'त्राहि त्राहि' की ही अतिपुकार है। जीवदशा का बन्धन नष्ट होनेपर वहाँ आत्मरूप स्वाधीनता व्यक्त है। आत्मरूपता के कारण, आत्मनिष्ठ, स्वभावसहज जीवन है। सर्वत्र आत्मदर्शन का योग होनेसे इस विश्वके प्रति, तथा यच्चयावत् प्राणीमात्र के प्रति विलक्षण अनुकंपा, दया, कारुण्य निर्माण होता है। अहिंसा, भूतदया आदि कोमल करुण भावनाओं का हृदय में सन्निवेश सहज रूपसे हो जाता है। केवल आत्मौपम्य भावना से वहाँ कारुण्य की दृष्टि है। मनकी सूक्ष्मसूक्ष्मतर कलाओंमें, जीवन के उदात्तभाव वृद्धिगत होते हैं। कर्मविपाक के कारण जीवदशा की जो दुर्दशा अनुभव की जाती है, वह

अब नहीं के बराबर हो जाती है। वहाँ शांति, सद्दर्शन, एकात्मता का प्रादुर्भाव है। वही एक आत्मा, परमात्मपुरुष एकनिष्ठा के परमादर के कारण देवोपम ऐश्वर्य व्यक्ति व्यक्तिमें निक्षिप्त करता है, उसकी उद्भावना प्रकाशरूपता सुयोग है। वहाँ संकोच नहीं होता। संकोचहीनता यहाँ शक्तिरूप बन जाती है। भक्ति पानेके लिये केवल मर्यादा का खयाल नहीं होना चाहिए। अपने संपूर्ण जीवभाव को अत्यन्त योगयुक्त करके, किसीभी प्रकार संकोच न करते हुए उस भोलानाथ श्रीशिवजी के अनुष्ठान में लगे रहना चाहिए। कर्तव्य की निष्ठाकाही यह व्यापार हो। उसमें स्वार्थशून्य निरपेक्षता अनुभव की जाय। संपूर्ण शक्ति वहाँ नष्ट हो जाय फिर देहबुद्धि नहीं रहेगी। देहभाव का परिवर्तन देवताभाव में होगा।

निःसंशय मनुष्य की आत्मस्वातंत्र्य है। आत्मस्वातंत्र्य के ऐश्वर्य का उसे अधिकार है। वह आत्मनिष्ठ होने पर उस आत्मस्वातंत्र्य के अनुभव को पा जाता है। वहाँ उसे उसके ऐश्वर्य का भोग भी प्राप्त है। वह अपनी अधीनता से सभी कर्म कर सकता है। किंतु बात यह है कि वह उसकी ओर ध्यान नहीं देता। मायावश होनेके कारण इस देहमें स्थित चैतन्य की स्वयंसिद्धता का लाभ वह उठा नहीं सकता। उसकी विद्यमानता का उपयोग नहीं कर सकता। यही कारण है कि वह फिर देहबुद्धि के जालमें फँसा रहता है। विश्वसंभव की प्रक्रियामें महामाया मूलप्रकृति की साम्यावस्था विघटित होती

है। उसके त्रिगुणों की विघटना हो जाती है। ये त्रिगुणों के चरण, जो 'प्रणत' कहे गये हैं, संपूर्ण विश्वकी निर्मिति में कार्यशील हैं। यहाँ त्रिपुटी भी है। कोई भोक्ता है तथा कुछ भोग्य और उन दोनों के संयोग को भोग कहा गया है। ज्ञान–ज्ञाता–ज्ञेय इसी प्रकार है। त्रिपुटी के जीवन में द्वैतभाव बना रहता है। जहाँ द्वैत है वहाँ द्वंद्व भी है और अहन्तायुक्त जीवन भी। यह तो सरासर अज्ञान है कि जो द्वैतभाव को परिपुष्ट करता है। ज्ञाता अपने को महान् समझता है, भोक्ता भोग में लिप्त है। ऐसी अवस्थामें ज्ञानकी ओर कौन देखेगा ? अपनेको ही प्रतिष्ठा देते हुए ये जीव आत्मज्ञान से वंचित रहते हैं। त्रिपुटी के जालमें फँस जाते हैं। उसको मायामें अटके रहते हैं। वहाँ अज्ञानांधःकार के सिवा और कुछ नहीं। वहाँ आत्मसंवेदन नही, अक्षर ब्रह्म की उपासना नहीं। जीवकी उपाधि के कारण अन्तर्मुखता का सर्वथा लोप है। प्रत्युत् प्रकृति का जाल अधिक प्रभावी हो जाता है। आदमी उत्तरोत्तर उस फन्देमें अधिकहि फँस जाता है। निरामय जीवन का निर्लेप आनन्द यहाँ अदृष्ट है। यहाँ जीवन की ओर देखने की दृष्टिही रोगयुक्त है। आरोग्यभवनही यहाँ नहीं। त्रिगुणों के त्रिदोष की विषमता मनःस्वास्थ्य को नहीं बनाया करती। फिर जीवदशा आलस्यादि विकारों का भोग बन जाती है। इन्हीं विकारों के कारण उसके हृदयस्थ आत्मरूप कमल का संकोच हुआ करता है। किंतु उसे इस बातका तनिक भी पता नहीं चलता। कमल की मुरझायी,

बेचैन स्थिति वह अनुभव नहीं कर सकता। कमल की निर्लेपता उसके जीवन में अर्थशून्य है। वहाँ केवल भोगमात्र है। अतः जीवन के सभी भोगों का आस्वाद लेनेमें वह व्यस्त है। उसका जीवन अनेक जीवोंका भोग है। 'जीवोजीवस्य जीवनम्' इस न्याय के अनुसार वह अपनी जीविगिषा बनाये रखता है। उसके लिये वह प्रयत्नशील है। ऐसे मनुष्य द्वारा अनेक बार प्रयत्न करनेपर भी उसे अपनी स्वयंसिद्धता का पता नहीं चलता। उसे वह आत्मीयता अनुभव नही होती। उसके द्वारा प्रयत्न होतेही हैं। किंतु फलद्रूप नहीं होते। वह आत्मीयता की ओर झुकता है किंतु उसकी विकारवशता उसे दूर ढकेलती है। वहाँ स्थिर होने नहीं देती। अतः यह प्रयत्न अहंपोषण को छोडकर अहंताविरहित होकरही किया जाना चाहिए। उसे अपनी आत्माकी सहानुभूति प्राप्त होनी चाहिए। उसकी लगन एकनिष्ठासे अधिकाधिक उत्कट हो जानी चाहिए। आत्मीय सहानुभूति के ही कारण वहाँ प्रकाश का प्रवेश हो जाएगा। अन्यथा वहाँ संदिग्धता रहेगी, मनकी अस्थिरता तथा विकारवशता बनी रहेगी। विश्वव्याप्त द्वैतभाव को नष्ट करने का प्रयास कोई सामान्य बात नहीं। किंतु वहाँ एकदेशी प्रयत्नही होते हैं। हो सकते हैं। जो द्वैतभाव, उसकी विद्यमानता सर्वत्र स्पष्ट प्रतीत होती है, उसके अन्तःस्तल में एकही आत्मरूपता का आविष्कार है। वह सत्ता अनुभवगम्य होनी चाहिए। ये एकदेशी प्रयत्न कुछ हद तक सफल होंगे। मनोरथ के संकल्प जिस प्रकार मनको खाली लुभाते हैं,

आस्थिरता बनाते हैं वैसेही प्रकृति के विलासका बाह्य रूप द्वैतको भी बनाये रखता है। अहाँ आत्मभवन में आत्मीयता छिपी रहती है। किंतु जब वह निष्ठा जाग उठती है तब उसीके प्रयत्नोद्वारा, उसके नैष्ठिक बलके कारण मनको स्थिरता प्राप्त होती है। वहाँ आत्मीयभाव जागृतसा हो जाता है। वहाँ विशालता का, सच्ची उदारता का अनुभव है, उदय है। व्यक्तिमत्व की पृथक् सत्ता अब विलीन हो जाती है और वहां विश्वव्यापक जीवन की स्पृहा पैदा हो जाती है। प्रयत्न की इस विशालतामें गुणोंकी साम्यावस्था का प्रतिप्रसव अनुभव होने लगता है। वहाँ विशाल तथा सूक्ष्म जीवन का एकात्म साक्षात्कार लेनेको मन लालायित रहता है। विशालता की यह महत्बुद्धि गुणपरावर्तन का सुयोग प्राप्त कराती है। फिर वहो व्यग्रता नहीं, एकाग्रता है। इसी कारण सच्चे अर्थमें लोकलालन तथा पोषण होता है। लौकिक जीवन की संपन्नता उसमें बाधारूप नहीं हो जाती। फिर वहीं प्रसन्नता का परिपोष हो जाता है। इस प्रकार की साधना के लिए इन बातोंकी जरूरी है। अपनी सुखासीनता दूर करके वहाँ तप, वैराग्यादि से एक विशेष योग सुप्रतिष्ठितसा किया गया हो तो जीवन का ऋण चुकाने का शुभयोग जरूर उपस्थित हो जाता है। कुछ मर्यादा में सही किंतु वही सत्ता अब स्वावलंब को उद्युक्त हो जाती है। वही देवताभाव होकर यशश्री का वैभव मुखर हो जाता है। योगसाधना के कारण योग्यता प्राप्त हो जाती है, योग्यता के कारण आत्मनिष्ठा प्रसन्न सी

होकर अपने प्रभाव का प्रसन्न परिपोष करा देती है। जीवन अन्तर्मुख बन जाता है। देवताभाव जागृत हो जानेसे भोगलिप्सा नहीं रहती और दिव्यता के आनन्दोत्कर्ष का एक बीजही मानो अपने जीवन में बोया जाता है। उसकी महिमा प्रकट होने लगती है।

अत: आवश्यक है कि उस जीवदशा का जो प्रामाण्य, जो चैतन्यरूप उसकी सिद्धता करनाही सर्वथा इष्टप्रद है। जीवभाव को वहीं सच्ची शांति, ज्ञान, सत्ता, प्रकाश है। वहाँ स्फूर्ति, है, प्रेम है। कर्मकर्तृत्व इसीमें सफल हो सकता है। उसकी सफलता पर वह महान् कर्तृत्व बन जाता है। हाँ ! शायद यह तुम्हारी इच्छा होगी, कि वह स्वयं इस प्रकार चैतन्यरूप बन जायेगा, हमें कुछ करने का प्रयोजन नहीं, तो यह तुम्हारी भूल है। जीवभाव की दुर्दशा कम नहीं। उसके परिवर्तन के लिए उसके अनुकूल कार्य जरूर होना चाहिए। वहाँ स्वभाव धारणा सहज नहीं हो सकती। कुछ तप, वैराग्य आदिकी नितांत आवश्यकता है। अगर हमारा मुख श्रीसंपन्न होनेकी चाह हो, या चन्द्रके समान शीतल, प्रसन्न होनेकी इच्छा हो तो आवश्यक है कि उसके लिए तप किया जाय। बिना तप, बिना वैराग्य, बिना कष्ट वह असंभव है। कर्मकी श्रेष्ठता इसीमें है। इसकी निष्काम कृति यह वैभव अनायास दे देगी। अत: नैष्कर्म्य की ओर हमें जाना होगा। कर्मोंका अनुष्ठान उस असीम के लिए, उस सत्ताके स्पर्श के लिए होना चाहिए। फिर वही कर्म रंजक है। वहाँ लोकहित सुरक्षित

है, धैर्यकी कसौटी पूरी हो गयी है। धैर्य तथा लोकहित दोनों की परितृप्ति यहाँ संभव हो सकी। प्रकृति गुणात्मक है ही किंतु उसकी विषमतामें गुणोंकी स्थिति भी विघटित रहती है, जब ये गुण अपनी साम्यावस्था पाते हैं, तब प्रकृति का स्वभाव-सिद्ध प्रकर्ष है। साथही विषयों के संगके कारण जर्जर हुआ मन उनसे निवृत्त होना चाहिए। कर्तव्य का ही एक सुन्दर सत्कर्मयुक्त अनुष्ठान होता है तब वह परमात्मतत्त्व, आत्मदर्शन का सहजसुन्दर सानन्द अनुभव कराता है। उस समय वह सहजानन्द का गृह बन जाता है। अपनी देहमें स्थित प्राण, जब आत्म सत्ताका, आत्मचैतन्य का अंकित हो जाता है, तब वहाँ उस सत्तारूप चैतन्य का सच्चित्स्वरूप केवल प्रेममें संपन्न हो जाता है। वहाँ उसका स्वरूप केवल प्रेममय रहता है। निरामय तथा प्रशस्त जीवन में उस आत्मतत्त्व का प्रकाश अत्यन्त दीप्तावस्थामें रहता है। वहाँ आत्मतत्त्व का यह सामर्थ्य रहता है कि किसी दूसरेकी भी सहायता करे। जो इसी प्रकार उदयोन्मुख है, निरामय हो रहा है, जीवन के अन्तस्पर्श के लिए उत्सुक है, उसे यही आत्मतत्त्व प्रेरणा दिलाता है, प्रोत्साहित करता है, सहयोग के लिए हाथ बढ़ाता है। अपनी महत्ता तथा तेजके कारण अन्य व्यर्थ बातोंको दूर हटाकर केवल स्वसामर्थ्य तथा प्रामाण्य पर जीवन ऊपर उठाता है। यह महिमान, यह श्रेष्ठता कहाँ प्राप्त होगी ? वह जहाँसे संभव है, उसकी ओर अवधान देना नितांत आवश्यक है। अपना मूल्य, अपनी कीमत कोई पराया आदमी

नहीं कर सकता, कोई पराया तत्त्व भी वह नहीं पहचानता उसके लिए अपनेको ही आत्मसत्तामें डूबोना चाहिए। वहीं स्थिर होना चाहिए। शब्दकी अगाधता, उसकी अर्थवत्ता, उसका अनुभव वस्तुतः प्रत्ययकारितामें है। यह प्रत्ययकारिता जिसे प्राप्त है वही अक्षर है, अमर है। ऐसेको ही आत्मरूप में अधिष्ठान है। आत्मवाचक वही हो सकता है, वही नामधारक है। देहरूप गृहमें यही दीप है। यह अक्षरत्व, आत्मीयता का स्नेह दे देता है। फिर स्नेहपूर्ण दीप प्रज्वलित रहता है। इस प्रज्वलित दीपका प्रकाश निरन्तर रहना चाहिए। ऐसी अवस्थामें ही जीवन प्रकाशमान है, प्रत्ययपूर्ण है। उसमें आत्मतेज संपन्न चैतन्य, जो कि स्वतःसिद्ध है, जीवदशामें उत्साह पैदा करता है। शिवरूप होनेके लिए उत्सुकता बढाता है। वह महत्पद, वह शिवस्वरूपमें ऐक्य (याने साध्यही सिद्ध हुआ, इस प्रकार) कराने को अनुष्ठान कर्तव्य है। किसी बीमारको औषधि देकर उसमें उत्साह धैर्य निर्माण करने के ऐवज में आलस्य बढानेवाली दवा देकर क्या लाभ ? उससे उसकी बीमारी कैसे हटेगी ? इस अवस्था को मूढ़ताही कहना चाहिए। निसर्गसिद्ध नियम के विरुद्धही यह बर्ताव है। मनुष्य की देह धारणा का हेतु यहाँ असफल रहेगा। यह संमोहन बुद्धिको फँसाता रहेगा। अतः जीवनप्रद उत्साह, धर्मप्रभावन धारणाशक्ति, कर्तव्य के प्रति निश्चित निष्ठा आदिकी नितांत आवश्यकता यहाँ रहेगी। अन्यथा यहाँ जीवन संमोहित होगा, ज्ञानविहीन रहेगा, आत्मबल को खो जायेगा। प्रत्यक्ष

जो विद्यमान है, देहमें स्थित है, स्वतःसिद्ध तथा आत्मसत्ता संपन्न है, उसेही अपनी देहमें सर्वत्र, कणकण में अणुरेणु में व्याप्त करके, उसकी उपयोगिता का लाभ उठाकर उसे जीवन में अनुभूत करते रहना चाहिए। इसीसे ही हम उसकी सिद्धता का परिचय पा सकेंगे, अपना भी परिचय पावेंगे। फिर मनुष्य की सार्थकता दूर नहीं रहेगी। जिसके पास यह दृढता नहीं, जो इस धारणा को अपनाने में हिचकिचाता है, जो आत्मसत्ता में श्रद्धावान् नहीं उसका मन पहचानकर प्रकृति उसे सचमुच अन्यत्र खिचती है। वह अन्तरंग का अधिकारी नहीं हो सकता। वस्तुतः नामाक्षर की संपन्नता इतनी श्रेष्ठ है कि वह मानो जीवदशा पर सत्ताका प्रयोग करनेवाला, पराकाया प्रवेश का सामर्थ्य प्राप्त सिद्धान्तही है। उसके अनन्यसाधारण महत्त्वको जो नहीं देखता वह सचमुच अन्धा है। जीवन की सगुणता का मुख उस शब्दका अधिष्ठान है। वहीं उसकी सत्ता है, विद्यमानता है। मुखमें ही शब्दोच्चार है, नामधारणा है। वह भी वैखरीसे लेकर परा तक हो जानेसे हृदयस्थ हो जाती है। ऐसे अक्षर की सत्ता का क्या कहना? उसके गहनगूढ़ सामर्थ्य का पता चलनेपर भी जो अश्रद्ध है, उसके दुर्भाग्य को कोई पलट नही सकता। मनके द्वारा इस अक्षरत्व का साक्षात्कार कर लेना चाहिए। पर यह तब संभव है जब मन निःसंकल्प हो और वह अपनी अन्तर्मुखता बनाये हो। अन्यथा उस बहिर्मुख मनमें न शब्दसामर्थ्य की सत्ता है, न अक्षरत्व आभास तक। वहाँ वासनाओं का अनियन्त्रित विलास

है, जीवन के उपभोग की नित्यनूतन कल्पनाएं हैं। वहाँसे दबकर आत्मा सचमुच ओझल हो जाती है। फिर मानवी जीवन 'श्वा' के समान, अर्थहीन, भावशून्य है। कामना तथा वासनाओंका ही प्रभाव दीख पडता है। उनके श्वासोच्छ्वास उन्हींके लिए होते हैं जहाँ भोगलिप्सा के सिवा और कुछ नहीं। सगुणरूपता होनेपर भी वह सगुणता अपनी गुणात्मकता का सद्गुण वहाँ प्रकट नहीं करती। त्रिगुणातीत होनेकी क्षमता हैही नहीं। सगुणताही चुरायी गयी। चित्तकी बहिर्मुखता अन्तर्गत रमणीयता से वंचित रखनी है। जीवन का अन्तर्गत सौंदर्य वस्तुतः आत्मीयता का अनन्यसाधारण विलास है। वहाँ देवत्व की सुप्रतिष्ठा है, जीवन की सच्ची सत्ता, सौंदर्य तथा आनन्द इस रमणीयतामें सहजसिद्ध है। जो केवली बाहरी वृत्तिसे देखता है वह इस अनूठे लाभसे वंचित रहता है। उसके लिए उसका दैवही बाँधा गया है। देवत्वको ही यहाँ छिपाया गया। वस्तुतः यह संपूर्ण ऐश्वर्य, प्रकृतिगत या आत्मगत सौंदर्य, उसी ईश्वरत्वका ही परिचायक है। किंतु जो बहिर्मुख दृष्टिसे देखता है उसके जीवन में भी केवल प्राकृतिक धारणा है जो अन्तस्तल में छिपे हुए ईश्वरभाव को ढँकाये रखती है। वहाँ प्राकृतिक भाव एकप्रकार आवरणसा हो जाता है और अन्दर आत्मीयता बेचैन रहती है। फिर भौतिक संपन्नता की प्यास है, उसके पीछे दौडता है, भोगमें डूब जाता है। वहाँ ज्ञानलालसा का उदय कहाँ होगा? मनमें इसी बहिर्गत जीवन का मृगजल है, जो वासनाओं की प्यास

बुझाने की चेष्टा करता है। उस आकारहीन, मायामय मृगजल के पीछे मानव घसीटता जाता है, तृप्ति चाहता है, सुख मानता है और अपनेही किये कराये पर रोता है। यह सर्वथा अभागीपन है। बुद्धितत्वका बाल्यही यहाँ स्पष्ट है। बुद्धिका बाल्यही यहाँ शबलरूप दिखलाता है। विश्वमें या देहमें बुद्धि की महत्ता अनन्यसाधारण है। ज्ञानकी वह वाहक होनेकी पात्रता रखती है। उसके विशुद्ध रूपमें आत्मनिश्चय की धारणा उसमेंही स्थिर होजाती है। उसकी तेजस्विता अवर्णनीय है। परन्तु वह अन्तमें प्राकृतिक है। प्रकृतिजन्य गुणोंका उसपर असर हो सकता है। परिणामस्वरूप उसकी धारणा भी कभी कभी निर्बुद्धसी हो ज़ाती है। वहाँ आत्मदर्शन का योग नहीं होता। जब बुद्धिही हीनबल, शबल हो जाती है तब उसका निश्चय प्राकृतिक हो जाता है। उसकी दृष्टिसे आत्म-सत्ता ओझल रहती है। विषयों का लुभावना विलास उसे मोहित करता है। फिर उसके द्वारा सुखका निश्चय क्या होगा ? वह तो विषय सुखोंको ही अपनायेगी। इस प्रकार अपक्वता, अमांशही निर्माण हो जाती है जो मनःस्थैर्य को चंचल बना देता है। अस्थिर मन संकल्पों के झंझट में गोते खाता है। चकराता है। अतः मायाका स्वभाव भी समझ लेना चाहिए। उसकी प्राकृतिक धारणा को भी ज्ञात कर लेना चाहिए। उसकी स्वभाविक प्रेरणा समझलेनी चाहिए, जिससे हम उसके चंगुल में नहीं फँसेंगे। फिर विषयों की वासना मृत्युके समान होगी। उसके प्रति विराग निर्माण

होगा। हाँ कुछ जरूर कहेंगे कि यह अमृतत्व और क्या है ? एक जीवन से मृत्यु ही ! हाँ प्राकृतिक जीवन से यहाँ मृत्यु है किंतु आत्मिक जीवन का प्रभात है। आत्मसंपन्न, बलवान तथा सर्वांगसुन्दर योगसाधना का परमोत्कर्ष इसी अमृतमय जीवन में होता है, जहाँ विषयों का कीचड नहीं, गन्दगी नहीं, प्यास नहीं, बुराई नहीं। सभी विकारों से अलिप्त रहकर भी सुखानन्द का स्रोत अपनी पूरी शक्तिसे अन्तःकरण को सदा भर देता है। उसमें फिर कमी नहीं। अन्यत्र यह कदापि संभव नहीं। जब मायिक जीवन समाप्त होता है, तब चाहे विषय आक्रोश करें। उनका रंजन करना मायाका काम है। जीवन से माया हट जानेपर विषयों का आधार नष्टसा हो जाता है। इसी लिए मायाका भी विस्तार देखना आवश्यक होता है। उसका पूरा ज्ञान साधनामें भ्रम नहीं निर्माण करेगा। जो इससे ज्ञात नहीं रहता उसे मायाकी भूलभूलैयामें फँसने की नौबत आती है। इस पृथ्वीतुल्य देहकी वासना-प्राबल्य के कारण सर्वथा हानि हो जाती है। मनकी विद्धता सर्वथा बाधक हो जाती है। फिर उस मायाके यथार्थ ज्ञानसे जीवभाव उस शांत, स्थिर आत्मतत्त्व की ही प्रार्थना करता है। बुद्धि आँखेंही मूँदी जाती हैं और अर्थ, विषय, वासना, देह आदिके बारेमें तारतम्ययुक्त ज्ञान हो जाता है, जो ज्ञानसत्ता की महत्ता को पहचानकर बुद्धिको स्वाधीन कर लेता है, प्राकृतिक विषयों से निर्लेप रखता है।

यह सब बुद्धितत्त्व का ही प्राबल्य है। जब बुद्धि अपनी

महत्ताको बढाना चाहती है तब उसकी अहंमन्यता स्पष्ट दीख पडती है। वह अपने को बहुतही होशियार समझती है। अपने को महत्त्व देते हुए वह अपने को पंडितमन्य बना देती है। जब तक उसके द्वारा इस देहके तत्त्वोंसे मुकाबला है, तब तक उसका महत्त्व ठीक रहता है। किंतु जब देहसे अतीत उस आत्मतत्त्व के साथ प्रसंग है तब उसका बडप्पन ऊपरी प्रतीत होता है। देहके बारेमें उसकी बातें चलती हैं तब तक उसका वक्तव्य ठीक है, किंतु आत्माके संबंध में भी जब वह बकने लगती है तब वह कथन सर्वथा एकदेशीय तथा अहंमन्यता का हो जाता है। उसके कथन में जो वैय्यर्थ रहता है उसका प्रत्यय सभीको आ जाता है, साथही वह भी समझ लेती है कि कुछ गडबडीसी हो रही है। अन्यथा वह स्वयं अपनेही वक्तव्य का विविध विलास देखने में दंग है। विषयों की निष्ठा कुछ कम नहीं होती। वह श्रवणों की सुभगता समझ सकती है और उसके अनुसार अपना चातुर्य भी दिखलाना चाहती है। किंतु यह भी कभी संभव होता है कि उस परतत्त्व का प्रकाश कुछ हद्‌तक उसे अन्तर्मुख बनाने का प्रयत्न करता है। उसके सामने जीवन का तथा विश्वसंभावन का विज्ञान साकार किया जाता है। उसका अपना स्थान निश्चित करने का प्रयास होता है। उस समय यह भी अपनी भूल हो सके तो पहचानती है। वहाँ परतत्त्व, उसकी आत्मीयता तथा परायेपन, अन्य विषयोंका स्थान, वहाँ अवधान-अनवधान, सामरस्य स्थिरता तथा शरीर धारणा आदिके

बारेमें एक विशाल आलेख उसके सामने उपस्थित हो जाता है। तब कहीं वह समझ पाती है कि इसमें उसका स्थान क्या है ? वह अपने पुराने अनुभव का आधार ढूँढती है। अनुभूति का बीज यहाँ बोया जाता है और स्थिरता का विचार दृढ होता है। वही बीज अंकुरित हुआ ज्ञानदेह को लक्ष्य करता है। इस प्राकृतिक देहके अन्तर्गत ज्ञानदेह की स्थिति है, जो अपार्थिव है और केवल ज्ञानगम्य है। जब उसका ध्यान इस ओर जाता है तब उसके वक्तव्य की चहलपहल नहीं रहती। उसकी अन्तर्मुखता अधिक बढ़ती है। उसका विस्तार ज्ञानके कारण अपनेमें संकुचित होने लगता है, जिससे वह विस्तारही एक प्रकार बेचैन हो उठता है। क्योंकि उसे बुद्धिके बकने की आदत रहती है। फिर पुनः प्रयत्न होते हैं, बुद्धिका भौतिक विषयों की ओर अवधान हो जानेके लिए प्रयत्न होते हैं, किंतु इस बार बुद्धि ज्ञाननिष्ठा की ओर झुकी रहती है। उसे ज्ञानबीज की भी कुछ पहचान जरूर हो जाती है। कुछ प्रमाण में सही वह अपने कर्तव्यको, अपनी ज्ञानशक्ति को तथा अन्तर्निष्ठा को ज्ञात कर लेती है। इसका प्रभाव देहधारणा पर जरूर हो जाता है। देहधारणा भी मानो प्रमाणित हो जाती है, उसके महत् को विशिष्ट मर्यादा आ जाती है। पार्थीव जीवन से सटकर रहने की बुद्धि की शक्ति इस प्रकार अन्तर्लीन हो जाती है। उसका यह बदल उसे जरूर उपयुक्त हो जाता है। देहमें ही उस परतत्त्व का अस्तित्व है, उसके लिए सैरवैर अन्यत्र भटकना अनावश्यक तथा अर्थहीन है।

इसी दृढ़ निश्चय को बुद्धि आ जाती है। फिर उसकी पंडितमन्यता अपने आप दूर हो जाती है या वह स्वयं उसे दूर ढकेलती है। पहले पहल उसके द्वारा यही प्रयत्न होता है कि जिससे यह अहंता हट जाय। उसके अनुकूल बर्ताव, चलना, ऊठना, बैठनाही क्या सभी प्राकृतिक व्यवहार हुआ करते हैं। अन्तःकरण के विविध भावों, विकारों, विचारों तथा मनकी अनेकविध कलाओं को पहचानने में वह व्यस्त रहती है। वहीं स्थिरता पानेका उसका प्रयत्न रहता है। परन्तु बुद्धिका यह घेर, उसके महत् का यह आत्यंतिक विस्तार उसके प्रयत्नों में भी बाधा डालता है। व्यक्ति, वक्तव्य, आत्मतत्त्व तथा सत्ता आदिके संबंध में यथार्थ ज्ञानकी उपलब्धि होनेके लिए केवल प्रयत्नही पर्याप्त नहीं होते। बुद्धि की अहन्ता यद्यपि घटने लगती है तो भी उसके प्रयत्न उसके अन्तरंग के अत्यन्त सूक्ष्म अहन्ता के तरंग हो जाते हैं। और इसमें उसकी ज्ञाननिष्ठा, ज्ञानकी अनुपलब्धि के कारण फिर चलित होती है। वह अकेली इन सभी बातोंका बोझ नहीं उठा सकती। वह चाहती है कि अकेलीही इस रास्तेके पार करूँ पर वह असंभव सा हो जाता है। उसका बुद्धिसत्वही लूटा जाता है। वह अपनी अंतर्मुखतासे वंचित हो जाती है। एक असीम उदासी आ जाती है। वह अपनी दुर्बलता पर रो पडती है। उस ज्ञानदेह में स्थिर होनेकी पात्रता न होनेके कारण फिर वह उसी पांडित्य की ओर झुकती है। उसके सभी प्रयत्न मनःसंकल्पों के समान हुआ करते हैं, जिन्हें असली सत्ता नहीं

है। वह मानो मनको ही ज्ञात कराती है। किंतु मनकी बात क्या कही जाय? वह तो अतिविलक्षण है। उसके संकल्प विकल्पों को लेकरही हुआ करते हैं। फिर वहाँ स्थिरता कहाँ से होगी? मनका स्वभाव इस प्रकार अत्यन्त अस्थिर है। जब वह अपनी विकारिता के कारण दब जाता है तब बुद्धिको आधार कहाँ रहा? बुद्धिके अन्तरंग में मौलिक परिवर्तन होने लगता है। वह सचमुच अत्यन्त दीन बन जाती है। अमृततत्त्वबीजकी उसे जो जानकारी है, वह केवल कुछ प्रमाण तक। पूरे रूपमें वह उसे नहीं पाती। साथही उसकी जानकारी है, साक्षात्कार नहीं। ज्ञान और जानकारी में अंतर (फरक) है। ज्ञान प्रत्यक्ष कार्यरूप है, स्वयंसिद्ध है तो जानकारी परावलंबन युक्त है। अतः बुद्धिका प्रयत्न परिपूर्ण सफलता नहीं पाता। इससे वह फिर फिर प्रयत्न को उत्सुक होती है और वह प्रयत्न ही उसे प्रियसा लगता है। वह यद्यपि अभ्यास-योग की आदी नहीं है, तो भी वह प्रयत्न उसे बहुतही प्रिय लगता है। वहाँ प्रयत्नों के कष्ट के कारण वह अत्यन्त क्षीणसी, क्वचित् अत्यन्त उत्सुक, क्वचित अतिगंभीर, दयावन्त, करुण गम्भीर हो जाती है। अन्तःकरण का आक्रन्दन उसे एक प्रकार अतिनम्र बना देता है। अतिलीनता आजाती है, देहकी धारणा भी अहन्ता का ऐंठना छोड देती है। शरीर तथा मन, बुद्धि तथा अहंकार आदिकी नम्रता यहाँ पराकाष्ठा को पहुँचती है। जगत् के यच्चयावत् चराचर को वह वंद्य समझने लगती है। उसके अन्तःकरण में यह दीनता आ जाती है और वह

सभी को मन:पूर्वक आशीर्वाद देती है। अपनी शुभेच्छा प्रकट करती है। सभी प्राणीमात्रों के प्रति उसके मनमें आदर निर्माण हो जाता है तथा वह सभीके प्रति अत्यन्त आदरयुक्त होकर नम्र हो जाती है। उन सभीको वह अत्यन्त भाग्यवान समझती है और विलक्षण सुहृदता–सौहार्द–निर्माण होता है। उनके प्रति विलक्षण अनुकंपा, प्रेम, दयार्द्रता निर्माण हो जाती है। उसके अन्तर में यह अनूठा बदल हो जाता है। ये सभी प्राणी उसे अत्यन्त प्रिय लगते हैं। विश्वरूप आत्मौपम्य की भावना उदित हो जानेसे उसका भाग्यही खुल जाता है। वहिर्जगत में जो एकात्मकता का अनुभव वह करती है, उसके कारण उसे अन्त:स्थित आत्माकी आवाज मानो सुनायी देती है। अपने स्वभाव भाव का मूलरूप वह देखने को उत्सुक हो जाती है। फिर उसकी बुद्धिगम्यता अपनाही रूप निहारती हुई ज्ञात कर लेती है। अपनीही स्थिति को प्राप्त हो जाती है। फिर महत्‌रूपमें अधिष्ठित आत्मसत्ता का सर्वगत प्रेम प्रकट हो जाता है। जीवन के विविध तत्त्वोंका सुन्दर संघात है मनुष्यत्व। विविध गुणोंका, गणोंका तथा मौलिकता का परिचय इसी मनुष्यत्व में है। यह परमार्थसाधना का पंथ है जहाँ परमात्मदर्शन संभव है। अत: बुद्धि के द्वारा इस मनुष्य की आत्मसत्ता का–मनुष्यत्व का परिचय कराया जाता है। जहाँ वह आत्मदेवता मनुष्यत्वको, उसके आधारभूत बुद्धितत्त्वको, महत्‌ को परिलक्षितसा करता है। उसकी दयार्द्र दृष्टि, उसकी कृपा बुद्धिमें परमसामर्थ्य ला देती है। फिर उसे लगता है कि

वह देवदयानिधि, वह बुद्धिनाथ सर्वथा अपनासा हो गया है। वह कोई आत्मीय बन चुका है। ऐसी अवस्था में बुद्धि स्वयं देवतारूप बन जाती है। उसने अपने स्वामीको, अपनी आत्माको ही जागृत किया है। फिर वह स्वयं देवमान्य हो गयी। अब अहंमन्य नहीं रही। उसके अन्तर में देवता जागृत हुआ। देव प्रतिष्ठा हुई। बहुत दिनोंकी नींदके बादही मानो वह आत्मदेवता प्रसन्न होकर जाग उठा। बुद्धिकी अहंमन्यता ही उसको कारण थी। किंतु जब वह स्वयं नम्र, लीन हो जानेके कारण देवताभाव की जागृति हो गयी है। वहाँ बुद्धि का ज्ञानमय प्रदीप प्रज्वलित हो गया है। वहाँ सर्वमान्य प्रेम उदित होता है। वह प्रेम वह आस्था वस्तुतः अतिरम्यरूप सद्‌गुरु चरणों का प्रसाद है। श्रीगुरु के चरणोंकाही वह प्रभाव है कि उस परमप्रेम की प्राप्ति सर्वमान्यता का महत्त्व हो। मनुष्यमात्र इस बुद्धिके परमवैभव को श्रीगुरु की कृपाका ही परिणाम समझता है और वह सही है। श्रीगुरु की भक्ति सर्वथा सफल हो जाती है। बुद्धिकी निष्ठा केवल यहीं सफल है। अतिगंभीर, अतिमहान्, सन्मानयुक्त, प्रेममय जीवन का आधारदेवता है श्रीगुरु का परमपावन चरण! वहाँ हरक्षण, हर जगह अनुभव होनेवाला चित्त का चांचल्य, मनका विघटन या चित्तकी विमनस्कता आदिको हटाया जाता है और वहाँ सचमुच देवतादर्शन, तीर्थदर्शन का परमसौभाग्यसा प्राप्त हो जाता है। मनुष्य का प्रपंच, उसका संसार सुखमय, आत्मनिष्ठसा होकर वह सर्वथा स्थिर तथा निष्ठावान् हो

जाता है। यही प्रार्थना प्रत्येक जीवमात्र के द्वारा श्रीगुरु के चरणों में की जाती है। उनके द्वारा यही योगदान दिया जाय। उनका प्रसाद इस जीवन को सदैव प्रसन्न बनाता रहे। मनुष्य-जन्मकी सफलता प्राप्त होकर, कर्तव्य का अनुष्ठान निरन्तर होता रहे। वहाँ आत्यंतिक प्रेमका प्रादुर्भाव जीवमात्र के प्रति अनुकंपा, ईश्वर के प्रति श्रद्धापूर्ण निष्ठा तथा ज्ञान पूर्ण भक्ति की उत्कटता निर्माण हो। आखिर में यह बुद्धिप्रभाव अपनी योग्यता को अपनाता है। फिर अगला प्रवास शुद्धसत्त्व के उपस्थिति में सुकर हो जाता है। वहाँ जीवभाव का सत्त्व प्रकट हो जाता है। बुद्धि की सखी जो आत्मा वह मित्रता को बढ़ाने को उत्सुक रहती है। उसके द्वारा बुद्धिको हितकर उपदेश प्राप्त है। प्रकृतिमाताका विलास वह समझा देती है और साथही अपनी ज्ञानमयता के कारण उसको आवृत्त कर सकती है। प्रकृति सुदृढता सचमुच आरोग्य भवन है। उसको विकार नहीं होते। उसमें सहजसिद्ध आरोग्य है तथा स्वरूप सौंदर्य भी। वहाँ उसी परमतत्त्व का लुभावना प्राकृतिक विलास है। ईश्वरी महामाया को अधिष्ठित करते हुए, दिव्य जीवन का आविष्कार प्राकृतिक रूपोंमें सिद्ध रहता है। मानो किसी मनस्विती का तेजबलसंपन्न, सुन्दरतम स्वरूप यहाँ साकार हो चुका हो। परतत्त्वस्पर्शी विलास के नित्यनूतन आविष्कार अपनी उत्तमत्ता का परिचय दिलाते हैं। साथही वहाँ प्राणीमात्रों में भी यही सत्ताचैतन्य अपनी यथार्थता का परिचय दे देता है। सजीव तथा निर्जीव चराचरमें उस

एकही परमात्मसंवेदना में बाँधा गया है। उसकी एकात्मकता का उद्घोष करते हुए वह प्राकृतिक जीवन गूँज उठता है। उसको अनुभव करनेपर यह स्पष्टसा प्रतीत होता है कि वहाँ यह जो उपक्रमयुक्त उपयोजन है वह मानो कर्तव्य की कुशलता को आवाहन करता है, ज्ञानबीज को स्थिरता देता है, उसके पोषण की ओर ध्यान देता है। वहीं स्थिरता अपनाने का सन्देश अनुस्यूत है। फिर उसीमें रम जाना, उसीमें दंग होना तथा एकात्म अनुभूति से शांतिस्नेह की दिशा व्यक्त कराना यही कर्तव्यमात्र हो जाता है। दिनक्रम इसीमें परिपूर्ण रहता है। न वहाँ उदासी आती है न निराशा। ज्ञाननिष्ठा का अन्तःस्रोत अमृतस्रावी बन समूचे जीवन को अमर बना देता है। अमरत्वही वहाँ प्रसन्न है। योगयुक्त कर्तव्यानुष्ठान के कारण वहाँ अमृतत्त्व की धारणा स्थिर है। वह एक योगांग बन जाता है। वही बुद्धिका मंडन है। वहाँ अहन्ता नहीं, नम्रता है। विलास की विकारिता नहीं, जीवन की अन्तर्मुखता है। आत्मसामर्थ्य में जो मूलभूत तत्त्व निहित है उसकीही उपासना यहाँ निरन्तर हो जाती है। इन्द्रियों के विषय यहाँ महत्त्वहीन हो जाते हैं। विषयों का सान्निध्य भी वहाँ विशेष अभिरुचि नहीं निर्माण करता। क्योंकि यहाँ आत्मीयता की माधुरी अनुभव की जाती है। वहाँ सुखसाधना हो जाती है किंतु वह देहको सुव्यवस्थित, सुगठित करने के लिए। वह एक अभ्यासयोग है। अतः विषयों का जो महिमान है, उनकी जो महत्ता है वह निष्ठायुक्त अभ्यास के कारणही

दूर हो जाती है। उससे मार्ग सरल हुआ, विकार नहीं रहा, डगर डगर भर गयो। रजोयुक्त कर्मोंका वैविध्य तथा वैचित्र्य, उनका मिलाप केवल ज्ञानकी माधुरी बढा देनेके लिए है। उसके द्वारा ज्ञानयोग का अभ्यास हो जाता है। इस योगयुक्त जीवन में ज्ञानदेह को आकार प्राप्त हो जाता है, उसकी स्थिरता, सत्ता स्पष्ट लक्षित हो जाती है। जीवन ज्ञानसंपन्न हो जाता है। उसका रंगरूप, उसकी मौलिकता तथा स्थिरता जीवन को निःभ्रांत बना देती है, वहाँ निःशंक जीवन की ज्ञानरूपता है। फिर मनुष्य ज्ञानमें ही मग्न रहता है। अपने स्वभावको हो महत्ता प्रदान करके जीवन स्वतः सिद्ध आनन्द का प्रज्ञानघन विलास हो जाता है।

अतः बुद्धिका चांचल्य छोड देना चाहिए। उसकी सुनिश्चित धारणा होनी चाहिए। वह अपने बाल्यको, अपरिपक्वता को छोडकर जब स्थिर होगी तब उसके अन्तर में विकल्प नहीं होंगे। अन्यथा ऐहिकता या पारलौकिकता के बारेमें केवल चर्चाही छिड जायेगी। कुछ भी हाथ नहीं आयेगा। वहाँ ज्ञानांकुर नहीं पनपेंगे। ज्ञानकी निष्ठा भी नही रहेगी ॥१९३-१९९॥

जया काळज्वर अंगि बाणें। तो शीतोष्णें जैसिं नेणें।
अग्नि आणि चांदिणें। सरिसेंचि मानी ॥२००॥
तैसे सांच आणि लटिकें। विरुद्ध अथवा निकें।
संशयि तो नोळखे। हिताहित ॥२०१॥
हा रात्रिदिवस पाहि। जैसा जात्यंधा ठाउका नाहिं।
तैसें संशयि असतां कांहि। माना नये ॥२०२॥

म्हणोनि संशयाहूनि थोर। आणिक नाहिं पाप घोर।
या विनाशाची वागुर। प्राणियांसी ॥२०३॥
या कारणें तुंवा त्यजावा। आधि हाचि एक जिणावा।
जो ज्ञानाचिया अभावा। माजी असे ॥२०४॥
जैं अज्ञानाचे गडद पडे। तैं हा बहुवस मनिं वाढ़े।
म्हणोनि सर्वथा मार्ग मोडे। विश्वासाचा ॥२०५॥
हृदयीं हाचि न समाये। बुद्धि तें गिंवसोनि ठाये।
तेथे संशयात्मक होये। लोकत्रय ॥२०६॥

जिस पर कालरूप ज्वरने अमल किया है वह शीतोष्ण जानता नहीं। धूप और चांदनी दोनोंको वह समान मानता है ॥२००॥

सत्य और झूठ, हित तथा अहित जानने में वह संशयात्मा असमर्थ है ॥२०१॥

जन्मजात अन्धेको न दिन है न रात। वैसेही संशयात्मा का मन धोका, संकट या भला बुरा कुछ कुछ भी नहीं जान सकता ॥२०२॥

अतः संशयसे बढकर महत् पाप नहीं है। भूतमात्रों के लिए यही मानो विनाश का फाँसा है, जाल है ॥२०३॥

इसीलिये पहले पहल इस संशय को छोड दो। मन को व्यथित करनेवाले इसको ही प्रथम जीतना चाहिए। ज्ञानके अभाव में उसका अस्तित्व है ॥२०४॥

जैसे जैसे अज्ञान का गहन अन्धेरा फैलता है, वैसे वैसे वह-संशय-मनमें दृढता से अपने पैर फैलाताही रहता है

और विश्वास तथा श्रद्धा का मार्गही उखाडता है ।।२०५।।

हृदय में एकबार जमा हुआ यह संशय बादमें उसमें समाता नहीं। वह बढताही रहता है। बुद्धिको खोजकर वह उसे अपने अधीन कर लेता है। और बुद्धि भ्रांत होनेपर तोनों लोक सन्देहरूप बन जाते हैं ।।२०६।।

व्याख्या :– जीवन की द्वंद्वात्मकता विकारों के कारण है। जहाँ विकार है वहाँ उसके संवेदन प्रतिकूल या अनुकूल जरूर रहते हैं। विकारों का आधार हैं विषय। विषयों से विकारिता की ज्वाला धधक उठती है। विकारों को विषयों का आवाहन हो जाता है। विषयों के अधोन होकर मन तथा बुद्धि द्वंद्वात्मक अनुभूति में डूब जाती है। भलाबुरा, सच-झूठ, शीतोष्ण, आदिके समान द्वंद्वरूप, विकल्पयुक्त तथा विकल करनेवाली यह अनुभूति जीवन का विकासही रोकती है। यहाँ विलक्षणता यह है कि लोग अग्निको भी चन्द्रमा की ज्योत्स्ना के समास मानते हैं। जीवन में यह जरूर देखा जाता है कि मनुष्यदेह धारण करनेवाले संत भी होते हैं, सामान्य जीवभी रहते हैं। सन्तोंकी प्रेरणा परतत्त्वस्पर्शी रहती है तो सामान्य जीव अपने विकारोंमें, विषयोंमें दंग रहते हैं। उनका उत्थापन नहीं होता। संसारलालसा उनके मनमें बनी रहती है। ये दो भूमिकाएं सर्वथा अलग सत्ता रखती हैं। संतसज्जनों के द्वारा प्रेम, गुण, न्याय तथा प्रीति, दया और दर्शन, महत्त्व तथा मोहन, वात्सल्य और बीज, भक्ति तथा मातृभाव, देवत्व और वंद्यत्व, मानवता तथा आत्मीयता, तत्त्व और

जिज्ञासुत्व, धर्माचरण तथा लीला, सहजभाव और सौहृद, आत्मीयता तथा परमतसहिष्णुता, प्रपंच तथा परोपकार आदि की दिव्य सृष्टिही निर्माण हो जाती है। जहाँ जहाँ इन दैवी गुणोंका उत्कर्ष है वहाँ अस्तित्वका चिन्ह है किंतु सामान्य जीवोंके द्वारा ये गुण नहीं जाने जाते। वह ज्ञानदृष्टि का महात्म्य अनुभव नहीं किया जाता। फिर वहाँ अपनेही मनकी सत्ता रहती है, जो अहंमन्यता के सिवा और कुछ नहीं। यह अहन्ता मनुष्य के गुणोंको, उसके विकसनशीलता कोही दूर ढ़केल देती है। वहाँ शांत स्वभाव की नितांत जरूरी रहती है। द्वंद्वात्मक अनुभूति को अनुकूल या प्रतिकूल वेदना की तीव्रता निर्द्वंद्व होनेके लिए शांतता तथा स्थिरता आवश्यक है। अग्निके समान दाहक तथा ज्योत्स्ना के समान जो शीतल है, उस मनुष्य के स्वभावसिद्ध दैवी स्नेहसंपादन को ज्ञान कर लेनेके लिएही प्रयत्नशील होना चाहिए। वहाँ अपने स्वभाव की भलाई, शांतता तथा प्रीति, प्रयत्नपूर्वक स्थिर करनी चाहिए। वह तो एक ऐसी मित्रता हो, प्रेम हो या प्रीतिरसायन हो कि जो सभी दोषों को ढँकाकर केवल गुणोंकीही अभिवृद्धि करता रहेगा। निरलस तथा निष्ठायुक्त भावसे दोषोंकी ओर दुर्लक्ष करके आत्मीयताको ही बढाने का प्रयत्न होना चाहिए। जिस प्रकार पत्नी पतिपरायण होनेसे ही पतिव्रता मानी जाती है, उसी प्रकार आत्मनिष्ठा को महत्त्व देकर अन्य बातोंकी ओर दुर्लक्ष करनेवालाही निर्द्वंद्व अनुभूति का अधिकारी होगा। गुणोंकी महत्ता ध्यान में लेकर षड्उर्मियोंको–विकारों को

त्याग देनेका प्रयत्न यहाँ निःसंशय प्रशँसनीय होगा। वहाँ दृष्टिका योग ज्ञानपूर्ण होगा। ज्ञानगम्यता का रहस्य वहाँ प्रकट हो जाता है। जो जन्मसे ही अन्धा है, उसके लिए रात और दिन नहीं। उसने वह कभी अनुभव नहीं किया। किंतु जो ज्ञानवान है वह दिन और रात को जानता हुआ उसके अतीत होकर प्रकाशमयताका ही अखंड अनुभव करता है। उसकी अनुभूति केवल अन्धेकी नहीं, दृष्टियुक्त ज्ञानसंपन्न व्यक्ति की है। वह ज्ञानदृष्टिकी ही आंशिक प्राणकला है। फिर ज्ञान अज्ञान, संत-साधारणजन, बडप्पन-छुटपन, बल-दुर्बलत्व आदि जो द्वंद्व इस देहके आधारसेही रहते हैं वे समझे जाते हैं, उनकी सत्ता स्पष्ट होती है। अगर उसका ज्ञान हो जाय तो बुद्धिका भ्रम दूर नहीं होगा। यह अवस्था बुद्धिके लिए भाग्य की निश्चित नहीं। वस्तुतः मनुष्यजन्ममें बुद्धि का महत्त्व अनन्यसाधारण है। मनुष्य इसी कारण प्राणीजगत् में श्रेष्ठ समझा जाता है। मनुष्यदेहमें बुद्धिसे भी परे, अत्यन्त श्रेष्ठ तथा स्वयंसिद्ध आत्मतत्त्व है। उसका आविष्कार याने मनुष्यजन्म। किंतु यह बात अभ्यास पूर्वक ज्ञात करनी आवश्यक है। अगर यह अत्यन्त निगूढ तत्त्व अज्ञात रह जाय तो फिर बुद्धि अन्धी है। उसकी निष्ठा अभावरूप होगी। वह अपने अन्तरंग को नहीं पहचान सकेगी। उसका जन्म तथा उसका अधिकार दोनों भी निरर्थक बनेंगे। अतः यह आत्मनिष्ठा, आत्मतत्त्व पहचाना जाय जिससे मनुष्यत्व का सारसर्वस्व अपनाया जाएगा। तुम प्रेमको जाओगे। मनकी

रहस्यता स्पष्ट होगी। फिर उत्कट आनन्द की रसलीनता तुम अनुभव करो। यदि तुम्हें कोई मित्र न हो, तो फिर यह एकाकी जीवन बोझ होगा। स्वभाव की असामाजिकता कष्टदायक होगी। अतः प्रेम करते रहो। आत्मीयता फैलाव करो। अन्तर्बाह्य सृष्टि अपने प्रेमसे परिपूर्ण करो प्रेमयुक्त बातें करो। स्वभावकी नित्यताको, उसकी नामधारणा को तथा उस अक्षर आत्मतत्त्व को अपनाता जा। जीवदशा को जो भाव अपेक्षित होगा, वही उसे देता जा। फिर वहाँ दर्शन होगा, वही वन्दन है प्रेम है और स्वतःसिद्ध सहजता भी।

मन अत्यन्त चंचल है, अस्थिर है फिर भी भगवान द्वारा उसकी महत्ता वर्णन की गयी है। "सभी इन्द्रियों में जो महान् बलवत्तर है वही मन है, वह मैं हूँ" यह उन्होंने ही कहा है। मनके स्वभाव भिन्न भिन्न हुआ करते हैं, जैसेकि चंद्रमा की कलाअें। मनके अनेक संकल्प हैं, अनेक विकल्प भी। उसकी संशयात्मकता भी अवश्य विचारणीय रहती है। वह चन्द्रमा का वाहन है। चन्द्रमा में जिस प्रकार कलंक है, लांछन है, उसी प्रकार मनको भी लांछन है। उसकी विकारवशता तथा उसके संकल्प अत्यन्त वैचित्र्यपूर्ण रहते हैं। उसकी चंचलता सबसे बडा विकार है। अतः उसके वैगुण्य को ध्यान में रखकर उस सम्बन्ध में सचमुच संकोच हो जाना चाहिए। ये विकार आत्यन्तिक घातक होनेसे वे मनुष्यजीवन को असफल बना सकते हैं। अत्यन्त सावधान होकर मनका संयमन करना आवश्यक है अन्यथा उसके विकारों के चंगुल में फँस जानेमें

देर नहीं। इन पशुतुल्य विकारों के कारण मनुष्यत्वही धोखा खाता है। मनके विकारों के अधीन होकर जीवन में विपदाही आती रहेंगी। वह सहजही फन्देमें फँस जाता है। क्योंकि उसे विचाररूप औषधि प्राप्त नहीं होती। मनका सुनिश्चय होनेमें ही विचारप्रधान जीवन है। जहाँ वह संभव नहीं वहाँ विकारवशता उपस्थित है। विचार, वासना, विकार आदिको सैरवैर घुमाने की क्षमता इसी मनमें है। वहाँ आत्मतत्त्व का पोषण नहीं, आत्मीयता की आस्था नहीं। फिर इस पांचभौतिक देह की प्रसन्नता, जो एकात्मकता की अनुभूति में निहित है, कहाँसे प्राप्त होगी ? उस देहकी धारणा विकारवशता में सीमित है। यह देह वस्तुतः आत्मचैतन्य का निष्काम आविष्कार होना चाहिए। किंतु मनकी विकारावस्था में यह संभव नहीं। आत्मतत्त्व की उपेक्षा हो जानेसे बुद्धितत्त्व भी इसीके फँदेमें फँस जाता है। वासना की प्रतिष्ठा बढ़ाने में यह बुद्धि सहाय्यक होती है। अतः यह एक बडासा फँदा ही चारों ओर फैला हुआ रहता है। वहाँ भ्रम सबको सैरवैर घुमाता है। बुद्धि अंकुठित हो जाती है। एक विलक्षण मोह का आवरण सर्वत्र व्याप्त है। वस्तुतः जो आत्मदर्शन निःशंक रूपमें हो सकता है, उसके प्रति अकारण वाद निर्माण किए जाते हैं। इन वादों के कारण उसकी निःसंदिग्ध विद्यमानता भी वादयुक्त हो जाती है। बुद्धिका व्यामोह सर्वथा विनाश है। वहाँ ऋणमोचन नहीं। जीवन की सफलता का औत्सुक्य भी नहीं। आवश्यक है कि मनके फँदेमें न फँसकर बुद्धि स्थिर

रहे। वह अपनी शक्तिका, आत्मसत्ता के आविष्कार का विचार करे। सरस्वती की वाणीका ऋणमोचन किया जाय। वहाँ उसका नटना, उसका नाटच केवल आत्मदर्शन के कारण हो न कि मनकी विकारवशता के लिए। किंतु यह संभव नहीं होता। बुद्धि भी इधरउधर घूमती रहती है। अपनी यथार्थता को नहीं अपनाती। स्वाभाविक सिद्धता का स्वीकार नहीं करती, अन्तर्मुखता की ओर नहीं झुकती। जहाँ बुद्धिकी यह बात है, वहाँ मनके बारेमें क्या कहा जाय ? वह तो सर्वथा अस्थिर है। उसकी बाल्यता मशहूर है। अतः उसे उपमा भी चन्द्रमा की दी जाती है। उसकी कलाऐं, मनके विकार हैं। किंतु श्रीभगवान् शंकर के द्वारा उसे उनके मस्तक पर विराजमान होनेका भाग्य प्राप्त हुआ। क्या कहें कि उसकी विकारता, वाहन या लांछन इस प्रकार महत्त्वपूर्ण हो सका। श्री भगवान् शंकर ने उसे माथेपर चढा दिया इसलिए उसे बल प्राप्त हुआ। उनके बल के कारण स्यात् उसे माथेपर चढाया होगा। दोनों बातें भी सही हो सकती हैं। इसी लिये मन भी चन्द्रमा के समान दैवत बन गया। देवता हुआ। उसकी दैवी शक्ति स्वीकार की गयी। अतः मनकी मौलिकता समझमें लेना अत्यन्त आवश्यक है। उसका आदर स्वयं भगवान शंकरजी ने किया है। उसको पूरी तरह ज्ञात कर लेनेसे उसकी विकारवशता बहुत कम होगी, नहीं रहेगी। मन का ठीक ठीक संयमन हो सकेगा। उसके द्वार ऋणमोचन हो सकेगा। जीवभाव को आत्मरूप बनाने में वह प्रयत्नशील

होगा। कमसे कम बाधक नहीं होगा। अतः आवश्यक है कि अभावात्मक न रहें। तुम अपने भावबल को स्वीकार करो। यह भावबल आत्मिक सामर्थ्य का द्योतक है। आत्मनिष्ठा का वह प्रमाण है। आत्मसत्ता को अपनाने की चाह उसके द्वारा व्यक्त है। वहीं अक्षररूप देवतादर्शन होगा। वहाँ जीवन का गहनगूढ़ अर्थ स्पष्ट होगा। वही देवताभाव है। अतः एक क्षण के लिए भी उससे वंचित मत रहो। उसे भूलोमत। इस आत्मभाव को कदापि नहीं छोडना चाहिए। उसके अधीन रहकर जीवनका परमकल्याण है। वही भाव देवत्व में परिणत होता है। उसकी सहजता देवता की उपलब्धि है। अतः यह भावधन अत्यन्त श्रेष्ठ है। उसे आँखोंसे ओझल मत होने दो। इस भावधन को मत भूलो, इस भावकी विस्मृति मत होने दो। यही बार बार कहना है, उसकाही अनुष्ठान करते रहो।

वहीं उसको देवत्व प्राप्त होगा। उसको आँख, नाक, कान आदि अवयव प्राप्त होंगे। वह मनुष्यरूप होकर रहेगा। जिस प्यार से हम अपने मित्रसे बोलेंगे, उसी तरह वह देवता हमसे बात–चीत करता रहेगा। वह एक प्रीतियुक्त मनुष्यही तुम्हारे हितके लिए सदैव प्रयत्नशील होगा। वह तुम्हारा सच्चा आधार होगा। तुम्हारा सहज स्वाभाविक आत्मीय रहेगा। उसके अस्तित्व में शांति है, समाधान है, प्रेम है। उसके निःश्वास में अतिप्रचंड विश्वास का सामर्थ्य है। दैवका प्रबल तथा कष्टकारी भोग भी इस देवता के कारण रोका जाएगा, सहन किया जायेगा। उससे कुछ हानि नहीं होगी।

उसके द्वारा दुःखद दैव की दुर्दशा भी दूर हो जाएगी। दुर्दशा में वह विश्वासभाजन होगा। यहाँ अन्तःकरण विश्वात्मक है, विश्वात्मक सत्ताका व्यक्तिगत अन्तःकरण में एकात्मकता है। अतः वह देवतारूप है। अन्तःकरण में वह निरन्तर विद्यमान है। उसका नित्यदर्शन सुलभ है। उसका अधिष्ठान हृदय में सुप्रतिष्ठित है। उसके दर्शनसौख्य से मनकी प्रसन्नता नित्य बढती रहेगी, विकारवशता ओझल हो जाएगी, बुद्धि स्थिरता के कारण विश्वव्याप्त महत्से एकरूप होगी। ब्रह्मांड में व्याप्त विष्णुकी तरह देहमें स्थित बुद्धि में उसका आविर्भाव है, आविष्कार है। विष्णुमय जगत् तथा विष्णुमय बुद्धिकी अनुभूति अखंड है। वहाँ भक्तिका अनन्यसाधारण स्रोत निरन्तर बहता रहेगा। भक्तिही वहाँ भक्त होकर साकार हो गयी। संतता की धारणा वहाँ सिद्ध है। जगदंबा का रूपधारण करके वह भक्ति सभीको अपनी छायामें सुख देनेके लिए आविष्कृत हुई है ॥ २००-२०६ ॥

**योगसंन्यस्त कर्माणं ज्ञानसंछिन्न संशयम् ।**
**आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥४१॥**

हे धनंजय ! जिसने ज्ञानयोगद्वारा सभी कर्मोंको संन्यस्त किया–त्याग दिया। तथा ज्ञान के कारण जिसके सभी संशय नष्ट हुए हैं, जो आत्मज्ञानमें मस्त है, उन्हें कर्म किसी भी प्रकार बाधक नहीं होते।

ऐसा जरि थोरावे। तरि उपायें येके अंगवे।
जरि हातिं होय बरवें। ज्ञानखड्ग ॥२०७॥

तरि ज्ञानशस्त्रें तिखटें । निखळ हा निवटे ।
मग निःशेष खत फिटे । मानसीचें ।।२०८।।

अर्थ :- इस तरह यह बडा संशय यद्यपि बहुतही विस्तार पा चुका है, तो भी ज्ञानरूप खड्ग हाथमें हो तो उसे स्वाधीन किया जा सकता है ।

अत्यन्त तीक्ष्ण ऐसे ज्ञानरूप खड्गद्वारा यह पूरी तरह नष्ट होगा । संशयजन्य मानसिक दुःख-क्षोभ-पीडा-सब अपनेआप नष्ट हो जायेगा ।

व्याख्या :- अगर तुम्हारे मनमें निःसंशयता का उदय हुआ हो, मन सर्वथा निःसंदेह होकर ज्ञानरूप तथा स्वभावबल संपन्न हुआ हो तो ठीकही है, अन्यथा तुम्हें चाहिए कि उपर्युक्त मार्गका अनुसरण करो। उस मार्गका अनुसरण करते हुए तुम्हें स्वतःसिद्ध चैतन्य का जरूर साक्षात्कार होगा । तुम उसे निःसंशय अपनाओगे । जिससे तुम्हारे स्वभाव को भावबल की सहायता प्राप्त होगी । कदाचित यह संदेह निर्माण होगा कि क्या वह कर्मका फल नही ? किंतु यह सही नहीं । यद्यपि वह कर्मोंका अनुष्ठान है तो भी वहाँ कर्म नहीं हैं । क्योंकि वे कर्म, उनका अनुष्ठान सर्वथा उस अक्षरत्व के लिये है । उसके द्वारा ही कर्मोंका निराकरण होता है । कर्म नैष्कर्म्य में परिणत होते हैं । वहाँ कर्मोंके बारेमें अहन्ता नहीं, कर्तृत्वका अभिमान नहीं । वह सचमुच नैष्कर्म्ययोग है । अतः उस अक्षरत्व की उपासना करते जाओ । उसके भावोंमें स्थिर हो । उस नित्यसिद्ध स्वयंप्रज्ञ आत्मसत्ता में अपने को विलीन करो ।

अन्तर्मुख होते जाओ। वह तो देहमें स्थित है। बाहरी उपासना का आडंबर अनावश्यक है। इससे तुम अन्तर्मुख होकर, तुम्हें सच्ची विश्रांति प्राप्त होगी। कहने की यह सीमा है, इससे बढ़कर और कुछ नहीं कहा जा सकता। उसमें अनुशासित हो, वहाँकी शब्दमयता छोडकर उसके अन्तर्निहित भावोंको अपनाते जाओ। उसीमें तुम्हारा कल्याण है।

मनकी चंचलता तो उपर स्पष्ट की गई है। उसकी वासनाअें, विचार तथा इच्छाअें अत्यन्त तीव्रता से संघर्ष करती हैं। मनको अपने चंगुल में फँसाने का प्रयत्न कराती है। मनभी इस अवस्था में अत्यन्त उत्छृंखल हो जाता है। उसका संयमन होना कठीण हो जाता है। फिर उसके पास दुःखही दुःख रहता है। लकडी के या मिट्टीके टुकडे को भी छिद्र हुआ करते हैं। वे अतिसूक्ष्म छिद्र दिखाई नहीं देते। किंतु उनकी विद्यमानता अनुभव की जाती है। इसी कारण वहाँ आत्मतत्त्व की गति रुद्ध होती है। उसका व्यक्त स्वरूप नहीं दीख पडता। मिट्टीका या लकडी का जीवन इस प्रकार अंपचीकृतसा रहता है। पंचीकरण की पूर्णता, जो मनुष्यदेह में साकार है, वहाँ नहीं दीख पडती। वहाँ उसका आभास मात्र है। उस आभास को जब आत्मतत्त्वकी विद्यमानता के कारण समझने का प्रयत्न होता है तब वह अपनी अनेकता समझाता हुआ एकत्वको पाता है। उस अक्षरत्व की यह सीमा समझने योग्य है। सृष्टिमें सर्वत्र आत्मतत्त्व का विलास है किंतु उसके आविष्कार की मात्रामें अन्तर है। जो मनुष्य देहमें है, वह

मिट्टीमें या लकडी में नहीं। अतः जब मनभी अपनी वासनाओं के द्वारा उसकी गति रुद्ध करता है, तब वहाँ दुःख के सिवा और कुछ नहीं होगा। उस अव्यक्त परमात्मभाव का संनिवेश होनेके लिए ऐसे छिद्र अनुचित हैं। मनकी वासनाऐं इस प्रकार रुकावटसी हैं। अतः अक्षरत्व की उपासना के द्वारा, नामधारणा के अभ्यास से बुद्धिको तेजरूप बना देना आवश्यक है। उससे वासनाओं का अतिसूक्ष्म सूक्ष्म आकर्षण भी टूट जाय और मनमें, बुद्धिमें नामस्थैर्य प्राप्त हो। वासना सर्वथा विनाशकारी हो जाती हैं। इस देहपर उसका स्वामीत्व जैसा अधिकार रहता है। और दुर्भाग्यवश यह देहभी उसकी अंकित हो जाती है। मन इन्द्रियों के अधीन रहकर बुद्धिको अपने जालमें फँसाता है और यह संघात वासनाओं के झंझट में अपने को विलीन कर देता है। फिर उन्नयन की आशाही नहीं रहती। अतः बुद्धि के द्वारा उस अक्षरत्व की पहचान कर लेनेके बाद, उसकी यथार्थता, उसके स्वभाव के स्थायीभाव तथा अपने आचार प्रभाव स्पष्ट कर लें। उन्हें तीर्थ के समान पवित्र समझकर उनमेंही अपनी निष्ठाको स्थिर करो। संभव है कि इससे मनका विकीर्ण होना, विकारों के अधीन होना नहीं रहेगा। फिर मनका स्वभावधर्म, स्वधर्म अपने ब्राह्मण्य को अपनायेगा। अतः वह अक्षरात्मक नामरूप जब अपने अन्तःकरण में स्थैर्य पायेगा तब बुद्धिको सचमुच महानता प्राप्त होगी। उसमें किसी प्रकार तडपन नहीं रहेगी। विश्वास बलवत्तर होगा। फिर वह स्वभाव धर्म, कुलधर्म या कुलस्वामी

अपने अक्षरत्व के प्रभाव से पुरुषत्त्व को स्थैर्य दिलाकर, उस कुल को पावन करता है।

अतः यहाँ महात्म्य का प्रभाव स्थिर है। यहाँ का अनुशासन सर्वथा महत्लौकिक रूप हो जाता है। वह लोकोत्तर बन जाता है। वहाँ कुलस्वामी का प्रसाद प्राप्त हो जाता है। क्योंकि पतिव्रता धर्मके समान स्वभाव अपने संसारव्रत का परिपालन करता हैं। पुरुष के प्रति उसकी निष्ठा अक्षुण्ण बनी रहती है। वहाँ वात्सल्य, स्नेह तथा सौंदर्य मूर्तरूप है। ऐसे अनेक जन्म प्राप्त होनेपर भी वे बोझ नहीं होते। क्योंकि वे अत्यन्त प्रियसे होते हैं। वहाँ अपने स्वभावसामर्थ्य का प्रत्यय जागृत है। उसकी विद्यमानता का महत्त्व समझा जाता है। उसके जीवन का हेतु स्पष्ट रहता है और वह सफल भी होता है। पुरुषोत्तम का साक्षात्कार हो जानेसे किसी भी प्रकार के संकटों से मुकाबला करने का सामर्थ्य वहाँ प्राप्त है। शौर्य, धैर्य स्वतःसिद्ध है अतः मनभी निर्भय है। वेदोरूप निराकार निर्विकार ब्रह्मसत्ता को नामरूपात्मक अक्षरयुक्त सगुणता में आविष्कृत किया जाता है। वहाँ सगुणता गुणवान होकर मानो प्रियदर्शनही हो जाती है। परमात्मभाव का परमप्रसाद उसके रूपमें दिलाया जाता है। लोगोंकी प्रसन्नता बढाने के लिए उस प्रसादरूप परमेश्वर की उपासना श्रेयस्कर हो जाती है। फिर वहाँ स्थैर्य का, प्रसाद का प्रतिदान प्राप्त हो जाता है। अन्यथा मनके विकाररूप छिद्र उसे परमव्याकुल बना देते हैं। परतत्त्वस्पर्शका योगदान हो जानेपर वे क्षत

नष्ट होते हैं। व्याकुलता हट जाती है और सौंदर्य का सारसर्वस्व जैसा आत्मभाव प्रकट होता है। स्थिरता का प्रभाव हो जानेसे मनकी चंचलता नष्ट हो जाती है। अंतःकरण में चित्शक्ति का ही विलास है। बुद्धिकी महत्स्वरूप विशालता चित्तको चैतन्य में विलीन कर देती है। विविध विकारोंसे युक्त मन को आत्मभाव के कारण सामर्थ्य प्राप्त हो जाता है, वह इस जगत् के भारी बोझ सह सकता है। विकारों का सर्वस्वी उन्मूलन करके गुण–निर्गुण–सहज सगुण भावमें वह दंग रह जाता है। मनुष्यत्व की विशालता आकाश के समान हो जाती है, प्राकृतिक जीवन का व्यामोह नष्ट होकर प्रकृति भी पुरुष की संगिनी बनकर उसमें निष्ठायुक्त समर्पण कर देती है। इस देहको, इस चराचर जगत् को उस पुरुषतत्त्व का साक्षात्कार सचमुच महत् उपकार है। उसके स्पर्श के कारण जीवन बोझ नहीं, विलासही बन जाता है। उसमें सहजता है, नैष्कर्म्य है। जहाँ सहजविलास है वहाँ मन का विकास जरूर है। मनरूप वृक्ष का विकास यथाधर्म हो जाने से वह सहज स्वाभाविक रूपमें अपना फैलाव कर लेता है। उसको जो अवकाश प्राप्त है, उसमें वह प्रकृतिको ही परिपुष्ट करता हुआ फलता फूलता हुआ सर्वत्र आनन्द की घनी छाया देता है। धन, धान्य तथा फल फूलोंसे वह अपनी संपदा बढ़ाता है। मनकी प्रसन्नता, महानता, व्यापकता आदिसे वह वात्सल्ययुक्त सा होकर कुटुंबियों का आधार बन जाता है। उसके विशालकाय जीवनमें

जनहित के साथ उनके रंजन तथा प्रसन्नत्व को ओर पर्याप्त ध्यान रहता है। वहाँ उस घने वृक्षके लिए प्रकृतिमाता का वात्सल्य प्राप्त है, वहाँ संपदा है सहभाव है। उसके कारण सौंदर्य का अतिरम्य विलास व्यक्त होता है। परमनीति का बोध वहीं निहित है। मानो आकाश को अपनाता हुआ वह मन प्राणस्थैर्य को दृढ कराता है। उस स्वभाव की महिमा अकथनीय है। उसका चरमविकास वृक्षके रूपमें सुस्थिर है। जनवनरंजन का अभिधान उसे प्राप्त हो सकता है। अनेकोंका आश्रय होकर वह जीवन का वात्सल्य प्रकट करता है। चित्तका चैतन्यमय होना ज्ञान है। ज्ञान की असाधारण क्षमता का प्रत्यय यहाँ आ जाता है। उसकी धार तेज है। मनुष्यों के त्रिविध विकारों को वह अपने ज्ञानरूप तेज खड्ग के द्वारा तोड डालता है। उन्हें फिर कहीं आश्रय नहीं मिलता। विकारों की–वासनाओं की सर्वथा पराजय होती है। अपनी स्वाधीन संपदा का सामर्थ्य वहाँ प्रत्यक्ष होनेके कारण मन, बुद्धि आदि सब उस पुरुषतत्त्व के आधीन रहकर केवल पुरुषार्थ के लिए नैष्कर्म्ययोग का अनुष्ठान करने में दंग रहते हैं। वहाँ सर्वसमावेशक तथा सर्वसिद्धिप्रद उपाय सहजसिद्ध है। बहुतही बढ़ा हुआ और वर्धिष्णु विकार यहाँ सर्वथा उन्मूलित हो जाता है। चित्तकी चैतन्यमयता विकारों के नाशको समर्थ है। फिर सहजजीवन में व्याप्त मन निरतिशय सौंदर्य का आस्वाद लेता है। वहाँ सभी उपाय नैष्कर्म्ययुक्त होकर सौंदर्यको ही सुन्दर बना देते हैं। यहाँ मन अपनेमें लीन है,

वह विकारवश नहीं। अपने स्वभावको ही वह पा जाता है। अतः वह अक्षत्, अदुःखयुक्त, अशोकमय हो जाता है। कर्तव्य की रमणीयता वहाँ साकार हो जाती है। उसके अनुष्ठान के लिए मन लालायित रहता है। उस पुरुष के द्वारा उसका सहकार्य, योगदान ज्ञानरूप हो जाता है। उससे मनको तेज प्राप्त है। फिर असिधाराव्रत के समान, ज्ञानरूप तेजस्वी व्रत का अनुष्ठान शुरू होता है। वहाँ उस असीम का विदग्ध विलास है जहाँ वह ब्रह्मचैतन्य आत्मभूत होकर रम जाता है। फिर मनका मनपनहीं विलीन हो जाता है। मनोलय होनेके कारण अहन्ता का प्रादुर्भाव कहीं दीख नहीं पड़ता। स्वभावसिद्ध सहजता का वह स्थैर्य वहीं रममाण है। उसके द्वारा मनुष्य को हीनबल करनेवाला अस्थैर्य सर्वथा निर्मूल किया जाता है। विकारिता प्रभाव नष्ट हो जाता है। भूतत्त्वों को भूतत्त्वोंपर न्योछावर किया जाता है। अन्यथा उसका दबाव प्रभावकारी होकर इन्हीं पांचभौतिक विकारों का प्रभव संभव है। पांचभौतिक जीवन को इस प्रकार निस्तेज किया जाता है और आत्मिक सौंदर्य के विलासको, वह निष्ठावान जीवनयोग को संपन्न बनाया जाता है। ज्ञानरूप खड्ग के द्वारा यह पांचभौतिक प्रभाव दूर किया जाता है। वे अपने स्वभाव को पाते हैं, अनुचित दबाव नहीं होता। अतः वे स्वभाव के कारण सहभाव के, सहकार्य के होते हैं। उनका मौलिकरूप स्वभावगत तथा सहजस्वाभाविक हो जानेसे वहाँ प्रसन्नता है। ईशत्वका आविष्कार हो जाता है।

ईशस्वरूप अपने ईशत्वकोही मानो देखता हो। ईश्वरत्वही वहाँ ईश्वरद्वारा ईशत्व की प्राप्तिके लिए प्रवास करता है। ज्ञानरूप खड्ग की सुतीक्ष्णता वहाँ व्रतका महात्म्य बन जाती है। मनका दुःख उन्मूल हो जाता है। वहाँकी सुतीक्ष्णता जीवन के भेदभाव को छेद कर अपने वक्तव्यको, व्यवहार को तथा अनुष्ठानको सुतीक्ष्ण बना देती है। अतः उसके द्वारा विकारों तथा व्यामोह का विनाश हो जाता है।

इस प्रकार यह ज्ञानका स्वरूप अत्यन्त श्रवणमनोहर है, परम सुन्दर है। वहाँ स्वाभाविक रमणीयत्व है और सहज-सौंदर्य की सहजता स्थिर है। हे धनंजय! हे अर्जुन! यह जो कथा कही गयी है वह ज्ञानकी सीमा है। उससे बढ़कर और कुछ नहीं। यही वस्तुतः बुद्धिगम्य ज्ञानवार्ता है, शेष जो है वह अनुभूतिगम्यही, उसको कहना असंभव है। अतः तुम इसका अनुष्ठान करते रहो जिससे वह तुम्हारे जीवनमें एकरूप हो जाएगा। वहाँ ज्ञानसौंदर्य प्रकट हो जाएगा। उसका दर्शनीय तथा परमप्रेममय आविष्कार तुममें सिद्ध रहेगा। लोगोंके द्वारा तुम्हें विलक्षण आदर तथा सम्मान प्राप्त होगा क्योंकि वे तुम्हें देखकर भी प्रसन्न हो जायेंगे। उन्हें विलक्षण आल्हाद शांति प्राप्त होगी। अतः उस आत्मदर्शन का अनुसंधान चिरन्तन रूपमें रहे। उसी अनुष्ठान में तुम स्थिर हो ॥२०७-२०८॥

**तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।**
**छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत! ॥४२॥**

अतः अज्ञानतः जन्मा हुआ, हृदयमें स्थित यह आत्मविषयक

संशय, ज्ञानरूप खड्ग के द्वारा छिन्न कर दो और योग के द्वारा निष्काम आचरण करता जा। हे भारत! ऊठकर स्वधर्मरूप युद्ध के लिए अग्रसर हो।

या कारणें पार्था। उठि वेगा वरौता।
नाश करुनि हृदयस्था। संशयासि ।।२०९।।
ऐसे सर्वज्ञाचा बापु। श्रीकृष्ण ज्ञानदीपु।
तो म्हणतसे सकृपु। आइके राया ।।२१०।।
तया पूर्वापर बोलाचा। विचारूनि कुमर पंडूचा।
कैसा प्रश्न अवसरिचा। करिता होईल ।।२११।।

अर्थ :– अतः हे पार्थ! जल्दीसे उठ, खडा हो। हृदयस्थ संशय को नष्ट कर।

हे राजन्! हे धृतराष्ट्र, सुन ले। सर्वज्ञका भी जो पिता है, वह श्रीकृष्णरूप ज्ञानदीप–ज्ञानका ही प्रकाश- बडी कृपासे अर्जुनसे कह रहा है। श्री भगवान् के पूर्वापार कथन का विचार करते हुए श्री अर्जुनजी उससे फिर समयोचित प्रश्न पूछेंगे।

व्याख्या :– अतः हे भारत! हे पार्थ! इस मायाका आवेग जो तुमसे जोरजोर से संघर्ष करता रहा है, उसे दूर करो! प्रकृति के आवेगको, उसके विकारों को तथा उसके विषयोंको दूर करो। उनकी तीव्रता, उनका वेदना हटा दो। तुम्हारे अन्तःकरण में इस प्राकृतिक संशय की विलक्षण प्रतिष्ठा है। संशय के कारण व्यामोह है, विषयोंका आवाहन है। घर गृहस्थीने तुम्हारे मनमें आसन जमाया है। तुम समझते हो

कि इस प्रापंचिक उत्कर्ष के द्वाराही जीवन का सर्वश्रेष्ठ ज्ञान तुम्हें प्राप्त होगा। प्राकृतिक विलासितामें वह आत्मिक सौंदर्य छिपा है। किंतु यह समझने में तुम्हारी बडी भारी भूल है। जो मनुष्य का जन्म पाता है, वह क्या किसी दूसरे से मनुष्यत्व पा सकेगा? यह कितनी गलत कल्पना है। मनुष्यही मनुष्यत्वको अपना सकता है। इसलिये उसे स्वयं कष्ट उठाने पडते हैं। कोई दूसरा उसके लिए कुछ भी नहीं कर सकता। उसे अपने कोहीं पढाना चाहिए। अपनेको ही अपनी योग्यता लानेके लिए अनुष्ठान सा करना पडता है। अपनी महत्ता बढाने का प्रयास दूसरा कौन कर सकता है? हरेक को अपनी महत्ता के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए, साधना करनी चाहिए। अपने दोष आत्मनिरीक्षण के द्वारा ज्ञात कर लेने चाहिएं और उन्हें दूर करनेका भी प्रयत्न करना चाहिए। यह काम तुम्हारे लिए क्या कोई दूसरा कर सकता है? घर गृहस्थी, सत्ता, संपदा आदि बातें तुम्हें तुम्हारी मनुष्यता, उसके हेतु, ईशत्वकी प्राप्ति आदिको प्राप्त कराने में बिलकुल सहाय्यक नहीं होंगी। अगर यही तुम्हारी कल्पना हो तो वह गलत है। वह तुम्हारा भ्रम है, धोखा है। कर्तव्यप्रिय रहनेमेंही मनुष्यत्व है। मनुष्य देहका सच्चा अलंकार है पौरुष, पुरुषतत्व, पुरुषार्थ। जो कर्तव्य कर्मयुक्त है वही केवल देहको पोषण देते हुए ईश्वरत्व की अनुभूति में मग्न हो सकता है। उसे अपनी महत्ता प्राप्त है। अतः यह तुम्हेही करना होगा। दूसरा कोई नहीं कर सकता। अतः प्राकृतिक मोहसे दूर हटो! विरागयुक्त होकर

अपने कर्तव्यों को निष्काम बुद्धिसे करते रहो।

विकारोंमें व्यग्र हुए मनको सहज स्वाभाविक स्वतन्त्रता का वातावरण प्राप्त होना चाहिए। निसर्ग के नित्यनूतन रमणीय विलास में मनको जरा संचार करने दो। उसके बाद तुम्हारा अन्तःकरण उस सर्वसाक्षी अन्तरात्मा देहधारणा को मनुष्य के प्रेमको प्राप्त करायेगा। अन्तरात्मा की विभूति वहाँ विशालभाव धारण करेगी और उसके द्वारा अन्तःस्थ प्रेम मनुष्यमात्र के बारेमें, तथा चराचरमें एक विलक्षण आत्मीयता निर्माण करेगा। फिर अन्तर्गत प्रकृति का विकसन होगा, उससे नित्य निरामयता का प्रसाद प्राप्त होगा। जीवन के नित्ययज्ञ को जागृत रखते हुए इस देहकोही प्रकाशित करनेको अवसर प्राप्त होगा। वहाँ स्वभावसुन्दर नाम तथा रूप दोनोंकी सगुणता का त्रिगुणातीत अव्यक्तभाव देखकर फिर एक नैष्कर्म्य योगकाही अनुष्ठान होता रहेगा। वहाँ पुरुषार्थ की उपलब्धि होनेके कारण वही पुरुषतत्त्व तुम्हें नित्यप्रकाशदान देता रहेगा। तुम्हें वही स्थिर करेगा। प्रकृति तथा शरीर निरामयता पायेगी। स्वभाव में सौंदर्य आ जाएगा। मन विमुक्त होकर महानता में लीन होगा। इस देहकी हरेक क्रिया अत्यधिक वेधक होकर, वहाँ कर्तव्यपरायणता का साक्षात्कार होगा। उसेही मनुष्यत्व की तथा देवत्वकी प्राप्ति है। उन दोनोंमें एकात्मता अनुभव की जाएगी। भावनास्थैर्य का गंभीर अनुभव वहाँ विद्यमान रहेगा। स्वतःसिद्धता के प्रकाशकाही जो मन्दिर हैं, जहाँ प्रकाशरूप नन्दादीप प्रज्वलित

हैं, वहीं श्री भगवान् श्रीकृष्ण हैं। उनके द्वारा तेज का फैलाव चारों ओर हो रहा है। वह मानो सहजहंस का ज्ञानगृह है। उन्होंने ज्ञानदीप प्रज्वलित रखा है, सहज हंस के समान विचरण करते हुए वे ज्ञानकी दीप्तिसे चारों ओर प्रकाश फैलाते रहे हैं। वे स्वयंही ज्ञानदोप हैं। उन्होंने अत्यन्त कृपा करके श्री अर्जुनसे यह कहा है। उन्होंने उसे 'भारत', 'पंडुकुमर', 'पार्थ', जैसे आत्यंतिक स्नेहयुक्त शब्दोंसे संबोधित करके बडप्पन दिया। उसकी महत्ता बढायी। साथही वे स्वयं भी महिमामय रहें। वहीं श्री अर्जुनको भी समयोचित प्रश्न सूझा। उसने पहले पहल पूर्वपक्ष किया और बादमें उसके उत्तर में उत्तरपक्ष की योजना की। प्रश्नोंका निरसन करनेका यह सुखसंवाद हुआ। उसे सुनने के लिए देवभी लालायित हैं। श्री अर्जुनजी, जो पंडुपुत्र हैं, अब प्रश्न करेंगे ।।२०९-२११।।

ते कथेची संगति। भावाची संपत्ति।
रसाची उन्नति। म्हणपेल पुढां। ।।२१२।।

अर्थ :- संभाषण का पूर्वापर संबंध तथा संगति और भक्ति लक्षित करते हुए, दर्शन संबंधरूप योगस्थिति-वह वैभव, भाव और उसकी उत्कटता, और साथही रसोंका परमोत्कर्ष प्रेम, अभिरुचि, श्रेष्ठता और समृद्धि आदि सब कुछ श्री भगवान् आगे चलकर कहेंगे-।

व्याख्या :- वह प्रश्न क्या है ? श्री भगवान् कृष्णजी द्वारा उसका किस प्रकार निरसन किया गया है ? क्या उत्तर दिया है ? आदिके संबंध में इस कथाको सुसंगत करकेही स्पष्ट

करूँगा । वह भाव, उसका आशय सचमुच कथा की संपन्नता को बढ़ायेगा । वहाँ संतत्वका ही आख्यान है । वीर, शृंगार, शांतादि विविध रस, जो सरस्वती की वाणीका सौंदर्य हैं वे अपनी उत्कटता के कारण रसोत्कर्ष को पाते हैं, उन्नत हो जाते हैं । उनका उन्नयन होता है । वे केवल पार्थिव रसानुभूति नहीं देते तो उनके द्वारा अपार्थिव परतत्त्व स्पर्शी रसानुभूति का साक्षात्कार है ।।२१२।।

जयाच्या बरवेंपणी । कीजे आठा रसांचि वोंवाळणि ।
जो सज्ञानाचिये आयणि । विसांवा जगीं ।।२१३।।

अर्थ :– जिसके सौंदर्य पर शृंगारादि आठों रस न्योछावर किये जानेकी पात्रता के हैं । ज्ञानी सज्जनों के तत्त्वनिर्णय को, चातुर्य को इस जगत् में केवल शांत रसही विश्रांती स्थान है ।

व्याख्या :– वहाँ विविध प्रकार के भोगोंपर ये अष्टरस मानो न्योछावर किये जायेंगे । इन्हीं आठों रसोंके द्वारा बुद्धिको मानोविश्रांति प्राप्त होगी । अष्टांगयोग अनुष्ठान के कारण अगर कुछ थकावटसी आ जाय तो इन्हीं रसोंके कारण वहाँ उत्साह पैदा हो सकता है । योगमय जीवन का संपूर्ण साफल्य जो चित्तवृत्ति निरोध है उसकी महत्तम योग्यताका, श्रेष्ठता का तथा भलाई का विश्रामधाम बुद्धिके लिए प्राप्त होता है । ज्ञानवान को मुखरित करनेवाला वह बुद्धितत्त्व उसे मानो विश्रांति प्राप्त हो जाएगी ।।२१३।।

जो शांतचि अभिनवेल । ते परिसा मऱ्हाटे बोल ।
ते समद्राहुनि खोल । अर्थभरित ।।२१४।।

अर्थ :– विकाररहित शांत नित्यनूतन ऐसे मेरे मराठी

शब्द सचमुचही समुद्रसे भी गंभीर, अर्थगौरव से ओतप्रोत हैं–सर्वप्रकार के भाव–वैभव से परिप्लुत हैं।

व्याख्या :– वहाँ शांतरस का मानो मूर्तिमंत आविष्कार है। उसके रसोत्कर्ष की सीमा यहाँ सगुण हो जाती है, मूर्तिमान हो जाती है। वह अपने विलास द्वारा नित्यनूतनता निर्माण करता रहेगा। उसके द्वारा व्यक्त होनेवाले विचार मराठी भाषाका सुन्दर शृंगार है। उनमें समुद्र के समान विचारों का गांभीर्य तथा अर्थ का अगाधत्व है। वे शब्द मूर्तिमान अर्थ तथा रसोत्कट अनुभव हैं ।।२१४।।

जैसे बिंब तरि बचके येवढें।
परि प्रकाशें त्रैलोक्य थोकडें।
शब्दाची व्याप्ति तेणें पाडें। अनुभवावी ।।२१५।।

अर्थ :– सूर्यबिंब तो छोटासा ही दीख पडता है, किंतु वह त्रैलोक्य को प्रकाशित करता है, उसके प्रकाश के लिए त्रैलोक्य भी छोटा है। वैसेही मेरे शब्दोंकी व्याप्ति है।

व्याख्या :– ज्ञानका बिंब दिखनेमें छोटा है, वह अपनी मुट्ठीमें समाजाता है किंतु उसका प्रकाश समूचे त्रैलोक्यको भी व्याप्त कर देता है। त्रैलोक्यसे भी वह बढ़कर है, अधिक है। उसके शब्दोंकी व्याप्ति इस प्रकार अत्यन्त विशाल है। वह संपूर्ण आकाश को व्याप्त कर देता है। वहाँ अनुभव का दीप जगमगाता है। शब्दसामर्थ्य का यह महिमान अनुभव करने योग्य है। ।।२१५।।

ना तरि कामितयाचिया इच्छा । फळे कल्पवृक्षु जैसा ।
बोल व्यापक होय तैसा । तरी अवधान द्यावें ।।२१६।।

अर्थ :- जो कर्म इच्छा किये बगैर सफल नहीं होते, उनके लिए कल्पवृक्ष जिस प्रकार फलदायी है, उसी प्रकार मेरे शब्द व्यापक हैं । अतः गौरसे सुनें ।

व्याख्या :- स्वभावसिद्ध कर्मोंको छोडकर जो अन्य कर्म होते हैं, उनकी सिद्धि इच्छाके बलपर ही संभव होती है । अतः उसके लिये इच्छाका होना नितांत आवश्यक है । किंतु यहाँ तो इच्छा होतेही उसकी तृप्ति हो जाती है । ऐसाही यह शब्द है, उसका यह महान् सामर्थ्य है । वह मानो कल्पवृक्ष के समान है । जो चाहे वह हम उससे ले सकते हैं । हमारी इच्छा वह फलद्रूप कर सकता है । अतः श्रोताओं से प्रार्थना है कि वे इस ओर जरूर ध्यान दें । सभी प्रकार का व्यवधान छोडकर इस ओर अवधान दें । ।।२१६।।

हें असो काय म्हणावें । सर्वज्ञ जाणती स्वभावें ।
तरि निकें चित्त द्यावें । हे विनंती माझी ।।२१७।।

अर्थ :- वस्तुतः यह कहनेकी कुछ आवश्यकता नहीं । आप सर्वज्ञ हैं, आप यह जानते हैं, अतः मेरी यह प्रार्थना है कि इस ओर ध्यान दें ।

व्याख्या :- इससे बढ़कर और क्या कहूँ ? ये श्रोता सभी संतसज्जन हैं । वे सर्वथा ज्ञानसंपन्न हैं । अतः उन्हें मैं क्या समझाऊँ ? वस्तुतः बुद्धिको ज्ञानप्रदीप बनाने की क्षमता उनमें हैं । वे बुद्धिकी सफलता करेंगे । मेरे हाथ केवल यही

है कि उनसे केवल प्रार्थना करता रहूँ ! वे सबकुछ जानते हैं, अतः उनका अवधान मुझे भी उत्साह दे देगा । ।।२१७।।

जे साहित्य आणि शांति । हे रेखाचि दिसे बोलती ।
जैसि लावण्यगुण कुळवंती । आणि पतिव्रता ।।२१८।।

अर्थ :– यहाँ साहित्य और शांति मुखर हुअी यह कविता दीख पडती है । मानो कुलवान तथा लावण्यमयी स्त्री और वह भी पतिव्रता है ।

व्याख्या :– जगत् में यह जरूर देखा जाता है कि लावण्य है, तो गुण नहीं होते । गुण हैं तो लावण्य नहीं होता । दोनोंका एक जगह मिलाप क्वचित् दीख पडता है । दोनों की विद्यमानता एकही व्यक्तिमें होनेमें कठीनाई नहीं किंतु वह क्वचित दीख पडता है । हाँ अगर वह किसीमें एकत्र हो, और साथही वह कुलवती भी हो तो उसकी महत्ता अधिक बढ जाती है । उसका सौंदर्य निखर उठता है । इन सभी गुणोंके साथ अगर वह पतिव्रता हो तो सोनेमें सुगंध आ गयी । कुलवती, लावण्ययुक्त, गुणवान तथा पातिव्रत्यधर्म का पालन करनेवाली स्त्री सचमुच महान् रत्न है । वह लावण्य की चरमसीमा है । उसी प्रकार यह साहित्य एक एक अभिनव गुणोंसे संपन्न हैं । वहाँ शांतितत्त्व मानो साकार है । शांतरस का यहाँ अधिष्ठान है । शांतरस के कारण निर्माण हुए स्नेहमयता का वातावरण यहाँ ओतप्रोत है । सहजसंपन्न काव्यसंपदा निर्माण हो जानेसे वह सर्वथा सायुज्यसदन की रेखा बन गयी है । वस्तुतः इस वाङ्मय से सायुज्यसदन की

प्राप्ति सुलभ है। सलोकता, समीपता, सरूपता आदि मुक्तिके प्रकारों ने वह रेखा विनष्ट की। वहाँ कर्म है किंतु नैष्कर्म्य-युक्त। अतः कर्मकी रेखा नहीं रही। उन्हींके द्वारा नामरूपात्मक सगुण साकार भगवंत का पूर्णस्वरूप स्पष्ट हुआ। साथही उसकी सगुणता के अनन्तर भी जो कुछ शेष रहा उसके बारेमें क्या कहा जाय? वह तो केवल एक रेषा है। वहाँ केवल त्रिगुणातीत अनुभूति है। उसके बारेमें क्या कहा जा सकता है? इस वाङ्मय के अनुशीलन से महद्‌भाग्यरूप धर्मपरायणता निर्माण हो गयी है और वही भगवन्त का गुणानुवादन मात्र है। उस भाष्य के द्वारा उस असीम का ही वर्णन किया जाता है, भगवन्तकाही गुणानुवाद होता है। एक परमात्मस्वरूप के सिवा वहाँ ओर कुछ भी कहा नहीं गया। वहाँ अन्य कथन है भी नही। चतुर्भुज परमात्मा का वह सगुण ध्यान, उस काव्य संपदा का परम अधिष्ठान होनेसे वहाँ केवल भक्तिका रम्य आविष्कार है। मानो यहाँ भक्ति साकार, शब्दमय होकर साहित्यमें अवतीर्ण हुई। उस अनन्त के सगुण वर्णन में भक्ति-रस का स्नेहार्द्र तथा शांत अविर्भाव जीवन के समग्र रसको पुनीत सा करता है। भक्तीका वह परमप्रेममय स्वरूप तथा उसका अमृतस्वरूप पाकर मनुष्य सचमुच कृतार्थ हो जाता है। इस कवित्व की रचना भक्ति का वाङ्मयीन रूप है। यहाँ अव्यभिचारिणी भक्तिका विदग्ध विलास रसोत्कर्ष की चरमसीमा तक पहुँच गया है। यहाँ उसका एक एक शब्द प्रेमसे मधुर, स्नेह से ओतप्रोत तथा शांतिसे अत्यन्त परिपूर्ण

है । श्रद्धा, निष्ठा, प्रेम, स्नेह आदिका एक अनूठा स्रोत जीवन में बहा देनेका सामर्थ्य इस भक्तिगंगामें है । अतः वह प्रसंग परम आल्हादक बन गया है । ।।२१८।।

आर्धींचि साखर आवडे ।
आणि तेचि जऱ्हि औषधा जोडे ।
तरि सेवावी ना कां कोडें । नावानावी ।।२०९।।

अर्थ :– शर्करा तो स्वभावसे ही मधुर और उसकी योजना दवाके रूपमें की जाय तो सेवन करनेमें कौन बाधा होगी ?

व्याख्या :– भवरोग के कारण जो पीडित हैं उन्हें नामस्मरणरूप कामधेनु प्राप्त हुई तो उन्हें वहीं रम जाना चाहिए । उसकीही सेवामें लगे रहना चाहिए । उस संबंधमें विचार करने की कुछभी जरूरी नहीं । शक्कर अत्यन्त मधुर है, सबको प्रिय है । वह मानो नामरसायन की जोडमें है तो फिर उसके बारेमें विचारही क्यों किया जाय ? विविध नामरूपोंसे ग्रथित हुआ वह भवजीवन, नामरसायनरूप औषधि के द्वारा निःसंशय निरामय हो जाएगा । भवरोग में फँस जाने की अपेक्षा नामरसायनका ही स्वीकार करें और उसकी शर्करा के समान माधुरी का आस्वाद लें । उसमें समरस हो जाओ । उसीके समान मधुर हो जाओ । वहाँ अन्य विचार करना भूल है । ।।२१९।।

सहज मलयानिळ सुगंधु । तया अमृताचा होय स्वादु ।
तेथेंचि जोडे नादु । जरि दैवगत्या ।।२२०।।

अर्थ :– मलयानिल सहजही सुगंधी है, तिसपर दैववशात्

उसे अमृत का स्वाद और संगीत के मधुर स्वर प्राप्त हुए तो- ।

व्याख्या :- भवज्वरसे पीडितों की तडपन अत्यन्त कष्टकारी है । वहाँ मन तथा शरीर दोनोंकी अवस्था अत्यन्त बुरी रहती है । ऐसी स्थिति में मलयगिरीसे आनेवाली शीतल मन्द सुगंधयुक्त वायुका आस्वाद लेनेमें निःसंशय महद्भाग्य है । उस वायुको अमृतका स्वाद हो और दैवयोग से अगर उसमें कलरव निर्माण हो तो सभी इन्द्रियों को संतोष देती हुई वह वायु भवज्वर पर प्रभावी औषधि होगी । वहाँ दैवही प्रसन्न हो गया ।।२२०।।

तरि स्पर्शे सर्वांग निववी । स्वादें जिव्हेतें नाचवी ।
तेवींचि काना करवि म्हणवि । बाप माझा ।।२२१।।

अर्थ :- स्पर्शसे ही सर्वांग को शांत करता है, स्वादसे जिव्हा को लालायित करता है, और श्रवणेंद्रियों को यह सचमुच वेद जैसा लगता है ।

व्याख्या :- वहाँ स्पर्श तो अत्यन्त समाधान तथा आल्हाद देनेवाला है । संपूर्ण शरीर को शांत तथा उत्साहमय करनेकी क्षमता उसमें है । संपूर्ण शरीर को शांति तथा समाधान देते हुए अमृत की वृष्टि हो जानेसे जो शीतलता आती है, उसका ही यही अनुभव हो जाता है । जीवदशा अत्यन्त शीतल, परमआल्हादक तथा समधात हो जाती है । कानोंसे सुना हुआ वह अमृतमधुर अक्षर, जिसकेद्वारा अपनाया जाता है और अमृत आस्वादन के समान वहीं अमृतत्त्व की उपलब्धि हो जाती है । कानोंको ही जिव्हा प्रकट होकर वेही स्वयं उस

आस्वाद की भलाई व्यक्त करने लगे। उसमें संपूर्णतया सामरस्य प्राप्त हो जानेसे नादध्वनि मूर्तिमंत दैवके रूप हो गया। देवत्व ही देवतारूप हो गया। अमृत के रूपमें दैवही अमृत देनेवाला हो गया। ॥२२१॥

तैसें कथेचें इये ऐकणें। श्रवणासि होय पारणें।
आणि संसारदुःख मूळखणे। विकृतिविण ॥२२२॥
जरि मंत्रेचि वैरि मरे। तरि वायां कां बांधावें कटारें।
रोग जाये दुधें साखरें। तरि निंब कां पियावा ॥२२३॥

अर्थ :- उसप्रकार यह कथा श्रवण मानो श्रवणेंद्रियों की सारी सफलता है। वे तृप्त होते हैं। प्रापंचिक दुःख किसी भी प्रकार कष्ट न देते हुए उन्मूलन हो जाता है।

खाली मन्त्रोंसे वैरी का नाश होता है तो फिर छुरी पास रखने की क्या आवश्यकता है ?

व्याख्या :- इस अमृत का महात्म्य भी इतना विचित्र है कि उसका लोभ, उसका मोह भी अनिष्टप्रद हो जाता है। विषाक्त प्रकृति की समूची जडही यहाँ विषकंद के रूपमें बन जाती है। अमृत के बारेमें भी निर्लेप, निर्मोही वृत्तिकी आवश्यकता है। निर्मोही हो जानेपर अमृतत्त्व का योग है। अन्यथा वह मोह भी खतरे से खाली नहीं। प्रकृति के त्रिविध गुण इन मोहोंके कारण साम्यावस्था नहीं अपनाते। मोहकी जड कायम होनेसे इन गुणोंका कर्मानुसंधान लोभमें, विकारों में डूबा रहता है। भिन्न भिन्न प्रकार के सकाम कर्म मोहोंको वढ़ाया करते हैं। प्रकृति को जहाँ समाधान है वह निरतिशय

पुरुषत्त्व की उपासना नहीं हो जाती। वह आत्मतत्त्वही इन गुणोंके द्वारा मानो छिपाया जाता है। फिर अमृतत्त्व कहाँ रहा ? उसकी कीमत क्या हुई। वह तो मूल्यहीन बन जाता है। उसके प्रति निर्मोही नहीं हो सकता और वह भी अपनी अमृतमयता का प्रभाव नहीं दिखाता। फिर 'मैं' और 'मेरा' का प्रभाव है। मनुष्य चाहता है वह अमृत भी मेरे अधीन रहे। यह कैसे संभव होगा ? किंतु मनुष्य की अहंता बलवत्तर रहती है। वह और कुछ नहीं सुनती। उसके पास अहंता का अभिमान का बडा भारी प्रभाव है। वह अपनी बातको लेकर टससे मस नहीं होता। अपनी बातको ही सही मानता है। उसके जीवन में अहंपोषण के सिवा और कुछ कार्य नहीं रह जाता। फिर अपनीही महत्ता में प्रवाहप्रतित हुआ मनुष्य उस परमात्मतत्त्व की पहचान को कैसे पात्र होगा ? वह उस तत्त्वको देख नहीं सकता या वह तत्त्व उसकी दृष्टिसे ओझल हो जाता है। उसके इन्द्रिय, उसकी वाणी या उसकी जिव्हा इस अमृत के आस्वाद को स्वीकार नहीं करती। उन्हें शायद अरुचि निर्माण हो जाती है। अतः वह अमृत उनसे कोसों दूर भागता है। वह समझता है कि इस मनुष्य को संतत्वकी, सत्यकी, अमृतकी चार हैही नहीं। फिर बुद्धि क्योंकर आत्मनिष्ठ रह सकती है ? जहाँ अमृत के प्रति, आत्मतत्त्व के प्रति अरुचि है वहाँ बुद्धि व्यामोह में फँसी रहेगीही। वह दूसरेकी होकर पराभूत हो जाती है। अतः यहाँ सन्तोंका दर्शन, उनकी सेवा, उनकी कृपा आदिका लाभ हो जाय तो

इस जीवन में प्राणसंजीवन निर्माण होनेका विचार कमसे कम रहेगा। उस विचार का प्रत्यक्ष फल आज नहीं कल सही, किंतु जरूर प्राप्त होगा। अहन्ता के विधान का भ्रम फूट जानेपर अन्तरंग जागृति का योग जरूर आ जाएगा। यह आशा, यह इच्छा अवश्य परिणामक्षम हो जाती है। अतः देवता सान्निध्य की जरूरी है। आत्मवस्तु की ओर लगन निर्माण होनी चाहिए। प्रकृति को अपना त्रिगुणात्मक मायासंसार संकुचित करना होगा। अपने विकारोंको, विविध प्राकृतिक तत्त्वोंको विलीन करना होगा। ऐसी अवस्थामें वे गुण भी जागृत हो जावेंगे। वे अपनी मूल प्रकृतिकी ओर अन्तर्मुख होंगे। उन्हें विश्वास सा पैदा होगा। उनके विश्वास में आत्मसत्ता का अनुसंधान रहेगा। इसी लिए वह प्रकृति स्वयं ऐसे विश्वास के लिए, पुरुष की निष्ठाके लिए उत्सुक है। किंतु यह सब सहजही नहीं हो सकता। उसके लिए तप की, अनुष्ठान की, विराग की आवश्यकता होती है। यह न होनेपर गुणोंकी प्रभावकारिता विशेष परिणामक्षम रहती है। प्रकृति अंतर्मुख नहीं होती। फिर उसके मनमें विश्वास पैदा कैसे होगा? वासना तथा विकारों से वह अपने पैरोंको ही मानो जकड देती है। वह स्वतन्त्र नहीं रहती। गुण, वासना, विकार आदि के कारण बहिर्मुख रह जाती है। अतः पहले पहल उसके मनमें विश्वासही निर्माण हो जाना चाहिए। मतलब यह है कि जिसके द्वारा जीवन का विश्वास निर्माण हो सकेगा, जो जीवनभर तुम्हारी निष्ठाको अचल बनायेगा, जिसके द्वारा

इस देहकी धर्मधारणा स्थिर हो सकती है, ऐसे साथीकी यहाँ जरूरी है। उसके विचारों से तुम्हारा अनुष्ठास हो जाय तो फिर तुम्हें कष्ट नहीं होंगे। वह स्वयं तुम्हारा विश्वास होगा। वही तुम्हें उस आत्मतत्त्व की ओर लेनेमें सहाय्यक होगा। अहन्ता तथा दुःखका अन्योन्य संबंध है। दुःखको कोई भी साथी नहीं। जगत् में उसकी मित्रता करने कोई भी उत्सुक नहीं रहता। अहन्ता के कारण मित्रोंकी कमी और अमित्रोंकी ही वृद्धि हो जाती है। उनकी विपुलता के कारण अमृतत्त्व भी उसके पास जानेको डरता है। वह तो दूर दूर दौडता है। और विशेष यह है कि रोगी अवस्थामें भी मन अपनी अहन्ता की कोरी कल्पनाअें सुनाया करता है। अमृतत्त्व की कल्पना करता हुआ मन अहन्तासे सर्वथा ओतप्रोत है। वास्तव में मनके ये संकल्प, उसकी कल्पनाअें सुननेवाली आत्मा वस्तुतः तुम्हारे प्राकृतिक लाभहानि की ओर तनिक भी भी ध्यान नहीं देती। उसे मनकी किंचित् भी चिंता नहीं, उसके रागद्वेष के बारेमें, उसके विकारों के बारेमें उसे संपूर्णतया विराग है। अतः विकल्पात्मक संकल्पों के द्वारा मनकोही प्रलीन करना आवश्यक है। उसके संकल्प विकल्पों को निःस्तब्ध करके उसे पहलेपहल सुस्थिर करना आवश्यक है। इसके पश्चात् और भी एक अडचन पैदा हो जाती है। वह है मनके प्रलीन होनेके कारण मिध्यापन, लाचारी, विवशता। वह लज्जा, संकोच अस्थानमें ही आत्मासे दूर ढ़केलता है। लज्जा दूर नहीं होती। वह यह नहीं चाहती कि मन तथा बुद्धि

अपने विषयों को छोडकर केवल आत्मनिष्ठ बने रहें। अतः वह फिर फिरसे प्रयत्नशील रहती है कि मन विषयों की ओर मुड जाय। बुद्धि विकारवश हो। लज्जाकी यह प्रतिकूलता निःसंशय लज्जास्पद है। अतः उसे अपनी विकारिताको, अपने फंदेको लेकर चले जानाही होगा। उसके सिवा लज्जा की आदत दूर नहीं होगी। उसकी अडचन हट नहीं जाएगी। विषयोंका वैविध्य, मनबुद्धि को उनकी ओर सहजही आकर्षण तथा आस्था और लज्जाका विलक्षण अहंभाव आदिके कारण वह आत्मनिष्ठ विश्वास, उस अमृतत्त्व की उपलब्धि होनेमें देर लग जाती है। किंतु आत्मतत्त्व की ओर अग्रसर होनेका मनुष्य का प्रांजल संकल्प जितना तीव्र, उत्कट होगा, उतनाही प्रकृति पर प्रभाव आ जाता है। फिर लज्जाका, विकारोंका, वासनाओंका कष्टकारी अनुभव उसे त्रस्त सा बना देता है। वह संसार से दूर जानेके लिए तैयार हो जाता है। विजनवास स्वीकारने को उत्सुक हो जाता है। इस समय वह अपना मन, बुद्धि आदिको सचमुचही वासनाओं से दूर कर लेता है। इतना होनेपर भी संकट पूरी तौरसे दूर नहीं हो जाता। प्रकृतिजन्य आलस्य और एक शत्रु है। वह तो सबसे बढचढ़-कर है। उसके कारण आदमी प्रयत्न करने को भी उत्सुक नहीं रहता। प्राकृतिक जीवन का लोभ किसे छूटा है? ये मोह, विकार, वासना तथा विलास यद्यपि अन्तमें दुःखद हैं तो भी उनके सुखसंवेदन को जिन्होंने अनुभव किया है वे उन्हें झट छोड नहीं सकते। देहकी धारणा इन्हीं विकारों के लिए

सी बन जाती है। उन्हें छोडने पर भी वे छूटते नहीं। आलस्य के द्वारा उन्हें अधिक पोषणसा मिल जाता है। देहकी आदत झट नष्ट नहीं होती। उनकी अपनी महानता बनाये रखने के लिए प्रयत्न हो जाते हैं। आलस्य के द्वारा यह प्रयत्न होते हैं। प्रकृति की जडता वैसीही बनी रहती है और जीव उसीमें डूबा रहता है। यह जाड्य अतीव जड है, वह झट हटता नहीं। वैसाही बना रहता है। अतः वह अमृत पाना भी विषकंद के समान हो जाता है। वह अमृतत्त्व है या विषकंद है ऐसा संभ्रम निर्माण हो जाता है। मनुष्य जडदेहासक्तसा हो जाता है। उसके कष्ट निरर्थक से हुआ करते हैं। वह अमृत या विष ऐसा संभ्रम जिसके संबंध में निर्माण होता है, वह आत्मतत्त्व सहजसिद्ध होनेपर भी प्रकृति का यह जाड्य, आलस्य, उसकी विकारवशता रास्तेमें रोडे पैदा कर देती हैं। इस देहको उसकी अनुपमेय उपलब्धि करा देनेको उसका जी नहीं ललचाता। अतः अतीव परिश्रम के, त्याग के बादही वह अनुनुभूत योग सिद्ध हो जाता है। उन कष्टोंका वर्णन भी यों हो सकता है कि क्षणमें वहाँ मृत्यु है तो दूसरे क्षण अमृततुल्य स्वर्गसौख्य! क्षणमें आनन्दविभोर हो जाता है तो दूसरे क्षण तीव्र बन्धन है। कभी उसका तीव्र संवेग है, तो कभी ग्लानी की चरमसीमा। कभी बुद्धिकी स्थिरता अनुभव की जाती है तो कभी उसकी विकारवशता। इस प्रकार प्रयत्नों के विविध रंग, विविध हास्यविलास या सुखदुःख के अनेकविध अनुभव आ जाते हैं। बादमें जब कभी इन्हीं प्रयत्नोंके

फलस्वरूप अपनी मौलिकता का परिचय देते हुए वह महान् स्वाभाविक, सहज स्वरूप आत्मस्वरूप अपने अमृतत्त्व की यथार्थता दिखलाता है तब संदेह नहीं रहता। तब विषय भी अमृत बन जाता है। उसके प्रसाद में यह पात्रता जरूर है। फिर मनुष्य सुखदुःख की द्वंद्वात्मकता से अतीत होकर निर्द्वंद्व अनुभूति का अधिकारी हो जाता है। जीवन में हास्य मुखरित होता है। कष्ट दूर भागते हैं। दुःख रहताही नहीं। प्रसन्नता पुष्ट होती है। शांति, तुष्टि तथा पुष्टिका मन्त्र सर्वत्र गूँज उठता है। यह साधना निःसंशय दुष्कर हो जाती है। वहाँ हास्य, आनन्द तथा तेज आदिकी मुखपर आभा आ जाती है। ईश्वरीय ऐश्वर्य वहाँ तुम्हारी सेवामें सिद्ध है। मनमें संकल्प निर्माण होतेही उसकी झट पूर्ति हो जानी चाहिए। यह अभिमान मनको रहता है। उसकी अहन्ता उसे इसलिए अधीर बना देती है। किन्तु जब तक मन विकारों का अंकित होकर उनके पीछे घसीटता जाता है, जब तक वह अपनी आत्मीयता को छोडकर केवल भोगलिप्सा को लिए हुए है तब तक वहाँ आत्मनिष्ठा का उदय कैसे संभव है? जहाँ आत्मसत्ता का अभाव है वहाँ संकल्पों की पूर्तिमें जरूर बाधा है। वहाँ आत्मविश्वास नहीं होगा। मनुष्य का स्वभाव द्विविध है। कभी वह अस्थिर है तो कभी स्थिर है। उसकी स्थिरता प्राकृतिक बहिर्मुखता की ओर है, ओर अस्थिरता आत्मसत्ता के संबंधमें है। अतः वह स्थिरता आत्मसत्ता के संबंध में होनी चाहिए। और अस्थिरता उस प्राकृतिक जीवन के बारेमें।

जब वह सुस्थिर स्वभाव से आत्मसत्ता का अनुग्रह पानेकी इच्छा करेगा तब वह अपने जीवन में भी सुस्थिर होगा। अपनी योग्यता बढायेगा। चित्तकी स्थिरता जरूर होनी चाहिए और उसके साथ अस्थिरता भी शांत स्वभाव के द्वारा, स्नेह से रोकी जानी चाहिए। ऐसा होनेपर ही मनुष्य की मनुष्यता प्रकट होगी। अतः यह जो कथा है वह केवल सुनने की अपेक्षा उसमें तल्लीन हो जाना चाहिए। उसके द्वारा स्वहित अपनाया जाय तो बहुत अच्छा। जिसके द्वारा सचमुच जीवन का कल्याण संभव है, ऐसे परमात्मतत्त्वसे ही मित्रता बनी रहे। ज्ञानकी यह दृष्टि मैत्रेयी के समान अगर स्थिर रहेगी तो फिर तुम्हारी भावना जागृत रहेगी। फिर तुम्हारा मनुष्यत्व तुम्हें अपनेआप प्राप्त होगा। उसके द्वारा जीवन का परतत्त्वयुक्त अनुभव तुम प्राप्त कर सकोगे। इस प्रकार यह श्रवण अपनी आँखोंको स्नेहार्द्रता की पहचान देकर, ज्ञानभोजन का योग ला देता है। श्री आत्मदेव के लिए यह ज्ञानरूप अन्न अतीव संतोषप्रद होता है। देवताभाव के कारण वहाँ प्रसन्नता के पक्वान्नही मानो मिल गये। आँखोंमें भी एक विलक्षण आतंता निर्माण होती है। वे आँखें स्नेहार्द्रता के साथ आत्मदेवता की मूर्ति देखने के लिए आतुर हैं। उन्हें वह रूप देखने की निरतिशय इच्छा है। जब वे आत्मराज का दर्शन कर लेती हैं तभी उन्हें संतोष तथा समाधान प्राप्त हो जाता है। दर्शनोत्सुक नेत्रही मानो समूचे शरीर में व्याप्त हुए हैं, इतनी उत्सुकता वहाँ बढ़ जाती है। दर्शन के लिए उनका जी मानो

तडपता है। जब उस सौंदर्यशाली आत्मदेवता के दर्शन का सुयोग प्राप्त होता है तब सचमुच समाधान समधात हो जाता है। वहाँ केवल दर्शनकी ही उत्सुकता नहीं रहती, दर्शन के बाद परिपूर्ण सामरस्य की प्रेरणा, आर्तता वैसीही तीव्र बनी रहती है। वहाँ एकविधभाव की, उसके प्रति अनन्य निष्ठाकी जरूरी है। वही निष्ठा दर्शन तथा सामरस्य भी प्राप्त करा देगी। जिससे शांति तथा संतोष का साम्राज्यही निर्माण हो जायगा। जब बालक दीर्घ स्वरों में रोता हुआ अपनी माँको जोर जोरसे पुकारता है, तब माँ भी उसकी आर्तता को जानकर झट उसके पास आ जाती है, उसे अपने स्तन्यसे संतुष्ट कराती है। उसका दुःख मिटा देती है। रोनेके कारण उसके भावकी तीव्रता, तथा तप्तता प्रतीत हो जाती है। माँ उसी कारण जल्द आयेगी। वैसेही यहाँ भी दर्शन तबतक संभव नहीं होता जबतक हम अपनी योग्यता के लिए तप नहीं करते। अपनी योग्यता बढाने के लिए होनेवाले वैराग्यादि तपसे उस देवता को आवाहन हो जायगा। वही तडपन, आकांक्षा तीव्र होगी तो देवतादर्शन निःसंशय हो जायगा। उसमें देर नहीं। वस्तुतः वह तो हैही। किंतु उसका अव्यक्तभाव हम व्यक्त नहीं कर सकते कि जिसके लिए मनुष्य की योग्यता नहीं रहती। जब उसका आविर्भाव हो जाता है तब संसार का झंझट दूर हो जाता है। दुःखका सर्वथा निरास हो जाता है। विकारों के द्वारा बुद्धिको भी यह ज्ञान होता है कि उनका बोझ अत्यन्त भारी तथा उत्कट दुःखदायी है। फिर वही उस

बन्धके विरुद्ध प्रयत्न करने को उत्सुक हो जाती है। उसके प्रयत्नों का निबंध शुरू होता है। उसे मानो मन्त्रही प्राप्त हो जाता है और वह स्वतन्त्र तथा आत्मनिष्ठ होनेको उत्सुक हो जाती है। ऐसा होनाही सर्वथा उत्तम है। देहबुद्धि के द्वारा यह प्रपंच सिकुडा जानाही उचित है। विकारों के विस्तार के ऐवज में वहाँ संकोचही होता रहे। ऐसा शुरू हो जानेपर फिर अन्य उपायों की आवश्यकताही नहीं रहेगी। देहबुद्धि का यह प्रतिप्रसव का प्रयत्न देहाभिमान को जरूर दूर कर सकता है। नामरूप मन्त्रके द्वारा यह देहजनित ज्वर, यह अभिमानरूप शत्रु मर जाता है, नष्ट होता है तो फिर कटचार की किसीभी प्रकार आवश्यकता नहीं रहेगी। किसी शस्त्र के द्वारा उसे डराने की बिलकुल जरूरी नहीं। वस्तुतः वहीं अवधान देनेको जो बुद्धि तत्पर है वह वस्तुतः अत्यन्त निःस्वार्थ हो जाती है। उसे अपनी कोई इच्छा नहीं रहती। वह अपने प्रपंच को त्यागकरही आत्मनिष्ठा का अनुभव करने को उत्सुक बनाती है। सर्वसामान्य जीवन में उसके इस निष्ठाका ध्यान नहीं रहता। अतः वह जो कुछ कहती है उसके अनुसार बर्ताव करने को तैयार नहीं हो जाती। उसकी पात्रताही मानो नहीं होती। फिर वह दूसरे के लिए, देहके लिए अपना संपूर्ण जीवन व्यतित करती है। बुद्धिकी निष्ठा देहको प्राप्त होकर वह देहकी हो जाती है। देहबुद्धि कहलाती है। किंतु जब वह योग का एक अंग बन जाती है, योगानुष्ठान के लिए उद्युक्त हो जाती है तब वह योगका उपयोग कहलाती

है। वहाँ योगानुष्ठान के कारण बुद्धिको जो नियमन प्राप्त होता है, उन्हीं शस्त्रोंके आघातों के कारण उसकी देहनिष्ठा छिन्न हो जाती है। वहाँ बुद्धिका कौशल दोख पडता है। जीवन में उसकी उपयोगिता के सुपरिणाम लक्षित होते हैं। वह अपनी अनन्य निष्ठासे आत्मदेवता के सम्मुख उपस्थित हो जाती है। योगभाव का योगदान उसके द्वारा दिया जानेसे वह योग काही एक हाथ सी बन जाती है। वहाँ विश्वास उदित है। जीवन आश्वासित है। मानो योगरूप वरदहस्त सिरपर होकर आश्वस्त करता हो। वही योग सहजभाव को पा जाता है और पूरे विश्वास के साथ वह बुद्धि अपने प्रपंचों के सह वहाँ विलीन होती है। फिर वहाँ दुःख कहाँसे होगा ? अनायास सुखके सुपरिणाम सफल हुए। वहाँ पात्रता स्थिर है, वहीं विश्वास है अतः डर नहीं रहा। निर्भयता के कारण देहभी प्रसन्न है, वहाँ दुःख नहीं। वह आत्माकी ही विश्वासभाजन होगयी है, उसकी अंकित है। वहाँ फिर निःश्वास नहीं, दुःश्वास नहीं, केवल विश्वास है। अतिरम्यता का अधिष्ठान प्राप्त होकर दुःख भी ही अप्रतीम सुखका सौंदर्य होगया।

अतः यह बुद्धि स्वभावतः ही स्नेह, सुख तथा शांति का साधन है। वह मानो समाधान की मूर्ति है। वह कभी निरर्थक नहीं हो जाती। प्रेमकी पराकोष्ठा वह अनुभव करती है। परमप्रेमरूप, स्नेहार्द्र तथा अत्यन्त समधात वृत्तिका यह विश्रामधाम है। वस्तुतः प्रकृति का प्रपंच जो केवल विकारोंसे युक्त है, उसे कभी नहीं भाता। उसकी आकांक्षा, उसका

हृद्गत वस्तुत: आत्मनिष्ठाका ही मन्त्र उद्घोषित करता है। गुणोंकी विकारिता, तथा चंचलमन के फेर उसकी निष्ठामें संदेह पैदा करते हैं, रुकावटें डालते हैं। अत: वह दु:खी हो जाती है। उसकी निष्ठा जब देहको त्यागकर हम आत्मरूप करायेंगे तब उसकी इच्छा सफल होनेके कारण वह हर्ष विभोर हो जाती है। आत्मनिष्ठा के कारण वह सचमुच अत्यन्त प्रसन्न हो जाती है। उसके अंकित होकर बुद्धि आत्मदेवता की उपासना में अपने को प्रलीन कर लेती है। उसे आत्मराज के अंकित होकर रहना अतीव प्रिय होता हैं। फिर उसके लिए मनुष्य की यह देह आनन्दधाम हो जाती है। वह वहींसे हलनेका नाम तक नहीं लेती। विविध प्रकार के विवेचन के द्वारा, भाष्यके द्वारा या वक्तव्य के द्वारा बुद्धिका लक्ष्य प्राप्त नहीं होता। जब वह योगयुक्त हो जाती है तब मानो उसके अन्तर में उस आत्मनिष्ठा का बीज बोया जाता है। मानो वहाँ गर्भधारणाही हुई। वह यही योगयुक्त आत्मराज की उपासना में उसका चित्त दंग रहता हैं। वह उसे नितांत प्रिय है। वहाँ अपना सर्वस्व समर्पित करने को वह उत्सुक रहती है। बुद्धिकी यह प्रेममयता हम देख नहीं सकते क्योंकि उसकी निष्ठा तथा अभिरुचि समझ नहीं सकते। योगतत्त्व के कारण उसका प्रेम खिल उठता है। उन दोनोंका परस्पर अतीव प्यार है। योग तथा बुद्धिका यह रहस्य स्पष्ट कर लेनाही उचित है। वही बुद्धि योगबुद्धि हो जाती है जहाँ आत्मनिष्ठा का ज्ञान उदित है। योग तथा बुद्धिका यह परस्पर प्रेम

अटूट सा हो जाता है और वहीं ईश्वर के शृंगार का मानो आविष्कार हो जाता है। ईश्वरीय साक्षात्कार का वह वाहन हो जाती है। उसे महत् महत्तर महत्तम सन्मान प्राप्त हो जाता है और उसकी आनन्दमयता पराकाष्ठा को पहुँच जाती है। साथही वह अपना कर्तव्य कभी नहीं भुलती। आत्माकी अंकित होनेका जो भाग्य उसे प्राप्त हुआ है, उसके अनुकूल वह निष्ठा, निश्चय तथा ज्ञान उसकेही लिए समर्पित करती है। यह बुद्धियोग दूधमें शक्कर के समान, सोनेमें सुगंध के समान अतीव मधुर तथा सहजसंपन्न है। इसमें कुछ भी संदेह नहीं। भवरोग को हटाने के लिए यह दूधशर्करा के समान अत्यन्त मधुर औषधि जहाँ प्राप्त है वहाँ कडुवे औषधियों की योजना करने का कारणही नहीं। कटु तिक्त ऐसे वचन, तथा मुँहको अत्यन्त कडुवी रुचि प्रदान करनेवाली औषधि आदिकी क्या जरूरी रही ? यहाँ स्वयं मनही प्रलीन हो जाता है, उसका बुद्धिमेंही लय होता है, फिर उसे कडुआपन कहाँसे दे देंगे ? उसे किसी प्रकार 'योगयुक्त हो जाओ' ऐसी आज्ञा तक करने का कारण नहीं रह जाता। क्योंकि बुद्धि सर्वथा वरिष्ठ, महत् है। उसके अधीन उसके नोकर जैसा मन है। अतः उसे कटुतायुक्त वचन करके, या कडुवी औषधि देनेसे कुछ विशेष लाभ नहीं। उसे योगयुक्त करनेकी स्वतन्त्र रूपसे जरूरीही कहाँ रही ? क्योंकि जब बुद्धि योगयुक्त है, तब मन उसके अंकित होकर योगको प्राप्त होता है। अतः यहाँ भिन्न भिन्न भूमिकाओं के कारण विविधता का विलास प्रकट

करनेवाली प्रकृति नटी तथा व्यक्ति विशेष के द्वारा नटरूप होकर वही बुद्धितत्त्व अपने दिव्य बुद्धिबोध को ही अपनाता है। वही आत्मदेवता वहाँ दर्शनीय, श्रवणीय और मन्तव्य है। अतः वहाँ कडुआपन न हो। निम की कटुता मन को चित्त को प्राप्त प्राप्त न हो। वह स्वयं सहजसिद्ध होकर योगमें प्रलीन हो जाता है। कर्तव्यकर्म के निष्काम अनुष्ठान द्वारा वही आत्मदेवता प्रसन्न हो जाता है। उन्हीं कर्मोंसे नैष्कर्म्ययुक्त योगोपासना हो जाती है, जो बुद्धितत्त्व का व्यामोह नष्ट करनेमें समर्थ है। अतः मनको किसीभी प्रकार कष्ट न देते हुए, या हटयोग के कतिपय उपायोंद्वारा देहको भी कष्ट न पहुँचाते हुए मन तथा बुद्धिका योगयुक्त होनेके लिए सहज संभाव्य बुद्धियोग का रहस्य जान कर लो। फिर श्रवणसुखमें समाधि है, मनमें चैतन्यका ही संकल्प है, बुद्धि योगनिष्ठ तथा आत्मरूप हो जाती है और जीवसर्वस्व का निरतिशय प्रेम, मैत्री, स्नेह आदिका यत्र तत्र सर्वत्र आविष्कार अनुभव किया जाता है। चैतन्य की अत्यन्त कल्याणकारी बुद्धि केवल आत्माकाही सुखसंवाद करेगी, कल्याणकीही बात कहती जाएगी। ॥२२२-२२३॥

तैसा मनाचा मार न करितां।
आणि इन्द्रियां दुःख न देतां।
येथें मोक्ष असे आइता। श्रवणाचि माजि ॥२२४॥

अर्थ :- अतः मनको किसी भी प्रकार कष्ट न पहुँचाते हुए, इन्द्रियों को दुःख न देकर केवल श्रवणमें ही यहाँ मोक्ष अनायास है।

व्याख्या :– मनुष्य मनके बारेमें विचित्रसी कल्पनाएँ करता है। वह उसके साथ विलक्षण रूपसे बर्ताव करता है। जिससे मनका संयमन होना तो दूर रहा, फिर वह एक प्रकार सैरवैर होकर रहता है। प्रकृति स्वाभाविकता त्रिगुणों की साम्यावस्था है। किंतु त्रिगुणोंकी विषमता के कारण अनेकता का महान् व्याप हो जाता है। अनेकविधता का परिपोष होता है और ये गुण अवगुण बन जाते हैं। फिर देहकी योग्यता क्या रहती है! यह देह एक बन्धन रूप हो जाती है। देहकी अव्यवस्था विलक्षण कष्टदायक है। वहाँ मन विमनस्क है। वह कहीं गुम होता है, पता नहीं चलता। ऐसी अवस्थामें मनकी व्यग्रता नष्ट करते हुए विशालता के साथ एकात्मभावना की साधना हो जानेपर वह कहीं दृढ होनेकी संभावना है। अतः मनको कष्ट देनेकी अपेक्षा उसे श्रवणसुख का अधिकारी बना दिया जाय तो वह उस सुख के कारण मित्रता का भावधारण करके परिपुष्ट होता जाएगा। फिर उसकी सैरवैर भटकनेकी स्थिति नहीं रहती। वह अंतर्मुख होकर प्रकृति में विलीनसा हो जाता है। वहाँ उसकी आत्मीयता सत्यनिष्ठ बुद्धिको प्राप्त हो जाती है। और वह मन स्नेहरस में तल्लीन होकर इस देहकी व्यापकता का अनुभव करता हुआ उसीसे देहबुद्धि को भूल जाता है। देहबुद्धि नहीं रहती। जहाँ देहबुद्धि नहीं वहाँ दुःखभी नहीं रहा, अहन्ता नहीं रही। यह तो सचमुच बडा कार्य हो जाता है। विश्रांत श्रमोंके द्वारा यह जीवित परमसुख का निरतिशय भाव अपनाता

रहा। जीवित में शांति, विश्रांति, सुख आदिकी विद्यमानता रही। उसके सभी श्रम मानो विश्रांत हुए, सुखको पाते रहे। वहाँ उदासी का अस्तित्वही नहीं रहा। फिर मनका पता कहाँ है ? वह तो विलीन हो गया। अब वह फिर मुँह नहीं दिखायेगा। उसने यातो मार खाया। वहाँ जीवित का अत्यंत उदात्त, श्रेष्ठ भाव अनुभव किया जाता है अतः प्रेतवत् उत्साहशून्य जीवित का वहाँ अस्तित्वही नहीं। वह तो चैतन्ययुक्त, अतिउत्साहपूर्ण, आनन्दघन जीवन का, सुखके परमोत्कर्ष का अनुभव है। केवल उपमासादृश्य के लिए यह कहा गया। जीवन मनके विलीन हो जानेके कारण उदास नहीं हो जाता किंतु आनन्दघन रूपमें परिणत होता है। वासनाएँ लापता हो गयीं। उनकी सत्ता नहीं रही। उनका अधिष्ठाता मनही नहीं रहा तो उन्हें फिर कौन पूछता है ? आँखें उनसे दूर हट गयीं। और जिव्हा केवल आत्मरसका ही आस्वाद लेती है अतः अन्य किसी रुचिकी उसे जरूरी नहीं। वह अन्य बातोंकी जरा तक चाह नहीं रखती। वहाँ मानो मुखका अस्तित्वही नहीं रहता, फिर जिव्हास्वाद काहेका? इसके विपरित विकारों के कारण मनको भारी कष्टही उठाने पडते हैं क्योंकि वहाँ वार्धक्यका ही अवतार हुआ हो। युवावस्थामें वासनाओंका, विकारोंका जो प्रभाव दीख पडता है, रसास्वाद के लिए सभी इन्द्रिय जिसप्रकार लालायित रहते हैं और भोग आभोगद्वारा मनको संतुष्ट कराते हैं, उस प्रकार अब तो कुछ नहीं रहा। शरीर की स्थिति तथा देहबुद्धि दोनों अपनी

महत्ता खो बैठो हैं। देह की शाश्वति नहीं है। वह तो किराये परही लिया हो। और देहबुद्धि जो आत्मनिष्ठ होनेकी स्पृहा रखती है वह क्या इस देहको लेकर कुछ अधिक चेतना निर्माण करेगी ? वहाँ देह सचमुच थकीसी, विश्रब्धसी हो जाती है। वह किसीको मर्यादा तक नहीं देखती। वह निर्लज्जसी होकर किसीके भी गुणावगुण के बारेमें अपना मत व्यक्त करती, प्राकृतिक जंजाल बढ़ाया करती है। किंतु उसकी अगतिकता अधिक है। उसकी बात कोई सुनता नहीं। क्वचित उसके कहने के कारण उसेही कष्ट हो जाते हैं। एक तो देहबुद्धि नहीं रहती और देहनिष्ठा नहीं। फिर देहकी ओर ध्यानही नहीं रहता। साथही वह देहभी ऐसी निर्लज्ज हो जाती है कि वह मार खाकर भी अपनी विद्यमानता के लिए प्रयत्नशील रहती है। सचमुच वह तो निरर्थक हो जाती है। अजागलस्तन के समान व्यर्थ है। शरीर, आँखें, मुख, आदि इन्द्रियों के द्वारा मनको जो असहकार प्राप्त है उससे उसको अतितर दुःख, उदासीही प्राप्त होती है। उसे कुछ सूझता नहीं, उसका रंजन नहीं होता। उसे आश्रय भी प्राप्त नहीं होता। हृदयशून्य दौर्बल्य को आलिंगन देनेके समान मनकी बुरी स्थिति हो जाती है। वह विवश लाचार होकर अपनी गृहस्थी का सपना देखा करता है। वह स्वयं प्रपंच के लिए कोरी कल्पनाअें करता है। मनकी गृहस्थी की यह मनुष्यता प्रकट होती है। किंतु मनकी कोरी कल्पनाअें कभी जीवित को सफल नहीं बना सकतीं। वहाँ केवल बहिर्मुखता है। जीवन के भोगयुक्त

आमोद प्रमोद हैं। उसकी बहिर्मुखता है किंतु प्रत्यक्ष सुखकाही पता नहीं। फिर क्या दु:खही दु:ख। सुखही ला पता हो जाता है। फिर वह क्या करेगा ? आभोग उसके लिए असंभव रहता है। वहाँ आश्वासन का शब्द नहीं, आश्रय नहीं, आधार नहीं। मनकी स्थिति आत्यंतिक दुर्बल होती, दु:सह हो जाती है। मनकी विकारवशता का यह रूप है, यही उसका मार खाना है। दु:खमें दबता है। वहाँ जीवदशा की दुरवस्था है, दुर्दशा है। 'त्राहि' 'त्राहि' कहनेवाली अत्यन्त दु:खद स्थिति है। मनकी स्थिति भी अत्यंत कष्टयुक्त है। यहाँ जीवित धारणा केवल दु:खमात्र है। मन से यह कष्ट सहा नहीं जाता। और वह तडपता रहता है। अत: जहाँ मनको कष्ट नहीं होंगे ऐसा एकही स्थान है। त्रिविध तापों के कारण मनको तीव्र दु:ख प्राप्त होता है किंतु 'श्रवण' भक्तिमें उसके सभी दु:ख नष्ट हो जायेंगे। वह एक ऐसा साधन है कि जहाँ मनके कष्ट सर्वथा नष्ट होंगे। व्यक्तिगत अहंभाव का पोषण तथा मनके विकारों के कारण उसकी तडपन उन दोनोंका अभाव होनेके लिए बुद्धिकोही परमशुद्ध कराना आवश्यक है। बुद्धिका ही सुनिश्चय हो जाना चाहिए। जीवदशा की स्वाभाविकता में वासनाओं का उद्दीपन जरूर होता है, साथही उनकी तृप्ति सर्वथा हो नहीं सकती। अत: वहाँ विकारिता का एक उत्कट आवेग रहता है, आर्तता रहती है। यह ज्ञात करने के लिए बुद्धिको देहके कणकणमें व्याप्त हो जाना चाहिए। मनकी विकारिता को संयमित करना होगा और श्रवण की माधुरी

के द्वारा शुद्धबुद्धिका लय उस आत्मनिष्ठा में कराना होगा। फिर वासनाऐं अपने आप शांत होने लगती हैं। इन्द्रियों की अनियन्त्रितता मनके दुःखका प्रधान कारण है। उन्हें बुद्धिके अधीन करके श्रवणसुख के कारण जो समधात हुआ है, वह इस देहका सच्चित्स्वरूप अब आनन्दघनता का स्थान होगया। वहाँ इन्द्रियों का बोझ नहीं, वासनाओं की आर्तता नहीं, विकारोंका प्रभाव वहीं, मनका विलास नहीं। केवल मोक्षश्री का वैभव यहाँ समूचे अंतर्बाह्य जीवित को प्रसन्नता दिलाता है। यह श्रवणसुख सहजही प्राप्त हुआ है। उसका सेवन करने को उत्सुक हो जाओ। अत्यन्त अवधानपूर्वक उसके सेवन में सिद्ध रहो। फिर मोक्षकी बात कोरी कल्पना नहीं रहेगी। वह तो ऐसा कृपाप्रसाद है कि मानो मिष्टान्न का भोजनही प्राप्त हुआ हो। जब वह अनायास उपलब्ध हो गया है तो फिर वह पक्वान्न किस प्रकार तैयार किया गया! उसके लिए कौन कौनसी चिजें लगीं आदि बेकार की बातें करना अनावश्यक तथा अनुचित है। पहले तो भोजन का रसास्वाद लिया जाय। यथेच्छ भोजन का लाभ उठायें। वही परम कर्तव्य है। उसका आस्वाद लेते रहना चाहिए। जीवन में मोक्षश्री का वैभव इस प्रकार सहजसिद्ध हो गया तो फिर उसमेंही लीन हो जाना उचित है। उन सिद्धोंके द्वारा, संतसज्जनों की कृपासे यह स्वयंसिद्ध पक्वान्न प्राप्त हुआ, तो उसका आस्वाद लेनेमें संदेह क्योंकर किया जाय? न तो वे तुम्हें भोजन की सिद्धता करनेको कहेंगे। वे तो उस स्वयंसिद्ध भोजन का यथेच्छ आस्वाद लेनेकाही

आग्रह करते हैं। अतः वहीं फिर चर्चा करने में समय न गँवायें। हमें उसीमें विलीन हो जाना चाहिए। उसके आस्वाद में अपने को संतुष्ट तथा समधात कर लेना चाहिए। अतः श्रवण आवश्यक है। वह मोक्षश्री का द्वार है। उसे खुला रखा गया है क्योंकि वह श्रवण कर सके। अतः श्रवणभक्ति की साधना करते रहो ।।२२४।।

म्हणोनि आइतिया आराणुका । गीतार्थ हा निका ।
ज्ञानदेव म्हणे आइका । निवृत्तिदासु ।।२२५।।

अर्थ :- इसलिए श्री निवृत्तिदास ज्ञानदेवजी कहते हैं कि यथाशक्य शांतिसे समधातता से कल्याणमयी गीतार्थ ठीक ठीक सुनिए।

व्याख्या :- जहाँ तुम्हारी सहजही गति हो सकेगी, ऐसा यह समाधान-बोध यहाँ अनायास प्राप्त हुआ है। यह प्राप्त समाधान निःसंशय महत्त्वपूर्ण है और वह स्वयं तुम्हारी ओर आया है। अतः उसमेंही लीन होना उचित हैं। गीतारूप अमृत का यही अर्थ है, भाव है और आशय भी। तुम इसीमें डूबे रहो। श्री भगवान् परशुराम के अवतार समय जिस प्रकार उस महत् बुद्धिका अवतरण हुआ, उस ईश्वरीय साक्षात्कार का प्रत्यक्षानुभव हो सका, वैसाही वह अनन्तर श्री प्रभु रामचंद्रजी के अवतरणकाल में भी सहजसिद्ध रहा। जो पूर्ववर्ती अवतारों में था वही परवर्ती अवतारों में भी सहज प्राप्त हुआ। यह स्वभावतः सिद्ध तत्त्व हमारे सम्मुख उपस्थित है। उस महत् ब्रह्मका विशाल व्यापक तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म, परमप्रेमरूप,